निबन्धालोक

[विश्वविद्यालयीय स्तर के कुछ विशिष्ट एवं गंभीर विषयों पर सारगर्भित तथा विस्तृत आलोचनात्मक निबंध]

प्रो० राजेन्द्र शर्मा,
एम० ए०, साहित्यरत्न ।

लक्ष्मी नारायण अग्रवाल
प्रकाशक व पुस्तक विक्रेता
हॉस्पिटल रोड, आगरा ।

कृपापूर्ण सम्मति के लिए -

प्रकाशकों की भेंट

निबन्धालोक

[विश्वविद्यालयीय-स्तर के कुछ विशिष्ट एवं गंभीर विषयों पर गर्भित तथा विस्तृत आलोचनात्मक निबंध।]

लेखक—
प्रो० राजेन्द्र शर्मा, एम० ए०, साहित्यरत्न,
हिन्दी-विभाग : बलवन्त राजपूत कॉलिज, आगरा।

प्राक्कथन लेखक—
डॉ० रामविलास शर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०,
बलवन्त राजपूत कॉलिज, आगरा।
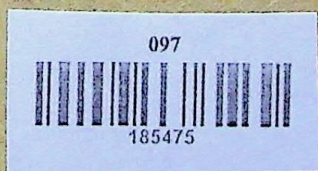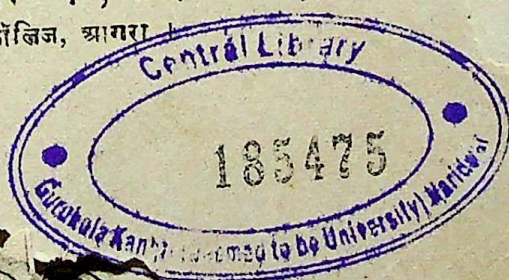
निबंध
...ाद लि...
सूझ-बूझ
इनमें स...
...ी नहीं
...ी भी
। भाषा और
है। पुस्तक हिन...
...ाम की है। जा...
चाहिये।

...लास श...

लक्ष्मी नारायण अग्रवाल
प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

[प्रथम संस्करण, फ़रवरी—१९५३]

मूल्य : चार रुपये ।

प्रकाशक :
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,
आगरा ।

मुद्रक :
मॉडर्न प्रेस,
आगरा ।

प्राक्कथन

श्री राजेन्द्र शर्मा ने ये निबंध काफी अध्ययन और परिश्रम के बाद लिखे हैं और उनमें अपनी साहित्यिक सूझ-बूझ और ुचि का परिचय दिया है। इनमें साहित्य विभिन्न रूपों का विवेचन ही नहीं है— ी साहित्य के इतिहास की भी अच्छी मिल जाती है। भाषा और शैली और प्रवाहपूर्ण है। पुस्तक हिन्दी के यों के विशेष काम की है। जानकारों ा आदर होना चाहिये।

रामविलास शर्मा।

[प्रथम संस्करण, फ़रवरी—१९५३]

मूल्य : चार रुपये ।

प्रकाशक :
लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,
आगरा ।

मुद्रक :
मॉडर्न प्रेस,
आगरा ।

प्राक्कथन

श्री राजेन्द्र शर्मा ने ये निबंध काफी अध्ययन और परिश्रम के बाद लिखे हैं और उनमें अपनी साहित्यिक सूझ-बूझ और सुरुचि का परिचय दिया है। इनमें साहित्य के विभिन्न रूपों का विवेचन ही नहीं है—हिन्दी साहित्य के इतिहास की भी अच्छी झाँकी मिल जाती है। भाषा और शैली सरल और प्रवाहपूर्ण है। पुस्तक हिन्दी के विद्यार्थियों के विशेष काम की है। जानकारों में उसका आदर होना चाहिये।

रामविलास शर्मा।

२४–२–५३।

अपनी बात

अपनी एम० ए० की परीक्षा की तैयारी करते समय निबंध-प्रश्न-पत्र के लिए कुछ उच्च स्तर की निबंध पुस्तकें खोजने का मैंने भरसक प्रयत्न किया, किन्तु व्यर्थ। मुझे एक भी पुस्तक उस समय (सन् १९५१) तक ऐसी नहीं मिली जिसमें परीक्षा में प्रायः पूछे जानेवाले विषयों में से कुछ पर भी विस्तार से विचार किया गया हो। अस्तु, निराश होकर कुछ विषय मैंने स्वयं तैयार किये। उसी समय से इच्छा हुई कि निबंध की ऐसी पुस्तक लिखी जाय जो बी० ए०, एम० ए०, साहित्यरत्न, प्रभाकर तथा अन्य उच्च कक्षा के विद्यार्थियों को कुछ सहायता दे सके। परीक्षा देने और फिर अपने ही कॉलेज में अध्यापन कार्य आरंभ करने के पश्चात् अपने इस निश्चय की बात मैं भूल सा गया। मेरे कुछ विद्यार्थी एक दिन अचानक 'प्रबंध सागर' नामक पुस्तक मेरे पास लाए और उसके सम्मान में जिस शब्दावली का प्रयोग उन्होंने किया उसका सारांश था कि वे ठग लिए गए हैं। उन्होंने पुस्तक निबंधों की संख्या देखकर ली थी जो कि १३२ थी। उस पुस्तक को पढ़ने पर उन्हें महान् निराशा इसलिए हुई कि उसमें विषयों का निरूपण इतना संक्षेप में किया गया था जो उनके लिए बिलकुल अपर्याप्त था। उदाहरण के लिए छायावाद और प्रगतिवाद जैसे निबंध उसमें तीन-चार पृष्ठों के बीच में ही समाप्त कर दिए गए थे, उसमें भी अंतिम आधे पृष्ठ में पूरे निबंध को 'संक्षिप्त रूप-रेखा' के रूप में पुनः दुहरा दिया गया था। विषय-वस्तु के सम्बन्ध में विद्यार्थियों का मत था—"इससे तो विषय स्पष्ट होने के स्थान पर हम भ्रम में और पड़ जाते हैं।" उत्सुकतावश पुस्तक विद्यार्थियों से मैंने पढ़ने के लिए ले ली। पढ़ने के पश्चात मैंने विद्यार्थियों की आलोचना को निराधार नहीं पाया। भ्रमपूर्ण बातों तथा विरोधी कथनों की भी मुझे उसमें कमी नहीं मिली। उदाहरण के लिए 'प्रगतिवाद' लेख में जिन कवियों को रूस से प्रभावित बताया गया है—उनमें से 'दिनकर' भी एक हैं। पता नहीं 'दिनकर' किस अर्थ में रूस से प्रभावित हैं। उनकी 'सामधेनी' में भारत और रूस का अन्तर मास्को और दिल्ली के रूप में प्रकट होता है।

उनकी निम्नांकित पंक्तियाँ मेरी बात का समर्थन करेंगी—

"चिल्लाते हैं विश्व विश्व कह जहाँ चतुर नर ज्ञानी
बुद्धि भीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी
जहाँ मास्को के रणवीरों के गुण गाए जाते
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।"

पुस्तक लेखकों ने सम्भवतः 'दिनकर' के काव्य में क्रांति की भावना या 'क्रांति' का शब्द बारबार देखकर उसे रूस का प्रभाव समझ लिया है। ऐसे चिन्तन के आधार पर यदि सन् १८५७ के प्रसिद्ध सैनिक विद्रोह तथा झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई को रूस से प्रभावित समझ लिया जाय तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। मैं समझता हूँ देश और काल से परे क्रांति की भावना किसी देश विशेष की पैतृक सम्पत्ति नहीं है।

"प्रगतिवादी कवियों में साम्यवाद की प्रधानता है"–लेखक मानते हैं। वे 'पन्त' को प्रगतिवादी भी मानते हैं और यह भी कहते हैं कि 'पन्त' उन कवियों में से हैं "जो अपनी रचनाओं में संयम, शांति, प्रेम, उन्नति, निर्माण और आशा का पाठ पढ़ाते हैं।" हो सकता हैं लेखकों ने 'पन्तजी' की कुछ अप्रकाशित रचनायें पढ़कर उपरोक्त विचार बनाया हो। मेरा विचार है 'पन्त' में न शांति की भावना हैं न क्रान्ति की ; उनकी रचनाओं में सब से तीखा स्वर पलायनवाद का है जिसके सामने उनके अन्य सभी स्वर दब गए हैं ; पलायनवाद ही उनका अन्तिम आश्रय स्थान है। 'पन्त' वस्तुतः पलायनवादी है। अतः उनको प्रगतिवादी मानने का भ्रम जितना शीघ्र दूर हो जाय उतना ही अच्छा।

लेख के लगभग आरम्भ में 'प्रगतिवाद' के प्रति जिस शब्दावली का प्रयोग किया गया है उसका नमूना देखिए—"प्रगतिवाद के अन्दर हमें उस साहित्य की झलक मिलती है जिसमें मानवीय प्रवृत्तियों का पूरा पूरा सन्निवेश हो। इसमें जीवन के लौकिक तथ्यों का यथार्थ चित्रण होता है हिन्दी साहित्य में यह धारा नवीन होते हुए भी प्रगति की ओर अग्रसर है। जीवन प्रगति का नाम है और यदि जीवन में प्रगति नहीं है तो जीवन जीवन ही नहीं रहता। वस्तु जगत से मुँह मोड़कर स्वप्न या आध्यात्म की ओर दौड़ना प्रगतिवाद के सर्वथा विरुद्ध है। प्रगतिवाद चाहता है जीवन में साम्य हो, समाज में साम्य हो, राजनीति में साम्य हो। पुरातन रूढ़िवाद नष्ट करके प्रगतिवाद नवीन मानवता का निर्माण करना चाहता है। वहाँ बड़े-छोटे का भेद-भाव नहीं है, धनवान और निर्धन का भेद नहीं है। वहाँ मानव-मानव के बीच किसी प्रकार का अन्तर ही नहीं माना जाता है। इस साहित्य में शोषक वर्ग का विरोध और शोषित वर्ग के प्रति साहित्यकार की सहानुभूति होती है।"

लेख का आरम्भ स्तुति से हुआ था और लेखक के अभिशाप में उसका उपसंहार देखिए या उसे 'वदतोव्याघात' दोष का उत्कृष्ट उदाहरण मान लीजिए—

"प्रगतिवादी धारा के अन्तर्गत जिस साहित्य की अभी तक रचना हुई है उसे बहुत उच्चकोटि के साहित्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। न तो उसमें साहित्यिक सौंदर्य ही आ गया है और न भावों की कोमलता ही। कवि 'पंत' यदि साहित्य में अमर होगा तो 'ग्राम्या' के कारण नहीं होगा 'पल्लव' के कारण होगा। प्रगतिशील साहित्य का सृजन समाज और देश के निर्माण के लिए होना चाहिए, न कि जो कुछ बना हुआ है उसे भी किसी विदेशी प्रभाव में पड़कर अपनी विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया जाए। ऐसा करने से देश का कल्याण न होकर अहित ही होगा। इसका उत्तरदायित्व लेखकों के ऊपर है। उन्हें अपना कर्तव्य देश और समाज के प्रति समझना है। केवल "भावनाओं और समय की प्रगतियों" में बहकर ऐसे साहित्य का निर्माण करना उनका लक्ष्य नहीं होना चाहिये जिससे देश और समाज का पतन हो। प्रगतिवाद उचित मार्ग पर ही चलकर अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। वर्तमान प्रगतिवाद के साहित्य से हमें देश और समाज के हित की बहुत कम सम्भावना है।"

यह ध्यान देने की बात है कि मैंने ऊपर जो दो पैराग्राफ (अनुच्छेद) उद्धृत किये हैं–वे पूरे लेख का आधा भाग यथावत् प्रस्तुत करते हैं। जब आधे लेख में स्तुति और स्वयं उसका खण्डन है तो शेष लेख में क्या क्या होगा? प्रगतिवाद शब्द की परिभाषा होग

या उसका इतिहास होगा या उसकी विशेषतायें होंगी ? यह सहज कल्पनीय है।

प्रगतिवाद पर फ्रॉयडवाद के आरोप का उत्तर मैंने अपने लेख में दिया है। मेरा यह विचार भी नहीं है कि प्रगतिवाद एक फैशन है। इसका विश्लेषण भी मेरे 'प्रगतिवाद' लेख में मिलेगा।

उक्त पुस्तक का 'छायावाद' लेख डॉ० रामरतन भटनागर की 'छायावाद' पुस्तक के ९९, १०० और १०१ वें पृष्ठ का क्रमविहीन सारांशमात्र है। डॉ० रामरतन भटनागर ने स्वयं जिस विषय को २४५ पृष्ठ में स्पष्ट किया है तो उक्त पुस्तक के तीन पृष्ठों का सारांश उस विषय का क्या स्पष्ट चित्र विद्यार्थियों को समक्ष रखेगा समझ में नहीं आता ?

मेरा उद्देश्य पुस्तक की विस्तृत आलोचना करना नहीं है—यहाँ न उसका अवकाश है और न आवश्यकता ही। मेरा उद्देश्य तो पाठकों का ध्यान एक विशेष कमी की ओर आकर्षित करना है। 'प्रबन्ध सागर' उथलेपन में आज की अधिकांश निबन्ध पुस्तकों का प्रतिनिधित्व करता है।

यदि मैं यह कहूँ कि प्रस्तुत पुस्तक लिखने की प्रेरणा बहुत कुछ मुझे उपरोक्त (प्रबन्ध सागर) पुस्तक से भी मिली है तो यह व्यंग्य नहीं है। इसलिये उक्त पुस्तक लेखकों का आभार स्वीकार करना केवल शिष्टाचार ही नहीं है।

यह पुस्तक बी० ए० और एम० ए० के परीक्षार्थियों के अतिरिक्त 'प्रभाकर', 'विशारद', साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, विदुषी, सरस्वती आदि परीक्षाओं के लिए भी समान उपयोगी है। बी० ए० के निबन्ध-प्रश्न-पत्र के अतिरिक्त गद्य और पद्य के प्रश्न-पत्र से सम्बन्धित निबन्ध भी इसमें हैं। जैसे नाटक, उपन्यास, कहानी आदि का इतिहास-सारांश यह कि बी० ए० के शेष प्रश्न-पत्रों के लिए भी यह समानरूप से उपयोगी है।

बी० ए०, एम० ए० या साहित्यरत्न आदि को ध्यान में रखकर मैंने निबन्धों को यथा आवश्यकता उद्धरण देते हुए विस्तारपूर्वक लिखा है। मेरा विश्वास है कि परीक्षा में लिखने के लिए इस पुस्तक में दिये हुए विषयों पर और अधिक पढ़ना परीक्षा की दृष्टि से आवश्यक नहीं है। मेरे विद्यार्थी यदि विद्यार्थी समाज की समस्याओं का प्रतिनिधित्व करते हैं तो उनका तो कथन है कि लेख इतने लम्बे विश्लेषणपूर्ण तथा विषय को पूरी तरह ढकते हुए हों कि परीक्षा के लिए और कुछ पढ़ने की आवश्यकता ही न रहे। विद्यार्थी एक ही विषय की कई पुस्तकें नहीं क्रय कर सकते इसलिए मैंने प्रयत्न यह किया है कि अपने विषयों पर मेरी पुस्तक उनकी इस कठिनाई को दूर करदे।

मेरे मतानुसार निबंध की पुस्तक का उद्देश्य शैली का उत्कृष्ट उदाहरण विद्यार्थियों के समक्ष रखना है न कि लेखों की भारी भरकम संख्या के द्वारा उनको व्यर्थ में आकर्षित करना तथा उनके श्रम, समय तथा सम्पत्ति का दुरुपयोग कराना। विषय के साथ-साथ अपने इन निबंधों में मैं शैली के विषय में सतत सचेत रहा हूँ।

प्रस्तुत लेखों को मौलिक बताने का का दम्भ मैं नहीं करता। मौलिकता की दृष्टि से ये लिखे भी नहीं गए हैं। विद्यार्थियों के उपयोग के लिए विभिन्न पुस्तकों से मैंने तथ्य लिये हैं ; उनको व्यवस्थितरूप में अपने मनन के माध्यम से भाषा का रूप भर देने का कार्य मैंने किया है। अतः जिन लेखकों की कृतियों से मुझे सहायता मिली है, उनके प्रति

आभार प्रकट न करना साहित्यिक कृघ्नता होगी ।

इस पुस्तक के लिए मैं विशेषरूप से अपने विद्यार्थियों का भी आभारी हूँ जिनके सतत अनुरोध के कारण मैं इसे पूर्ण कर सका। अपने अभिन्न मित्र श्री राजनारायण अग्रवाल के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन भी केवल शिष्टाचार की पूर्तिमात्र नहीं है जिनके प्रेमाग्रहों ने मुझे यह पुस्तक लिखने के लिए विवश कर दिया। यदि उनके सतत आग्रहों का कशाघात मेरे आलस्य भूत को न भगा देता तो शायद स्वस्थ चित्त के अभाव में मैं इसे इतना शीघ्र पूर्ण न कर पाता।

विद्यार्थियों से मेरा अनुरोध है कि अपने सहज स्वभाववश सदा की तरह इस पुस्तक की भी भूमिका की उपेक्षा न करें क्योंकि वह नाममात्र की भूमिका है, वास्तव में वह एक स्वतंत्र निबंध है जो परीक्षा में आनेवाले दो प्रश्नों का उत्तर उदरस्थ किए है; १—हिन्दी गद्य का विकास तथा २—निबंधों का वर्गीकरण।

आशा है, विद्यार्थी मेरी प्रार्थना को गंभीरतापूर्वक लेंगे।

अन्त में अपने उदार पाठकों से मेरा निवेदन है कि इसमें जो कमियाँ पायें कृपाकर मुझे उनसे सूचित कर दें जिससे अगले संस्करण में उनका परिहार सम्भव हो सके।

यदि विद्यार्थी समाज का इस पुस्तक से कुछ भी उपकार हुआ--तथा उनकी कठिनाइयाँ कुछ भी कम हुईं, तो मैं अपने इस प्रयत्न को सार्थक समझूँगा।

—राजेन्द्र शर्मा।

बलवन्त राजपूत कॉलिज,
आगरा।
१—१—५३]

भूमिका

(हिन्दी गद्य का विकास)

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'—यह कथन बिलकुल सच है क्योंकि गद्य लिखने में लेखक की योग्यता की परीक्षा हो जाती है। कविता में तो व्याकरण से मुक्त रहने के कारण इतना डर नहीं रहता क्योंकि आचार्यों ने कवियों के पक्ष में लिख दिया है कि कवियों को तार्किक और वैयाकरणों से दूर रहना चाहिये। इसलिये कवि लोग तार्किक और वैयाकरणों के आलोचना-कुठार के डर से निश्चित रहते हैं—रह सकते हैं किन्तु तार्किक और वैयाकरणों की गिद्धदृष्टि गद्य लेखकों पर सदैव जमी रहती है। इसलिए साधारणतः गद्य लिखना ही कठिन काम है किन्तु गद्य में भी निबन्ध लिखना विशेषरूप से कठिन कार्य है क्योंकि एक वाक्य और कभी-कभी एक शब्द का भी व्यर्थ प्रयोग निबन्ध सौष्ठव में कलंक बन कर चमकने लगता है।

हिन्दी गद्य का इतिहास पद्य की भाँति प्राचीन नहीं है। विश्व की सभी भाषाओं में गद्य-साहित्य का सृजन पद्य-साहित्य के बाद हुआ है। हिन्दी-साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है।

हिन्दी गद्य के आदि ग्रंथ जो खोजने पर मिले हैं, वे १४ वीं शताब्दी में लिखे हुए ठहरते हैं। उनके विषय को देखने पर वे हठयोग तथा ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी प्रतीत होते हैं। हम इसे गोरखपन्थी साहित्य कह सकते हैं। इस काल की भाषा का उदाहरण देखिए—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। है कैसे परमानन्द आनन्द स्वरूप हैं सरीर जिनको जिन्ह के नित्य गाएतें सरीर चेतन्नि अरु आनन्द मय होतु है। मैं जुहौं गोरिस सो मछन्दरनाथ को दण्डवत करत हौं है कैसे वे मछन्दरनाथ? आत्मज्योति निश्चल है अन्तहकरन जिनके अरु मूल द्वार तें छह चक्र जिनि नीकी तरह जानें।"
ब्रजभाषा का यह गद्य १४ वीं शताब्दी के लगभग का है। इसके पश्चात् कुछ गद्य ग्रंथ कृष्ण भक्तिशाखा के अन्तर्गत लिखे गये मिलते हैं। 'शृङ्गार-रस मंडन' नामक एक ग्रंथ है जो बल्लभाचार्य के पुत्र बिट्ठलनाथ द्वारा लिखा हुआ बताया जाता है। इसके अतिरिक्त बल्लभ सम्प्रदाय में गद्य के दो ग्रंथ और मिलते हैं; १—चौरासी वैष्णवों की वार्ता (यह ग्रंथ बिट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथजी का लिखा बताया जाता है यद्यपि इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है) २—दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता (यह पुस्तक कुछ बाद में लिखी गई प्रतीत होती है क्योंकि इसमें उर्दू, फ़ारसी के शब्दों का पर्याप्त प्रयोग

मिलता है। भाषा में पण्डिताऊपन की छाप भी स्पष्ट है। भाषा में विश्लेषण शक्ति का सर्वथा अभाव है।

इसके पश्चात नाभादास कृत 'अष्टयाम' नामक पुस्तक मिलती है। इस पुस्तक में राम की दिनचर्या का वर्णन है अतः यह पुस्तक भी धार्मिक है।

दो और पुस्तकें व्रजभाषा गद्य में मिलती हैं; १—अगहन महात्म्य २—वैशाख महात्म्य। लेखक हैं वैकुण्ठमणि शुक्ल। ये तत्कालीन ओरछा नरेश जसवन्तसिंह के आश्रित थे।

किसी अज्ञात लेखक द्वारा लिखित 'नासिकेतोपाख्यान' नामक पुस्तक का और पता चला है। रचना काल है—संवत् १७६० के लगभग।

सूरत मिश्र की लिखी हुई व्रजभाषा गद्य की 'वैतालपचीसी' नामक पुस्तक है जिसका रचना-काल संवत् १७६७ है। इसी प्रकार एक दूसरी पुस्तक 'आईनाअकबरी की भाषा' नामक है जिसके लेखक हैं कोई लाला हीरालाल। भाषा में उर्दू शब्दों का बाहुल्य है। बादशाह की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा भी इसमें है।

व्रजभाषा का गद्य न तो परिष्कृत है और न भावों का विश्लेषण करने में समर्थ। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ने इस दिशा में विशेष ध्यान देने का कष्ट भी नहीं किया। व्रजभाषा पद्य की भाषा हो गई थी। पद्य में ही उसकी अभिव्यंजना शक्ति प्रखर थी गद्य में नहीं। यदि प्रयत्न किया जाता तो व्रजभाषा का गद्य संतोषजनक रूप में पनप सकता था क्योंकि उसके आरम्भिक ग्रंथों में ही आशा के अंकुर मिलते हैं किन्तु परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी थीं कि उनमें गद्य का विकास सम्भव भी नहीं था।

१८ वीं शताब्दी में कुछ टीकायें व्रजभाषा गद्य में लिखी मिलती हैं किन्तु उनकी भाषा इतनी अस्पष्ट और अविकसित है कि वे मूल से भी अधिक क्लिष्ट और अस्पष्ट प्रतीत होती हैं। वास्तव में पद्य की भाषा के रूप में व्रजभाषा इतनी अधिक सम्मानित हो चुकी थी कि प्रतिभाशाली व्यक्ति जब व्रजभाषा में लिखते थे तो पद्य में ही लिखते थे। (इस स्थिति का कुछ अनुमान आज भी इस प्रकार किया जा सकता है कि यहाँ जब कोई अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की वस्तु लिखता है तो अंग्रेजी में लिखना पसन्द करता है। फलस्वरूप हिन्दी प्रतिभाशाली व्यक्तियों की सेवा से वंचित ही रह जाती है।) फल यह हुआ व्रजभाषा गद्य सदैव उपेक्षा भरी दृष्टि से देखा जाता रहा; फलस्वरूप वह अविकसित, अपरिष्कृत तथा व्यंजनाहीन रह गया। भावों को अभिव्यक्त करने की उसकी शक्ति उतनी ही कम हो गई जितनी व्रजभाषा पद्य की बढ़ गई। १८ वीं शता०ब्दी ग० टीका की भाषा के कुछ उदाहरण देना आवश्यक है जिससे उसका उत्तरोत्तर ह्रास स्पष्ट हो सके—

शृंगार शतक की मूल प्रवृत्तियाँ हैं—

उन्मत्त प्रेम संरम्भादालभन्ते यदंगना।
तत्र प्रत्यूह माधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः॥

व्रजभाषा गद्य में इसकी टीका इस प्रकार दी है—अंगनाजु है स्त्री सुप्रेम के अति आवेस करि। जु कार्य करना चहति है ता कार्य विषै। ब्रह्माऊ। प्रत्यूहं आधातुं।

अन्तराउ कवि कहं कातर काइस है। काइस कहावै असमर्थ । जु कछु स्त्री करयौ चाहैं सु अवश्य करहिं। ताको अन्तराउ ब्रह्मा पहं न धरयौ जाइ और की कितोक बात।"

स्पष्ट है कि टीका स्वयं मूल से भी अधिक अस्पष्ट है।

इसी प्रकार का एक और उदाहरण देखिए--

"—रावव शर जावव गति छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़ि कै गयो॥"

टीका है —सबल कहैं अनेक रंग मिश्रित हैं, अंसु कहैं किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं तिन सहित मानो कालिंद गिरि शृंग तें हंस कहैं हंस समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाति विषै एक वचन है। हंसन के सदृश श्वेत छत्र है और सूर्यन के सदृश अनेक रंग नग जटित मुकुट है।"

ब्रजभाषा के गद्य का जन्म ऐसा प्रतीत होता है कि शुभ घड़ी में नहीं हुआ था क्योंकि उसका रूप और स्वास्थ्य जन्म के समय भी जितना अच्छा था बाद में उतना भी नहीं रहा। जन्म के तुरन्त पश्चात् ही जिसके जीवन का ह्रास आरम्भ हो गया हो भविष्य उसके लिए न तो आशा का विषय हो सकता है और न हर्ष का। जन्म से ही रुग्ण यह साहित्य-शिशु (ब्रजभाषा गद्य) अधिक दिनों तक जीवित न रह सका। ब्रजभाषा के गद्य के इस ह्रास से खड़ीबोली गद्य को बड़ा बल मिला । दो ऐसे कारण थे जिन्होंने खड़ीबोली गद्य के मूल तो साहित्य में गहरे प्रतिष्ठित कर दिये और ब्रजभाषा गद्य का मूलोच्छेदन कर दिया; १--खड़ीबोली गद्य युगानुकूल था २--तत्कालीन मुसलमान राजाओं ने आश्रय देकर उसका पालन-पोषण किया।

खड़ीबोली गद्य का साहित्य क्षेत्र में अचानक विस्फोट नहीं हुआ था। वह बहुत पहले से शक्ति संचय करने में लगा था। गंग कवि की 'चंद छंद बरनन की महिमा' खड़ीबोली गद्य की आदि पुस्तक बताई जाती है। इस पुस्तक के गद्य के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा कि विकास के अंकुर उसमें आरम्भ से ही वर्तमान हैं --

"सिद्धि श्री १०८ श्री पातसाहजी, श्री दलपतजी आमखास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे और आमखास भरने लगा है, जिसमें तमाम उमराव आइ आइ कुर्निश बजाइ जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसिलसे। जिनकी बैठक नहीं सो रेशम के रस्से में रेशम की लूंयें पकड़ पकड़ के खड़े ताजीम में रहें। इतना सुनिके पातसाहजी श्री अकबरसाहजी आध सेर सोना नहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया । रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।"

इस उद्धरण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि खड़ीबोली गद्य और ब्रजभाषा गद्य की वाक्य-रचना तथा शैली में मौलिक अन्तर है। ब्रजभाषा आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत से शब्द लेती है और खड़ीबोली उर्दू से । मुसलमान राजाओं ने खड़ीबोली को अपने अनुकूल पाया और उसको अरबी, फ़ारसी शब्दों से भरना प्रारम्भ कर दिया। बाद में अपनी इसी शैली की विशिष्टता के कारण यह 'उर्दू' नाम से अभिहित हुई— यह सोचना अयुक्ति युक्त होगा कि खड़ीबोली को मुसलमान अपने साथ लाए थे वह

तो यहीं की उतनी ही प्राचीन बोली थी जितनी ब्रजभाषा। खड़ीबोली का आरम्भिक रूप अपभ्रंश भाषाओं तक में मिलता है देखिए —

भल्ला हुआ जु मारिया बाहिणि म्हारा कंत।
लज्जेजं तु वयंसि अहि जय भग्गा घर अंतु॥

'भल्ला', 'हुआ', 'मारिया' शब्द आधुनिक खड़ीबोली के पूर्वज हैं। खड़ीबोली के मूल भारतीय भाषाओं में उतने ही गहरे हैं जितने ब्रजभाषा या अन्य किसी भाषा के।

गंग की पुस्तक के पश्चात् संवत् १७९८ में लिखी रामप्रसाद निरञ्जनी की 'योग वाशिष्ठ' नामक पुस्तक मिलती है। इस पुस्तक की भाषा खड़ीबोली का बड़ा ही उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करती है। इसकी भाषा से खड़ीबोली की आश्चर्यजनक प्रगति पर प्रकाश पड़ता है। देखिए —

"प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं,××××जिस आनन्द के समुद्र के कण से सम्पूर्ण विश्व आनन्दमय है जिस आनन्द से सब जीते हैं। अगस्तजी के शिष्य सुतीक्ष्ण के मन में एक संदेह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवान! आप सब तत्वों और शास्त्रों को जाननहारे हो मेरे एक संदेह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान अथवा दोनों हैं समझाइके कहो।"

'जानन हारे' तथा 'समझाइ' दो एक ब्रजभाषा के शब्दों के प्रयोग को छोड़कर उपरोक्त उद्धरण हिन्दी का अत्यन्त आधुनिक रूप प्रस्तुत करता है। संवत् १७९८ को देखते हुए यह गद्य आश्चर्यजनक रूप से प्रौढ़, परिष्कृत तथा आधुनिक है।

इसके पश्चात् पं० दौलतराम द्वारा सं० १८१८ में हरिषेणाचार्य के जैनपद्म पुराण का ७०० पृष्ठों में किया हुआ हिन्दी अनुवाद मिलता है। इतना कहना आवश्यक है रामप्रसाद निरञ्जनी की भाषा को देखते हुए इस बीच में खड़ीबोली गद्य ने अधिक प्रगति नहीं की।

ईसाई लोग जब भारतवर्ष में आए तो उन्हें अपने धर्मप्रचार के लिये एक भाषा की आवश्यकता पड़ी। इसके लिए उन्होंने हिन्दी को चुना। इन्होंने बाइबिल का हिन्दी में अनुवाद कराया तथा अपना सम्पूर्ण प्रचार-साहित्य हिन्दी में ही प्रकाशित किया। साइयों ने भारतवर्ष में लोगों को धर्मभ्रष्ट करने का जो पाप किया था उसका थोड़ा बहुत प्रायश्चित शायद हिन्दी-प्रचार के पुण्य कार्य से हो गया होगा।

खड़ीबोली गद्य को एक निश्चित और व्यवस्थितरूप देनेवाले चार आचार्य माने जाते हैं:—१—सदासुखलाल, २—इंशाअल्लाखाँ, ३—लल्लूलाल, ४—सदलमिश्र।

सदासुखलाल—धार्मिक व्यक्ति थे जो कुछ लिखते थे स्वांतः सुखाय लिखते थे। शेष तीनों व्यक्तियों से इनका महत्व इसलिए अधिक है कि बिना किसी के आश्रय में रहे तथा बिना किसी के कहे सुने इन्होंने हिन्दी लिखी। भाषा की दृष्टि से अपने काल के लेखकों में ये शीर्षस्थान के अधिकारी हैं। इनकी भाषा का उदाहरण देखिए—

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं। आरोपित उपाधि है। क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चाण्डाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चाण्डाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से लोग हमें नास्तिक कहेंगे। जो बात सत्य होइ उसे कहा चाहिए कोई बुरा माने कि भला।"

इंशाअल्लाखाँ—ये हिन्दी को संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के प्रभाव से मुक्त रखना चाहते थे और किसी बोली का पुट इन्हें हिन्दी में अच्छा नहीं लगता था। आपने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। उसकी भाषा का उदाहरण देखिये—

"जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन भादों के रूप रोने लगी। और दोनों के जी में यह आगई—यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा।"

लल्लूलाल जी—आगरा के रहनेवाले थे। जॉन गगिल क्राइस्ट के आदेश से प्रेमसागर की रचना की। प्रेमसागर में भागवत के दशम अध्याय की कथा हिन्दी में लिखी गई है। लल्लूलालजी की भाषा में पंडिताऊपन अधिक है। उदाहरण लीजिए—

"इतना कह महादेवजी गिरिजा को साथ ले गंगा तीर पर जाइ नीर में न्हाइ न्हिलाइ अति लाड़ प्यार से लगे पार्वतीजी को वस्त्र आभूषण पहिराने। निदान अति आनन्द में मग्न हो डमरू बजाइ बजाइ, तांडव नाच नाच संगीत शास्त्र की रीति से गाइ गाइ लगे रिझाने।"

सदलमिश्र—इनके द्वारा लिखी 'नासिकेतोपाख्यान' नामक पुस्तक मिलती है। फोर्टविलियम कॉलेज के अधिकारियों की प्रेरणा से मिश्रजी ने हिन्दी लिखना प्रारम्भ किया। मिश्रजी की भाषा में पूर्वीपन स्पष्ट है। भाषा का उदाहरण—

"इस प्रकार से नासिकेतु मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन करि फिर जौन जौन कर्म किए जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता, पिता, मित्र, पालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इनका जो वध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं।"

इसके पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का हिन्दी में आविर्भाव हुआ।

राजा शिवप्रसाद ने 'राजा भोज का सपना' तथा 'कंजूस का घोड़ा' आदि रचनायें लिखीं। आरम्भ में इनकी हिन्दी संस्कृतगर्भित मिलती है परन्तु बाद में पता नहीं क्यों इनकी शैली उर्दू-फ़ारसी शब्दों से भर उठी।

राजा लक्ष्मणसिंह—शैली में शिवप्रसाद के विपरीत, संस्कृतगर्भित भाषा के पक्षपाती थे और उर्दू-फ़ारसी शब्दों के बहिष्कार की प्रवृत्ति इनमें मिलती है। इनके 'शकुन्तला नाटक' (अनुवादित) हिन्दी की प्रसिद्ध पुस्तक है।

इसके पश्चात् हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आविर्भाव होता है और हिन्दी के अपूर्ण और अविकसित विषयों की पूर्ति का युग आता है।

(निबंधों के लिए देखिए—इसी पुस्तक का 'निबंध-साहित्य का इतिहास' नामक निबंध। अब यहाँ निबंध के शास्त्रीय पक्ष पर कुछ विचार किया जाय।

निबंध क्या है ?—निबंध शब्द से साहित्य के जिस अंग का बोध होता है वह उस रूप में संस्कृत काल में नहीं मिलता। इसलिए हिन्दी का निबंध साहित्य अपनी परम्परा के लिए संस्कृत साहित्य का ऋणी न होकर अपने जन्म, रूपग्रहण, तथा विशिष्टताओं के लिए अंग्रेजी भाषा का ऋणी है। हिन्दी निबंध का वर्तमान रूप अंग्रेजी Essay से प्रभावित है। निबंध शब्द का अर्थ है 'बँधा हुआ'। लेखक जहाँ अपने विचारों को बँधे हुए व्यवस्थित रूप में रखता है, वही निबंध है। किसी विषय पर निबंध लिखने से पूर्व दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :—

१—जिस विषय पर निबंध लिखना हो उसका विभाजन कर लिया जाय जिससे लेख पुनरावृत्ति के दोष से बच सके।

२—जो कुछ कहा जाय वह आकर्षक और चमत्कारयुक्त भाषा में कहा जाय।

पृथ्वी और आकाश के बीच की कोई भी वस्तु निबंध का विषय हो सकती है। निबंध अपने सुन्दर गठन और रोचकता के कारण कभी-कभी कहानी की सीमा का स्पर्श करने लगता है किन्तु कहानी और लेख में मौलिक अन्तर है; इतना तो स्पष्ट है। कहानी में विचार घटनाओं के सेवक के रूप में आता है निबंध में विचार स्वामी होता है और शेष सभी तत्व उसके सेवक और सहायक होते हैं। किन्तु विचारतत्व निबंध में दर्शन की भाँति सन्यासी (विरक्त, वैभवहीन) बनकर नहीं आता अपितु अपने पूरे वैभव में—पूर्ण आकर्षक रूप में आता है। कहानी में पात्रों की कल्पित स्थिति तथा कल्पना का जो अवाध प्रयोग होता है निबंध में उसका भी अभाव होता है। संक्षेप में कह सकते हैं निबन्ध यदि विचारोत्तेजक होता है तो कहानी भावोत्तेजक। दोनों का कार्यक्षेत्र भी मूलतः भिन्न है। कहानी विचारों का प्रचार भावों के माध्यम से करती है और निबंध विचारों के द्वारा भावों को परिष्कृत, संयत और समयानुकूल बनाता है। निबंध विश्लेषण की पैनीधार से वस्तुओं (समस्याओं) को खंड-खंड करके देखता है अतः वह विश्लेषण प्रधान है। कहानी विभिन्न वस्तुओं को संयुक्त करके सृजनात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करती है। कहानी के लिए घटना अनिवार्य है—निबंध के लिए विचार।

'उत्सुकता' कहानी के मुख्य तत्वों में से है। लेख में भी उसका समावेश किया जा सकता है। लेख का आरम्भ भी कहानी की भाँति उत्सुकतापूर्ण एवं अप्रत्याशित हो सकता है लेख का प्रत्येक वाक्य पाठक की उत्सुकता को जागृत रख सकता है तथा रोचक हो सकता है। कहानी और निबंध की समस्यायें भी समान हो सकती हैं। सबसे बड़ा अन्तर शैली का है—अभिव्यक्ति के प्रकार का है। विषय एक होते हुए भी उसे प्रतिपादित करने का ढंग उनमें अन्तर कर देता है।

आज निबंध कहानी और उपन्यास की भाँति साहित्य का एक विशिष्ट अंग है, स्वतन्त्र अंग है। वह किसी का पूरक नहीं है अपितु अपने आप में पूर्ण है। जिस प्रकार उपन्यास के एक परिच्छेद को कहानी नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार उसे निबंध भी नहीं कह सकते।

किन्तु साहित्य में होनेवाले नए-नए प्रयोग नित्य नवीन सत्यों का उद्घाटन करते जा रहे हैं। आज लेखक अपने विचारों को अधिकाधिक आकर्षक रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। आज का कहानीकार भी नहीं चाहता कि उसकी कहानी केवल

मनोरंजन, मानसिक विलास, की घटिया सामग्री बन कर रह जाय। वह उसमें मनोरंजन के तत्व के साथ अधिक से अधिक विचार या मनन का तत्व रखना चाहता है। पता नहीं ये प्रवृत्तियाँ भविष्य में इन विशिष्ट अंगों को क्या रूप दे दें। आज के साहित्यिक-जगत में कहानी और निबंध की रूप ग्रहण विषयक प्रतिद्वंद्विता अत्यधिक स्पष्ट है। कहानी निबंधों के विचार वैभव को अपनी सम्पत्ति बनाना चाहती है और निबंध कहानी की कथात्मकता, भावात्मकता तथा आकर्षण को हरण करने की घात में है।

सुविधा के लिए हम निबंधों का वर्गीकरण निम्नांकित रूप में कर सकते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि यह वर्गीकरण तात्विक नहीं है, केवल व्यावहारिक है क्योंकि प्रत्येक निबंध में वर्णन, विचार, भाव तथा कथा का अंश रहता है इसलिए विभाजन किसी तत्व विशेष की प्रधानता के आधार पर ही किया जा सकता है। विद्वानों ने निबंधों को चार प्रकारों में बाँट दिया है:—

१—वर्णनात्मक, २—विचारात्मक, ३—भावात्मक, ४—कथात्मक।

१—वर्णनात्मक—इस प्रकार के लेख में लेखक का उद्देश्य किसी वस्तु या व्यापार का वर्णन करना होता है। इस प्रकार का निबन्ध Informative अर्थात् सूचना प्रधान होने के लिये विवश है। वर्णनात्मक निबन्धों का अपेक्षाकृत नीरस होना भी स्वाभाविक है क्योंकि इस प्रकार के निबन्धों में भावात्मकता का अभाव होने के कारण उन्हें केवल भाषा चमत्कार-प्रधान ही बनाया जा सकता है। इस प्रकार के लेखों में जिन विषयों का वर्णन होता है, आवश्यक नहीं कि पाठक उन सबसे पूर्वपरिचित हो। अतः लेखक का कार्य ऐसे लेखों में यह होता है कि वह अपने विषय का ऐसा साङ्गोपाङ्ग वर्णन करे कि पाठक को विषय का अधिकतम संभव ज्ञान वर्णित वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखे बिना ही हो सके। इस प्रकार के लेखों में लेखक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह उन्हीं बातों की चर्चा अपने लेखों में करे जो अत्यावश्यक हैं। शुक्लजी ने इसे ही उपलक्षण पद्धति कहा है अर्थात अपने अनुभव से लेखक उन बातों को चुनले जिनके वर्णन से पाठक की आँखों के सामने विषय साकार हो उठे—उसका एक स्पष्ट चित्र पाठक अपने मानसपटल पर बना सके। इसलिये इस प्रकार के लेख लिखने में सफलता प्राप्त करने के लिए (१) सूक्ष्म निरीक्षण तथा (२) भाषा पर असाधारण अधिकार--ये दोनों ही बातें लेखक के लिये अत्यावश्यक है।

२—विचारात्मक निबन्ध—विचारात्मक निबन्ध का विषय प्रायः समस्या ही होती हैं। चाहे फिर वे राजनैतिक हों, सामाजिक हो, धार्मिक हों या साहित्यिक हों। लेखक का उन समस्याओं पर अपने दृष्टिकोण से मनन करता है और तर्क-युक्त भाषा, में उन्हें इस प्रकार रखना चाहता है कि पाठक उससे सहमत हो जाय कोई भी गहन विषय, सीधी सादी भाषा में आसानी से नहीं रखा जा सकता। इसलिये विचारात्मक निबन्धों की भाषा क्लिष्ट होने के लिए विवश है। विचारात्मक निबन्ध अपने विषय वैशिष्ट्य के कारण जन-साधारण के लिए न होकर कुछ ही व्यक्तियों के लिये होते हैं इसलिए उनका गम्भीर होना भी अत्यन्त स्वाभाविक

है। विचारात्मक निबन्ध विश्लेषण-प्रधान होते हैं और भावुकता के तत्व का उनमें प्रायः अभाव रहता है इसलिये वे अपेक्षाकृत नीरस भी होते हैं। विचारात्मक निबन्धों की भाषा बड़ी नपीतुली होती है क्योंकि एक शब्द का भ्रमपूर्ण प्रयोग पूरे निबन्ध के भाव-सौन्दर्य को नष्ट कर सकता है। इसलिये ऐसे निबन्धों में पारिभाषिक शब्दों में एकरूपता (सर्वत्र एकसा ही प्रयोग) का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। विचारों की एकरूपता तथा स्पष्टता के अभाव में ऐसे निबन्ध लिखे ही नहीं जा सकते। जब तक लेखक स्वयं भ्रम में होगा तब तक वह अपना दृष्टिकोण पाठक को स्पष्टरूप से नहीं समझा सकता। हिन्दी में आचार्य शुक्ल अपने विचारप्रधान लेखों के लिये प्रसिद्ध हैं।

३—भावात्मक निबन्ध—इस प्रकार के निबन्धों में भाव प्रधान होते हैं—विचार गौण। अधिक काव्यात्मक होने के कारण अलंकारों का भी प्रचुर प्रयोग इनमें मिलता है। अतः इनकी भाषा अन्य प्रकार के निबन्धों से अधिक अलंकृत होती है। इस प्रकार के निबन्ध भावात्मकता की अधिकता के कारण एक ओर तो कहानी की सीमाओं का स्पर्श करते हैं तो दूसरी ओर काव्यत्व के प्राधान्य के कारण गद्य-काव्य की सीमाओं का स्पर्श करते हैं। इस प्रकार ये निबन्ध भावतत्व की प्रधानता के कारण गद्यकाव्य और कहानी—दोनों का आनन्द देते हैं, ऐसे निबन्धों में भावातिरेक (भावों की अधिकता) के कारण वाक्यों का अपेक्षा कृत लम्बा हो जाना स्वाभाविक ही है। मनोवेगों की तीव्रता—ऐसे लेखों का प्रधान लक्ष्य है। इसलिये पढ़ने में कविता का आनन्द भी देते हैं। विभिन्न दिखाई देनेवाली जातियाँ, अलग-अलग प्रतीत होते मनुष्यों के हृदय में अन्तःसलिला की भाँति प्रवाहमान एक ही मानवता के दर्शन कराना इन निबन्धों का मुख्य विषय रहता है। हिन्दी में सर्दार पूर्णसिंह के निबन्ध इस विषय के उत्कृष्ट उदाहरण है। आज के यंत्र युग में जिस प्रकार कविता का ह्रास हो रहा है उसी प्रकार भावात्मक निबन्धों का भी, क्योंकि तत्वतः दोनों एक ही है। विज्ञानप्रधान युग में इनके विकास के अवसर कम से कम रहते हैं लेकिन मनुष्य में मस्तिष्क कितना ही प्राधान्य पाले फिर भी हृदय का नितान्त अभाव कभी नहीं हो सकता; हृदय के अभाव में वह जड़वत् हो जायगा। प्रेम, शोक, क्रोध, घृणा आदि की भावनायें मनुष्य में बनी रहेंगी और इस प्रकार भावात्मक निबन्ध भी लिखे जाते रहेंगे।

४—कथात्मक निबन्ध—इस प्रकार के निबन्धों का विषय रहता है किसी घटना या वृत्तान्त का मनोरंजक वर्णन। प्रायः यात्रा के वर्णन, अतीत काल पर लिखे गये लेख, युद्ध, तथा विविध सम्मेलनों के वृत्तान्त—इस प्रकार के लेखों के अन्तर्गत आयेंगे। ये एक प्रकार से वर्णनप्रधान लेख ही हैं किन्तु कम विश्लेषणयुक्त होने के कारण उनसे भिन्न हो जाते हैं। किसी भी दृश्य या वृत्तान्त का सांगोपांग चित्र तो ऐसे लेखों में होगा ही किन्तु उनकी आलोचना नहीं होगी। काव्यालंकारों, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा—आदि की आवश्यकता इन निबन्धों में भी पड़ती है और ये अलंकार इस प्रकार के निबन्धों का सौन्दर्य और आकर्षण बढ़ाते हैं। घटना वैचित्र्य तथा उत्सुकता

के गुण के कारण ये निबन्ध बहुत कुछ कहानियों के निकट आ जाते हैं किन्तु कथोपकथन और कल्पित पात्रों की अनुपस्थिति उन्हें कहानी से भिन्न कोटि में रख देती है।

इस प्रकार के निबन्धों के लिये यह भी आवश्यक है कि विषय का उचित विभाजन कर लिया जाय क्योंकि वर्णन में पिष्टपेषण की प्रवृत्ति इस प्रकार के निबन्धों में कुरूपता की सृष्टि करती है। ऐसे लेखों की भाषा क्लिष्ट न होकर चलती हुई तथा प्रवाहपूर्ण होनी चाहिए।

आजकल विदेश यात्रा, पहाड़ों की सैर, हवाई यात्रा तथा साहित्यिक यात्रा आदि विषयों पर पर्याप्त लेख हिन्दी में लिखे जा रहे हैं।

शैली—शैली के विषय में दो शब्द कहना अनुचित न होगा। यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि निबन्धों के प्रकार वास्तव में विषय के प्रकार न होकर शैलियों के हैं। यों तो प्रत्येक साहित्यिक कृति में शैली अपना विशेष महत्व रखती है किन्तु उसकी जितनी घनिष्ठता निबन्ध से है, उतनी और शायद किसी से नहीं। (Style is the man) 'शैली ही व्यक्तित्व है'—की बात बहुत प्रसिद्ध है। यह सत्य भी है जिस प्रकार केवल आवाज़ सुनकर हम अपने मित्रों एवं घनिष्ठ व्यक्तियों को पहचान लेते हैं उसी प्रकार शैली के द्वारा हम लेखक को पहचान लेते हैं। वस्तुजगत में व्यक्तियों की आवाज़ में जो अन्तर होता है वही अन्तर विभिन्न लेखकों की शैली में होता है। वस्तुजगत में जैसे, प्रत्येक व्यक्ति का अपना विशिष्ट स्वर होता है उसी प्रकार साहित्यिक जगत में प्रत्येक साहित्यकार की अपनी शैली होती है।

शैली में शब्द-चयन, वाक्य-रचना, तथा भाषा की विशिष्टतायें ही नहीं आतीं उसमें तो व्यक्ति की विचार पद्धति, उसकी मान्यतायें, उसकी व्यक्तिगत रुचि, अरुचि, आदि सभी स्पष्ट हो जाती हैं। एक विशिष्ट प्रकार की चिन्तन क्रिया को विशिष्टरूप में व्यक्त करने को शैली कह सकते हैं। शैली का सम्बन्ध केवल भाषा से नहीं जीवन से होता है इसलिये शैली की नक़ल करना बिलकुल असम्भव है। 'प्रसाद' और प्रेमचन्दजी की शैली का अनुकरण करके आज तक कोई 'प्रसाद' और प्रेमचन्दजी न बन सका। किन्ही दो व्यक्तियों की आकृति जैसे बिलकुल नहीं मिल सकती उसी प्रकार शैली भी। इस संसार में व्यक्ति की जो विशिष्ट आकृति है, साहित्य में वही शैली है। वस्तु-जगत में व्यक्ति का जो व्यक्तित्व है, साहित्य-जगत में वहीं शैली है।

जिसकी अपनी शैली नहीं वह चाहे कुछ हो जाय, निबन्धकार नहीं हो सकता। निराला, महादेवी, 'पन्त', सरदार पूर्णसिंह, वियोगीहरि को इस जगत में जैसे हम उनकी आकृति देखकर पहचान लेते हैं, साहित्य-जगत में वैसे ही उनकी शैली देखकर उन्हें पहचान लेते हैं।

यह शैली ही निबन्ध लिखने की कला की मूल आधार है। इसके अभाव में निबन्ध का भवन खड़ा नहीं किया जा सकता।

—लेखक

विषयसूची

[१] प्राक्कथन
[२] अपनी बात .... [१—४
[३] भूमिका (हिन्दी गद्य का विकास) .... [५-१३

१—निबन्ध-साहित्य का इतिहास १
२—कहानी-साहित्य का इतिहास १२
३—उपन्यास-साहित्य का इतिहास २५
४—नाटक-साहित्य का इतिहास ३६
५—हिन्दी आलोचना-साहित्य का इतिहास ५२
६—छायावाद ६२
७—रहस्यवाद ६०
८—प्रगतिवाद १२०
९—लोकनायक तुलसी १४८
१०—कलाओं का वर्गीकरण १५६
११—सर्वोत्कृष्ट कला—काव्य-कला १६६
१२—कला—कला के लिए १८३
१३—काव्य के दोष १९५
१४—हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण २०४
१५—शुक्लजी—निबन्धकार और आलोचक के रूप में २२५
१६—अलङ्कारों का काव्य में स्थान २३८
१७—रस निष्पत्ति २६१
१८—रीति-काल २७३

:: १ ::

निबन्ध का इतिहास

आरम्भिक युग :—

भारतेन्दु युग निबन्धों का आरम्भिक युग कहा जा सकता है। इससे पूर्व राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द द्वारा लिखी 'राजा भोज का सपना' नामक रचना मिलती है, किन्तु वह कथा प्रधान है। इसलिए वह निबन्ध की अपेक्षा कहानी के अधिक निकट पड़ती है। भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी की सेवा के लिये एक मण्डल तैयार किया था। उस मंडल में भारतेन्दु बाबू के व्यक्तिगत मित्र ही अधिक थे। हिन्दी उस युग में उपेक्षा की वस्तु थी। इसलिए इस मण्डल के लेखकों का पथ काँटों से भरा था। किन्तु हिन्दी और हिन्दुस्तान के प्रति प्रेम की जो उत्कट भावना इस काल के लेखकों में पाई जाती है बाद के लेखकों में वह इतनी नहीं मिलती। इस काल के लेखकों के लेखों को पढ़ने से प्रतीत होता है कि हिन्दी उनके जीवन की सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु थी, ऐसा लगता है कि हिन्दी को छोड़कर शायद और कोई विषय उनके लिये आवश्यक नहीं था। देश की सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों के इस काल के लेखक सजग प्रहरी थे। हिन्दी का उत्कर्ष और सामाजिक सुधार इस काल के लेखकों के दो महान् उद्देश्य थे इस मण्डल के प्रमुख व्यक्ति थे:—

पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं० प्रताप नारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह, लाला श्रीनिवास दास, पं० केशवराम भट्ट पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी।

स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कितने ही निबन्ध लिखे। उनके निबन्धों की भाषा को हम हिन्दुस्तानी कह सकते हैं न तो अत्यन्त संस्कृत-गर्भित और न अरबी फ़ारसी शब्दों से बोझिल। हरिश्चन्द्र के निबंधों की भाषा

बहुत कुछ विषयानुकूल है। यदि विषय धार्मिक हुआ तो उनकी भाषा क्लिष्ट और संस्कृत-निष्ठ भी मिलेगी। उनके "वैष्णवता और भारतवर्ष" नामक निबन्ध की भाषा का उदाहरण देना उनकी शैली को स्पष्ट करने के लिये आवश्यक है—

"—जिस उत्तम उदाहरण द्वारा स्थापक आचार्यगण ने आत्मसुख विसर्जन करके भक्ति सुधा से लोगों को प्लावित कर दिया था उसी उदाहरण से अब भी गुरु लोग धर्म-प्रचार करें। वाह्य आग्रहों को छोड़ कर केवल आन्तरिक उन्नत प्रेममयी भक्ति का प्रचार करें। देखें कि दिग्दिगन्त से हरिनाम की कैसी ध्वनि उठती है और विधर्मीगण भी इसको सिर झुकाते हैं कि नहीं।"

भारतेन्दु हिन्दी निबन्ध साहित्य के आदि पुरुष हैं, किन्तु उन्होंने भाषा को कितना माँजा, सवाँरा और आधुनिक बनाया है यह देख कर आश्चर्य होता है। भारतेन्दु के निबन्धों की भाषा जितनी सजीव, सरल और आधुनिक है उतनी उस काल के और किसी लेखक की नहीं। भारतेन्दु १६ वीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार कहे जा सकते हैं। भारतेन्दु की अपनी विशिष्ट शैली थी जिसे उनके समसामयिक और परवर्ती लेखक 'हरिश्चन्दी हिन्दी' के नाम से पुकारते थे। भारतेन्दु के समकालीन और वाद के लेखकों ने जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है, बहुत कुछ भारतेन्दु का अनुकरण किया है।

भारतेन्दु युग के निबन्धकारों में पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रताप नारायण श्रीवास्तव विशेष प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुए।

भट्टजी की निबन्ध-शैली प्रवाहयुक्त है। उर्दू, फारसी और अँग्रेजी तक के शब्दों का प्रयोग भट्टजी में मिलता है जैसे तनज्जुली, चपत, निर्ख, ईजाद, Education, Society, National, Vigour and strength, standard आदि। स्थान-स्थान पर संस्कृत के उदाहरण भी आपके निबन्धों में मिलेंगे। व्यंग्य तथा विनोद का शैली में पुट अवश्य मिलेगा। देखिए—

"—भागवत के उस श्लोक का लिखने वाला हमें इस समय मिलता तो कम से कम गिन कर तीन गहरी चपत उसे जमाते।" संस्कृत-निष्ठ शैली—

"वहाँ के स्थावर, जंगम सर्जित पदार्थ मात्र में सात्विक भाव का

प्रकाश रहा । प्रत्येक मनुष्य यावत्-अभ्युदय और स्वर्गसुख का अनुभव करते हुए कृतकृत्य, पूर्णकाम और आप्तकाम रह किसी अंश में कहीं पर से किसी तरह की किसी भी त्रुटि का नाम न रहा ।"

"—न जाने' के लिये 'न जानिए' का प्रयोग भट्टजी के लेखों में मिलता है जैसे "भारत में न जानिए कै बार उस प्रवाह की प्रेरणा से चक्रवत पलटा खाते सतोगुण का उदय हो चुका है ।"

प्रतापनरायण मिश्र की निबन्ध-शैली भी हास्य-व्यङ्ग-गर्भित है। मिश्रजी 'ब्राह्मण' नामक पत्र का संचालन करते थे । इसी पत्र में मिश्रजी के बहुत से लेख प्रकाशित हुए । मिश्रजी की भाषा में पूर्वीपन का पुट मिलता है । मिश्रजी के निबन्धों के विषय थे—देशदशा, समाज-सुधार हिन्दी-प्रचार इत्यादि । मिश्रजी कहावतों के पण्डित थे । इनकी रचनाओं में कहावतों का प्रयोग खूब मिलेगा । १६ वीं शताब्दी में शैली ही व्यक्तित्व है (Style is the man) का सत्य सबसे अधिक मिश्रजी पर ही चरितार्थ होता है । मिश्रजी बड़े मौजी जीव थे उनकी वास्तविक शैली जो उनके व्यक्तित्व की प्रतीक है 'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'धोखा', 'मरे को मारै शाह मदार' 'समझदार की मौत है' आदि लेखों में मिलेगी । उनके कुछ गम्भीर निबन्ध भी मिलते हैं, जैसे—शिवमूर्ति, सोने का डंडा, काल, स्वार्थ आदि, किन्तु ये लेख मिश्रजी के वास्तविक व्यक्तित्व को नहीं प्रकट करते । अपने लेखों के बीच-बीच में मिश्रजी संस्कृत, उर्दू और फ़ारसी आदि के उद्धरण भी देते थे ।

भारतेन्दु युग में बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का नाम अविस्मरणीय है । 'प्रेमघन' भाषा को माँजने और अलंकृत करने के समर्थक थे । आज के विषय में आचार्य शुक्ल का यह कथन द्रष्टव्य है— "लखनऊ की उर्दू का जो आदर्श था वही उनकी हिन्दी का था ।" आनंद कादम्बिनी नामक पत्रिका के आप संचालक थे और नियमित रूप से उनके निबन्ध उसी पत्रिका में प्रकाशित होते थे ।

भारतेन्दु युग में निबन्धों की इस आशातीत उन्नति को देख कर आशा की जा सकती थी कि हिन्दी का निबन्ध-साहित्य बहुत समृद्ध और उत्कृष्ट कोटि का हो जायगा, किन्तु भारतेन्दु युग के इस उपरोक्त 'मण्डल' के लेखकों के अतिरिक्त और नवीन लेखक इस ओर आकर्षित न हुए ।

द्विवेदी युग :—

भारतेन्दु युग में भाषा का रूप स्थिर नहीं था । एक ही शब्द का

प्रयोग विभिन्न लेखक भिन्न-भिन्न प्रकार से करते थे। द्विवेदी जी ने सबसे बड़ा कार्य तो भाषा के सुधार का किया। द्विवेदी जी के अधिकांश लेख गवेषणात्मक या विचारात्मक हैं। द्विवेदी जी की शैली ऐसे निबन्धों में प्रायः संस्कृत-निष्ठ होती है। द्विवेदी जी ने स्वसम्पादित सरस्वती में सैकड़ों लेख लिखे। द्विवेदी जी का दृष्टिकोण सुधारवादी था। स्वतन्त्र लेखों के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने अँग्रेजी के प्रसिद्ध निबन्धकार लार्ड वेकन के निबन्धों का अनुवाद 'बेकन विचार रत्नावली' के नाम से किया। द्विवेदी जी के कितने ही निबन्ध स्थाई महत्त्व के हैं जैसे, 'कवि और कविता', 'साहित्य की महत्ता', कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' आदि।

द्विवेदीजी को स्वतन्त्र विषयों पर लेख लिखने का समय अधिक नहीं मिला। उनका अधिकाँश समय भाषा सुधार, तथा साहित्यिक विवादों में बीता। उनके और श्री बालमुकन्द गुप्त के बीच हुआ 'अनस्थिरता' शब्द विषयक झगड़ा प्रसिद्ध है। इस बीच में इनके लेखों के कई संकलन निकले हैं, जैसे 'सुकविसंकीर्तन', 'अद्भुत आलाप', 'विचित्र चित्रण' आदि।

पं० माधव मिश्र इस युग के प्रमुख लेखकों में से हैं, इनके विषय में आचार्य शुक्ल का मत द्रष्टव्य है —

"पं० माधवप्रसाद के धार्मिक और ओजस्वी लेखों को जिन्होंने पढ़ा होगा उनके हृदय में उनकी मधुर स्मृति अवश्य बनी होगी। उनके निबन्ध अधिकतर भावात्मक होते थे और धाराशैली पर चलते थे। उनमें बहुत सुन्दर मर्मपथ का अनुसरण करती हुई स्निग्ध वाग्धारा लगातार चलती थी।"

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी इनकी प्रतिभा के कायल थे। उन्होंने इनके विषय में लिखा है —

"मिश्रजी बिना किसी अभिनिवेश के नहीं लिख सकते। यदि हमें उनसे लेख पाने हैं तो सदा एक न एक टंटा उनसे छेड़ ही रखा करें।" मिश्रजी अपने आप कम लिखते थे, लिखते तब जब इन्हें कोई उत्तेजित करदे। जो इनका लेखों में विरोध करता था उसका विरोध ये भी अवश्य करते थे। मिश्रजी पक्के सनातनी थे और सनातन धर्म के विरुद्ध कोई भी बात इनके लिये असह्य थी। उस काल के सुदर्शन नामक पत्र में मिश्रजी के लेख यदाकदा निकला करते थे। जैसे—"पर्व त्यौहार"

'उत्सव', 'तीर्थ स्थान' आदि। भावनाओं के ऊपर भी मिश्र जी के दो लेख उपलब्ध हैं जैसे 'धृति' और 'क्षमा'।

बापू गोपालराम गहमरी ने भी ऋद्धि-सिद्ध आदि कुछ लेख लिखे हैं। आपकी भाषा चंचल, प्रवाहपूर्ण तथा विनोदपूर्ण होती थी।

बाबू बालमुकन्द गुप्त इस काल के प्रमुखतम लेखक हैं। इन्हीं का 'अनस्थिरता' शब्द पर द्विवेदी जी से प्रसिद्ध विवाद चला था। गुप्त जी जैसी सरल और सजीव भाषा इस काल में दूसरे लेखक की नहीं मिलेगी। विरोधी को तिलमिला देने वाला व्यङ्ग गुप्त जी की भाषा की बड़ी विशेषता है। गुप्त जी का स्वभाव हँसमुख है और निर्भीक प्रकृति के व्यक्ति थे। गुप्त जी का लिखा 'शिवशम्भु का चिट्ठा' बहुत प्रसिद्ध है। इतनी व्यङ्ग-पूर्ण, चुलबुली और विनोदपूर्ण शैली हिंदी में आज भी दुर्लभ है। गुप्तजी निबन्धकार के रूप में जितने महान् है उतने ही सम्पादक के रूप में भी। आपने जीवन भर पत्रों का सम्पादन किया। द्विवेदी जी तक आपकी योग्यता का लोहा मानते थे। गुप्तजी के निबन्ध बालमुकंद गुप्त निबन्धावली में संकलित हैं। गुप्तजी के व्यक्तित्व की दो सबसे बड़ी विशेषतायें हैं— १—उत्कृष्ट देशप्रेम २—निर्भीकता।

स्वर्ण युग:—

डा० श्यामसुन्दरदास के लेखक के रूप में प्रकट होने के पश्चात् से हिन्दी निबन्धों के स्वर्ण युग का आरम्भ होता है। डा० श्यामसुन्दरदास के गवेषणात्मक, विचारात्मक और आलोचनात्मक निबन्ध मिलते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास की शैली संस्कृत-निष्ठ तो है, किन्तु दूसरी भाषाओं के शब्दों के प्रति भी उनकी नीति बहिष्कारपूर्ण नहीं है। डा० श्यामसुन्दरदास का तो विचार था कि हिन्दी को दूसरी भाषाओं के प्रचलित शब्दों को अपना लेना चाहिये, किन्तु उन्हें अपने व्याकरण के अन्तर्गत करके। उदाहरण के लिये— 'मालिके मकान' न लिखकर हिन्दी में 'मकान का मालिक' और इसी प्रकार 'बटन्स' न कह कर 'बटनों' आदि लिखा जाना चाहिये। जब विदेशी शब्द हमारे व्याकरण द्वारा अनुशासित होंगे तो वे स्वयमेव हिन्दी शब्द बन जायेंगे।

डा० साहब ने कबीर, तुलसी आदि पर विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध लिखे जिनका हिन्दी साहित्य में स्थाई महत्त्व है।

डा० साहब के निबन्धों की शैली शुक्लजी के बिलकुल विपरीत है। शुक्लजी पहले अपना विचार सूत्ररूप में प्रकट कर देते हैं और फिर पूरे निबन्ध में उसका विशेषण करते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास इस शैली को दोषपूर्ण मानते थे। वे पहिले किसी वस्तु का विश्लेषण करते थे और तब उसे अन्त में सूत्ररूप में लिख देते थे।

डा० श्यामसुन्दरदास ने निबन्ध साहित्य को समृद्ध और उत्कृष्ट बनाने में विशेष महत्वपूर्ण भाग लिया।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का निबन्ध-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। गुलेरी जी की विशेषता यह है कि इन्होंने अधिक नहीं लिखा, किन्तु जो कुछ लिखा उससे उनकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। केवल एक कहानी लिख कर इन्होंने उच्चकोटि के कहानी लेखकों में अपना स्थान बना लिया और थोड़े से निबन्ध लिख कर उच्चकोटि के निबन्ध लेखकों में अग्रणी बन गये। गुलेरी जी के 'कछुआ धरम' तथा 'मारेसिमोहि कुँठाव' आदि लेख बहुत प्रसिद्ध हैं। आचार्य शुक्ल, गुलेरीजी की प्रतिभा और विद्वत्ता से बहुत प्रभावित प्रतीत होते हैं। एक स्थान पर गुलेरी जी के विषय में वे लिखते हैं —

"यह बेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भितवक्रता गुलेरी जी में मिलती है वह और किसी लेखक में नहीं। इनके स्मित हास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रों से ली गई है। अतः उनके लेखों का पूरा आनन्द उन्हीं को मिल सकता है जो बहुश्रुत हैं।"

गुलेरी जी की भाँति ही थोड़ा लिख कर अधिक प्रतिष्ठा लाभ करने का श्रेय सरदार पूर्णसिंह को है। सरदार पूर्णसिंह अपनी विशिष्ट शैली के कारण अन्य लेखकों से बिलकुल भिन्न व्यक्तित्व रखते हैं। भावुकता की अधिकता पूर्णसिंह जी की शैली की सबसे बड़ी विशिष्टता है। यह भावुकतापूर्ण शैली ही निबन्ध साहित्य में पूर्णसिंह जी को एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करती है। 'मजदूरी और प्रेम' नामक निबन्ध से उनकी इस शैली को स्पष्ट करने के लिये कुछ पंक्ति उद्धृत करना असंगत न होगा —

" – जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पण्डित और साधु-संन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनकी

बुद्धि अनन्त काल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती रहेगी। उनका चिन्तन बासी, उनकी पुस्तक बासी, उनका विश्वास बासी और उनका तो खुदा भी बासी हो गया है।"

सरदार पूर्णसिंह के बहुत थोड़े ही निबन्ध—'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम' तथा 'सच्ची वीरता' आदि मिलते हैं।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने उस समय से लिखना आरम्भ किया है जब हिन्दी में निबन्धों का अभाव था। बख्शी जी, द्विवेदी युग के लेखकों में अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हैं। उसी प्रकार जिस प्रकार द्विवेदी युग के कवियों में हरिऔध जी अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हैं। बख्शी जी की विशिष्टता यह है कि उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी पाठकों और विद्वानों का ध्यान विदेशी साहित्य की ओर आकर्षित किया। अब तक हिन्दी में निबन्ध एक विशेष ढर्रे (पद्धति) पर चले जा रहे थे। बख्शीजी ने निबन्ध-क्षेत्र में इतिहास-दर्शन आदि विषयों पर निबन्ध लिख कर उसे अधिक विस्तृत बनाया। बख्शी जी के व्यक्तित्व की विशिष्टता उनकी शैली नहीं, अपितु विषय है। उनके निबन्धों की भाषा सरल, सीधी, तथा छोटे छोटे वाक्यों से युक्त है।

रामचन्द्र शुक्ल के रूप में हिन्दी के निबन्ध-साहित्य को सर्वप्रथम एक महान् लेखक मिला। हिन्दी के निबन्ध और आलोचना साहित्य में शुक्लजी का वही स्थान है जो प्रसादजी का काव्य-नाटक तथा प्रेमचन्द जी का कहानी-उपन्यास के क्षेत्र में है। शुक्लजी ने भारतीय और अंग्रेजी साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था इसलिये उनके निबन्धों में जहाँ विषय की विविधता, नवीनता है वहीं शैली की विशिष्टता भी। शैली ही व्यक्तित्व है (Style is the man) की बात जितनी शुक्लजी पर चरितार्थ होती है उतनी बहुत कम हिन्दी निबन्ध लेखकों पर होती है। शुक्लजी के निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे वास्तव में निबन्ध हैं, इतने बंधे हुए और गठे हुए कि एक शब्द को निकालने से अर्थ में अस्पष्टता आ जायेगी और अर्थ का अनर्थ हो जायगा। शुक्लजी भाषा की आत्मा से परिचित थे। वे भाषा में अनर्गल प्रयोगों के पक्षपाती नहीं थे। शुक्लजी आरम्भ में अपनी बात सूत्ररूप में कह देते हैं और फिर शेष निबन्ध में उसका विश्लेषण करते हैं, किन्तु विचित्रता यह है कि बार-बार एक ही बात को दुहराने पर भी उनके निबन्धों में पिष्टपेषण की

नीरसता का अनुभव नहीं होता। शुक्लजी ने विस्तृत आलोचनात्मक निबन्धों के अतिरिक्त कुछ मनोवैज्ञानिक लेख भी लिखे हैं जैसे—'श्रद्धा और भक्ति', 'करुणा' इत्यादि। शुक्लजी की पैठ गहरी और विश्लेषण की प्रतिभा अद्भुत है। शुक्ल जी के निबन्ध केवल मस्तिष्क-प्रसूत ही नहीं हैं, अपितु उनमें उनके हृदय का भी उचित योग है इसलिये गम्भीर होते हुए भी उनके निबन्ध नीरस नहीं हैं। शुक्लजी में हास्य का अभाव नहीं है पर उनका हास्य शिष्ट और गूढ़ होता है।

विषय और शैली दोनों की दृष्टि से शुक्लजी ने हिन्दी निबन्धों को आगे बढ़ाया। शुक्लजी भारतीयता के समर्थक तो थे, परन्तु उनके निबन्धों पर पाश्चात्य प्रभाव भी अत्यन्त स्पष्ट है।

शुक्लजी के निबन्धों के विषय में इसी पुस्तक के 'निबन्धकार और आलोचक के रूप में शुक्लजी' नामक लेख में विस्तृत प्रकाश डाला जायगा इसलिये यहाँ विस्तार में उनकी निबन्ध कला की विवेचना अनावश्यक है।

बाबू गुलाबराय को भी निबन्ध के साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। आप स्वयं दार्शनिक हैं इसलिये लेखों में दार्शनिकता का पुट सहज रूप से आ गया है। 'साहित्य संदेश' नामक पत्र के सम्पादक होने के कारण आपने कितने ही साहित्यिक निबन्ध भी लिखे हैं। किन्तु निबन्धकार के रूप में आपका स्थान बनाने वाले आपके वे निबन्ध हैं जो हास्यप्रधान हैं। उदाहरण के लिये आपका 'कसौली' निबन्ध लिया जा सकता है। गुलाबराय जी का हास्य गूढ़ और साहित्यिक होता है इसलिये श्रोता और पाठक को उन लेखों का आनन्द लेने के लिये बहुश्रुत होना आवश्यक है। गुलाबराय जी की भाषा भावानुकूल मिलती है—साहित्यिक एवं आलोचनात्मक-निबन्धों में संस्कृत-गर्भित और व्याख्यात्मक। हास्यात्मक लेखों में यह सरल और प्रवाहपूर्ण होती है।

आज के निबन्ध लेखकों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१—जो कवि हैं और निबन्ध लेखक हैं। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी आदि को हम इस प्रकार के निबन्धकारों में रख सकते हैं जो कवि पहले हैं निबन्धकार बाद में।

२—जो आलोचक है और निबन्धकार है—इस प्रकार के लेखकों में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० धीरेन्द्र वर्मा, शान्तिप्रिय द्विवेदी,जैनेन्द्रकुमार जैन, राजेन्द्र यादव, तथा डा० सत्येन्द्र आदि प्रमुख हैं।

३—जो मार्क्सवादी आलोचक हैं और निबन्ध लेखक हैं—इस प्रकार के लेखकों में डा०रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान,प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय, डा० रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, चन्द्रवलीसिंह आदि प्रमुख हैं।

प्रथम प्रकार के निबन्धकारों की संक्षेप में विशेषतायें हैं:—

१—क्लिष्ट और संस्कृत निष्ठ भाषा शैली।

२—निबन्धों में भी काव्य का गुण।

३—भावावेश के कारण वाक्य प्रायः लम्बे-लम्बे और समासपूर्ण।

४—भाषा में लाक्षणिकता का बाहुल्य।

५—भाषा में रूपकों की प्रचुरता, उदाहरण के लिये पंत और महादेवी के निबन्धों में यह रूपक की प्रवृत्ति अधिक मिलेगी।

६—विश्लेषण की अपेक्षा भावुकता का प्राधान्य। विशेष रूप से डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और महादेवी वर्मा के निबन्धों में यह विशेषता मिलेगी।

उपरोक्त लेखकों में से कुछ की पक्तियाँ उद्धृत करना समीचीन होगा।

महादेवी वर्मा—"फागुन के गुलाबी जाड़े की वह सुनहली सन्ध्या क्या भुलाई जा सकती है? सवेरे के पुलक पंखी वैतालिक एक लयवती उड़ान में अपने-अपने नीड़ों की ओर लौट रहे थे। विरल बादलों के अन्तराल से उन पर चलाये हुए सूर्य के सोने के शब्द भेदी बाण उनकी उन्मद गति में ही उलझ कर लक्ष्य भ्रष्ट हो रहे थे।

दूध से सफेद बाल और दूध फेनी की सफेद दाढ़ी वाला वह मुख झुर्रियों के कारण समय का अङ्कगणित हो रहा था। कभी की सतेज आंखें आज ऐसी लग रही थी मानों किसी ने चमकीले दर्पण पर फूँक मार दी हो।"

—'एक रेखा चित्र' से।

जयशङ्कदप्रसाद—"जब 'वदित विकलं कायोनमुञ्चति चेतनाम्' की विवशता वेदना को चैतन्य के साथ चिर बन्धन से बाँध देती है, तब वह आत्मस्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म अन्तरभाव को व्यक्त करने में समर्थ होती है। ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिये शाप नहीं हो सकता।"

—'छायावाद' से।

सुमित्रानन्द पंत—भविष्य में जब मानव जीवन विद्युत तथा अणुशक्ति की प्रबल टाँगों पर प्रलय वेग से आगे बढ़ने लगेगा तब आज के मनुष्य की टिमटिमाती हुई चेतना उसका संचालन करने में समर्थ नहीं हो सकेगी....।"

—युगवाणी की भूमिका से।

"सहस्रों वर्षों से आध्यात्म दर्शन की सूक्ष्म-सूक्ष्मतम झंकारों से रहस्मौन निनादित भारत के एकान्त, मनोगगन में मार्क्स तथा एंगिल्स के विचार दर्शन की गूँजें बौद्धिकता के शुभ्र अन्धकार के भीतर से रेंगने वाले झींगुरों की रुँधी हुई झंकारों से अधिक स्पंदन नहीं पैदा करतीं।"

—रचनाओं की पृष्ठ भूमि से।

द्वितीय प्रकार के निबन्धकारों की सक्षेप में विशेषतायें हैं:—

१—भाषा संस्कृतगर्भित, वाक्य प्रायः लम्बे।
२—भावानुकूल भाषा कभी सरल कभी क्लिष्ट।
३—बौद्धिकता का प्रामुख्य।
४—विवेचना प्रधान शैली।
५—शैली पर अंग्रेजी का स्पष्ट प्रभाव। अंग्रेजी शब्दों का प्रायः कोष्ठक में प्रयोग।
६—विषय विचार प्रधान।

इन आलोचक निबन्धकारों में शैली की दृष्टि से डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का विशेष स्थान है। अतः उनकी कुछ पक्तियाँ उद्ध त करना अनावश्यक न होगा।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—"उस सद्यस्त्रुटित धरित्री पिण्ड में ज्वलन्त गैस भरे हुए थे। कोई नहीं जानता कि इन असंख्य अग्निगर्भ कणों में से किसमें या किनमें जीवतत्व का अंकुर वर्तमान था। इसके बाद लाखों वर्ष तक धरती ठण्डी होती रही, लाखों वर्ष तक उस पर तरलतप्त धातुओं की लहाछेह वर्षा होती रही। जीव तत्व स्थिर अविक्षुब्ध भाव से उचित अवसर की प्रतीक्षा में बैठा रहा। अवसर आने

पर उसने समस्त जड़शक्ति के विरुद्ध विद्रोह करके सिर उठाया नगण्य तृणांकुर के रूप में। तब से आज तक सम्पूर्ण जड़शक्ति अपने आकर्षण का समूचा वेग लगा कर भी उसे नीचे की ओर नहीं खींच सका।"

तीसरे प्रकार के निबन्धकारों में डा० रामविलास शर्मा सर्वप्रमुख व्यक्ति हैं। डा० शर्मा की भाषा भावानुकूल, सरस और व्यङ्गपूर्ण होती है। भारतेन्दु काल के लेखकों के पश्चात्, यदि व्यङ्ग कहीं अपने विकसित रूप में मिलता है तो डा० शर्मा में। डा० शर्मा का व्यंग्य जहाँ विरोधियों के लिये एक भय होता है वहाँ पाठकों को वह उतना ही आनन्द देता है। 'समाज और संस्कृत' तथा 'साहित्य और परम्परा' में आपके निबन्ध संकलित हैं।

यशपाल के लेखों में मार्क्सवादी विचारों को मूर्त रूप दिया गया है। उनके निबन्ध उनके विचारों के साथ-साथ मार्क्सवादी सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप उपस्थित करते हैं। 'देखा सोचा समझा' उनके सुन्दर निबन्धों का संग्रह है।

हिन्दी में निबन्ध पर्याप्त संख्या में लिखे जा रहे हैं। विषय और शैली की उत्कृष्टता भी आज के निबन्धों में मिलेगी। हिन्दी के निबन्धों का भविष्य निश्चित रूप से उज्ज्वल है।

:: २ ::

कहानी-साहित्य का इतिहास

आरम्भिक युग :—

काव्य की भाँति ही कहानी का मूल भी मानव सभ्यता के आदि काल में मिलेगा। गाने और रोने के समान ही कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति प्राचीन प्रतीत होती है। फिर भी जहाँ तक पता चलता है बौद्धकालीन जातक साहित्य ही भारत में कहानियों का शैशवकाल है। जातकों की ही कहानियाँ कुछ परिवर्तित रूप में पंचतंत्र और हितोपदेश में मिलती हैं। कुछ विद्वानों का कहना तो यहाँ तक है कि विश्व के कथा-साहित्य का मूल स्रोत ये जातक कथायें ही हैं। यहाँ से ये कथायें अरब, मिश्र आदि में होती हुई योरोप तक जा पहुँची। संस्कृत में कहानी के लिये आख्यायिका शब्द मिलता है। किन्तु आख्यायिका और आज की कहानी में मौलिक अन्तर है। आख्यायिकायें ऐसा प्रतीत होता है केवल उपदेश देने के लिये लिखी जाती थीं। 'हर एक का विश्वास न करो', 'छोटे आदमी की मित्रता भी कभी बड़े काम आती है', 'बिना बुद्धि के शक्ति व्यर्थ है' आदि उपदेश वाक्यों को कथा का परिच्छद मात्र पहना दिया गया है। उसमें न तो चरित्र-चित्रण ही है और न तत्कालीन सामाजिक समस्यायें ही। किन्तु आजकल की हिन्दी कहानियाँ अपनी वस्तु और रूप के लिये पाश्चात्य कहानियों की ऋणी हैं। कहानी आज केवल मनोरंजन की ही वस्तु नहीं है, अपितु विचारों के प्रचार-प्रसार का सर्वोत्तम माध्यम भी है। आज की कहानियाँ—मुख्य रूप से तीन भागों में बाँटी जा सकती हैं :—

१—वे कहानियाँ जिनका उद्देश्य चरित्र-चित्रण मात्र करना है।

२—वे कहानियाँ जो सामाजिक समस्याओं को अपना आधार बनाती हैं।

३—वे कहानियाँ जो कुछ घटनाओं का संघटन मात्र हैं अर्थात् कथा कहना ही जिनका उद्देश्य है।

इनमें से भी उपरोक्त दो प्रकार की कहानियों का हिन्दी साहित्य में आज अधिक प्रचलन है और वे उच्चकोटि की समझी जाती हैं।

हिन्दी में सर्वप्रथम कहानी लेखक कौन है? और सर्वप्रथम कहानी कौनसी है? यह एकदम निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अगर कहानी शब्द पर ही विश्वास कर लिया जाय तो इन्शा अल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' सर्वप्रथम कहानी मानी जानी चाहिये। परन्तु वास्तव में कहानी शब्द को छोड़ कर उसमें कहानी के और लक्षण नहीं मिलते। कहानी के तत्वों का उसमें अभाव है। राजा शिवप्रसाद द्वारा लिखित 'राजा भोज का सपना' तथा 'वीरसिंह वृत्तान्त' कुछ कहानी सदृश लगते तो हैं पर पूर्णरूप से कहानी उन्हें भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि न तो उनमें चरित्र-चित्रण ही और न कथोपकथन जो कि कहानी की दो मुख्यतम और सर्वमान्य तत्व हैं। केवल कथा को आज कहानी नहीं कहा जा सकता।

क्या उपन्यास, क्या नई कविता, क्या आधुनिक निबन्ध और क्या आधुनिक समालोचना, इन सभी को आधुनिक रूप में हिन्दी ने बँगला से ग्रहण किया और बँगला ने अँग्रेजी से। अँग्रेजी की Short Story (शॉर्ट स्टोरी) से प्रभावित होकर बँगला में गल्पों का प्रचलन हुआ और इन गल्पों के प्रभाव से हिन्दी में कहानियाँ लिखने का सूत्रपात हुआ। हिन्दी में सर्वप्रथम इन छोटी कहानियों को प्रकाश में लाने का श्रेय 'सरस्वती' मासिक पत्रिका को है। 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का हिन्दी में ऐतिहासिक महत्त्व है। हिन्दी के महत्त्व के निबन्ध, सारगर्भित समालोचनायें और सुन्दर कहानियाँ सर्वप्रथम इसी पत्रिका के द्वारा प्रकाश में आईं। सरस्वती जिस वर्ष (सं० १६५७) निकली ही थी उसी वर्ष उसमें एक सुन्दर कहानी 'इन्दुमती' शीर्षक प्रकाशित हुई। इसके लेखक थे पं० किशोरीलाल गोस्वामी। हिन्दी के इस आरम्भिक काल में मौलिक और बँगला से अनुवादित दोनों प्रकार की कहानियाँ लिखी ही जार थीं। पार्वतीनन्दन के उपनाम से गिरजाकुमार घोष ने बँगला से कितनी ही कहानियों का अनुवाद हिन्दी में किया। 'बंगमहिला' नाम से एक महिला ने भी कई बँगला कहानियों का हिन्दी में अनुवाद किया। बंगमहिला की 'दुलाई वाली' नामक कहानी बहुत लोकप्रिय हुई।

पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'इन्दुमती' नामक कहानी को हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी मानते हैं; यदि यह किसी बंगाली कहानी का छायानुवाद नहीं है तब। इसके पश्चात् रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष' नामक कहानी आती है और उसके बाद 'दुलाई वाली' कहानी।

प्रसाद युग :—

हिन्दी की मौलिक कहानियों को जब प्रसाद जैसी प्रतिभा का पारस स्पर्श मिला तो जैसे वे चमक उठीं। प्रसादजी 'इन्दु' नाम से एक पत्र निकालते थे उनकी 'ग्राम' नामक कहानी सर्वप्रथम उसी पत्र में निकली। फिर तो चन्द्रमा की कलाओं की भाँति प्रसादजी की कहानीकला अधिकाधिक निखरती और पूर्ण होती गई और हिन्दी का कहानी-संसार इस महान् कलाधर की कला से आलोकित हो उठा। प्रसाद को पाकर दीन हिन्दी जैसे धन्य हो गई। हिन्दी संसार को प्रसादजी ने कितनी ही अमूल्य कहानियाँ भेंट कीं। प्रसादजी के द्वारा लिखी गईं सभी कहानियाँ 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाश दीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' नामक संग्रहों में संकलित हैं।

कहानी लिखने की प्रसादजी की अपनी टेकनिक है। प्रसादजी की कहानियों में कौतूहल का तत्व जितना अधिक मिलता है सम्भवतः हिन्दी के किसी दूसरे लेखक में नहीं। प्रसादजी की ऐसी तो कोई कहानी नहीं होगी जिसमें घटना या रोचकता का अभाव हो। प्रसाद जी की ओजपूर्ण संस्कृतनिष्ठ शैली एक ओर तो उचित वातावरण उत्पन्न करती है दूसरी ओर कहानी के प्रभाव को अधिकाधिक घनीभूत करती चली जाती है।

प्रसादजी की कहानियों की ही नहीं उनके पूरे साहित्य की दो विशेषतायें सर्वोपरि हैं। १—अन्तर्द्वन्द—पात्रों के हृदय में दो विरोधी भावनाओं का संघर्ष दिखाने और उसे सफलतापूर्वक चित्रित करने में हिन्दी साहित्य में प्रसादजी अद्वितीय हैं। २—प्रकृति—प्रसादजी की सभी कहानियों की पार्श्वभूमि है। प्रकृति का सहचर्य मनुष्य जीवन के लिये एक सहज प्राप्त वस्तु है। मनुष्य भी अन्य प्राणियों की भाँति प्रकृति का एक प्राणी है। प्रसाद जी की अधिकाँश कहानियों का प्रारम्भ प्राकृतिक वातावरण के बीच ही होता है। उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध कहानी 'आकाश दीप' झंझावात में फंसे एक पोत पर आरम्भ होती है। प्रसिद्ध कहानी

'पुरस्कार' के साथ भी यही बात है। 'पुरस्कार' कहानी की आरम्भिक प्रकृति चित्रण विषयक पक्तियों का उद्धृत करना असंगत न होगा—

"—आर्द्रा नक्षत्र; आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़—जिसमें देवदुन्दुभी का गंभीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा-भूमि से सोंधी बास आ रही थी। प्रभात की हिम किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूदों का एक झोंका स्वर्णमल्लिका के समान बरस पड़ा।"

प्रकृति को प्रसादजी ने मानव के साथ अभिन्न करके देखा है। मनुष्य के विचारों और कार्य-व्यापारों पर वे प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव बड़े कौशल से दिखाते हैं। यदि हवा रुक गई है जैसे शून्य ने श्वास खींचली हो, यदि कोई पक्षी भावी भय की आशंका से कातर वाणी बोल रहा है तो समझ लेना चाहिये कि प्रसादजी के कहानी के पात्रों पर भी कोई संकट आने वाला है। इसी प्रकार यदि झंझावात थम गया हो, पक्षी मधुर वाणी में बोल रहे हों, वायु संयत चलने लगी हो तो समझ लेना चाहिये कि प्रसादजी के कथापात्रों का दुर्भाग्य समाप्त होने को है।

'पुरस्कार' कहानी की मुख्यपात्री मधूलिका अपने दुर्भाग्य के दिन पूरे कर रही है—प्रकृति का वातावरण अत्यन्त भयानक है—ऐसे भयंकर वातावरण में प्रसादजी एक पात्र का प्रवेश कराते हैं। उनके प्रकृति-वर्णन की सांकेतिक शैली ही स्पष्ट कर देती है कि आगन्तुक पात्र भी दुर्भाग्यग्रस्त है। देखिए—

"—वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी। ओले पड़ने की संभावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोंपड़ी के लिये काँप उठी, सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ।

"—कौन है यहाँ ? पथिक को आश्रय चाहिये।"

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—'राजकुमार ?"

"मधूलिका ?" आश्चर्य से युवक ने कहा।

× × × ×

"—और आज आपकी यह क्या दशा है ?"

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—"मैं मगध का विद्रोही कौशल में जीविका खोजने आया हूँ।"

यदि प्रकृति का वातावरण ऐसा विक्षुब्ध और भयानक न दिखाते तो पाठक आशा कर सकता था कि राजकुमार प्रसन्न और सकुशल होगा, किन्तु वातावरण ने राजकुमार की विपन्नावस्था का पूर्वाभास सांकेतिक रूप से दे दिया।

इसी प्रकार प्रसादजी अन्तर्द्वन्द दिखाने में अत्यन्त पटु हैं। यह अन्तर्द्वन्द उनके पूरे साहित्य के भाव पक्ष की विचित्रतायुक्त विशेषता है। 'आकाशदीप' कहानी में उन्होंने एक प्रेमभरी रमणी के अन्तर्द्वन्द का स्पष्ट चित्र खींचा है। रमणी अपने प्रिय को ही घृणा करती है क्योंकि, वह उसे अपने पिता का हत्यारा समझती है। उस रमणी का कोमल हृदय पितृप्रेम और प्रियतम प्रेम की दो विरोधी भावनाओं के झूले पर झूलता हुआ अस्थिर रहता है। वह कभी निश्चय नहीं कर पाती है कि क्या करे, जिसे प्रेम करती है उससे प्रेम या घृणा।

इसी प्रकार का अन्तर्द्वन्द प्रसादजी ने 'पुरस्कार' में चित्रित किया है। यह द्वन्द प्रेम और कर्त्तव्य की भावना के बीच है। मधूलिका (पुरस्कार की मुख्य पात्री) राजकुमार (पुरस्कार का मुख्य पात्र) को प्रेम करती है। प्रेम के आवेश में वह कौशल को बलात् हस्तगत कर लेने में राजकुमार की सहायता करने को तैयार हो जाती है, किन्तु कर्त्तव्य की भावना एक कठोर प्राचीर बन कर उसके प्रेम-मार्ग में आ जाती है। दोनों भावनाओं में भयंकर संघर्ष होता है। कुछ समय के लिये कर्त्तव्य की भावना के समक्ष प्रेम की भावना आत्मसमर्पण कर देती है। वह राजकुमार को अपने देश का शत्रु समझकर बन्दी करा देती है। किन्तु क्या प्रेम वास्तव में पराजित होता है ? नहीं। देखिये —

राजा ने कहा—"मेरे निज की जितनी खेती है मैं सब तुझे देता हूँ।" मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—"मुझे कुछ न चाहिये।" अरुण हँस पड़ा! राजा ने कहा—"नहीं, मैं तुझे अवश्य दूंगा! माँग ले।"

"तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले।" कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

कितने आश्चर्य के साथ कहानी का अन्त होता है। आश्चर्य के साथ आरम्भ; और आश्चर्य के साथ अन्त—प्रसादजी की कहानी कला की यह अविस्मरणीय विशेषता है।

मधूलिका के अन्तर्द्वन्द्व का एक सुन्दर चित्र प्रसादजी के शब्दों में उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा —

"—पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा; मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी। उसका भय अरुण के लिये उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध कौशल का चिरशत्रु! ओह, उसकी विजय! कौशल नरेश ने क्या कहा था— "सिंहमित्र की कन्या।" सिंहमित्र कौशल का रक्षकवीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है? "नहीं, नहीं मधूलिका! मधूलिका!!" जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई!

प्रसाद की कहानियों में चरित्र-चित्रण उच्चकोटि का मिलता है। मानव जीवन का अध्ययन प्रसाद जी ने पुस्तकों द्वारा नहीं अपितु जीवन-संघर्ष के बीच रह कर किया था। इसलिये किसी भी प्रकार की अस्वाभाविकता उनकी कहानियों में नहीं मिलेगी! प्रसाद जी के कथोपकथनों के कारण उनकी कहानी में भी नाटकों जैसा आनन्द आने लगता है। इसलिये नाटकीयता भी उनकी कहानियों की विशेषता है।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ने 'कानों में कँगना' नामक कहानी लिखी जो बहुत लोकप्रिय हुई।

ज्वालादत्त शर्मा तथा चतुर्सेन शास्त्री के नाम भी कहानी-साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी में हास्य सम्बन्धी रचनाओं की अभी तक कमी है। इसलिये श्री० जी० पी० श्रीवास्तव का नाम भी कहानियों की चर्चा करते समय भुलाया नहीं जा सकता। जी० पी० श्रीवास्तव ने हिन्दी में हास्य-रस की कहानियाँ लिख कर एक बड़े अभाव की पूर्ति की। दूसरे व्यक्ति

को हँसाना सब से कठिन बात है। इस दृष्टि से हास्यरस की कठिनाई आँकी जा सकती है। हास्य उत्पन्न करने के अनेकों उपाय हैं। हास्यप्रायः विरोधमूलक होता है। इसके अतिरिक्त जान-बूझ कर अपने आप को मूर्ख बना कर भी हास्य की सृष्टि की जाती है। इसके अतिरिक्त मुख विकृति, अंग संचालन तथा परिस्थितियों द्वारा भी हास्य उत्पन्न किया जाता है। लेखक श्लेष या यमक तथा इसी प्रकार व्यंग्यार्थ के द्वारा भी हास्य-सृष्टि कर सकता है। परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न हास्य उच्चकोटि का नहीं माना जाता। जी० पी० श्रीवास्तव का हास्य अधिकतर परिस्थितिजन्य ही है। लेकिन उनके समय को देखते हुए श्रीवास्तव जी की सफलता कम नहीं है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों में में से एक हैं। कौशिक जी ने परिवारिक जीवन को विशेषरूप से अपनी कहानियों का आधार बनाया। ऐसा लगता है कि कौशिक जी का पारिवारिक जीवन का अध्ययन, निरीक्षण और मनन असाधारण था। कौशिक जी एक आदर्शवादी कलाकार थे इसलिये उपदेशात्मकता इनकी कहानियों में सहज रूप से आ गई है। चरित्र-चित्रण और मनोविज्ञान की दृष्टि से भी कौशिक जी की कहानियों का स्थान ऊँचा है। कौशिक जी आरम्भ में अतीत की सभी बातों को आदर्श रूप में प्रस्तुत करते रहे। भारत का अतीत उनके लिये गौरव और मोह की वस्तु था किन्तु युग बदलने पर कौशिक जी पुरातनता से ही नहीं लिपटे रहे। उन्होंने नई भावनाओं को ग्रहण कर युगानुकूल रचनायें देकर इस दिशा में भी जनता का मार्ग प्रदर्शन किया। उदाहरणार्थ कौशिक जी की आरम्भिक कहानियों में विवाह आदि के विषय में उनका दृष्टिकोण मातृ-पितृ पक्ष का समर्थन करता हुआ मिलेगा। जाति-पाँति तोड़ कर माँ-बाप की अवज्ञा कर, किसी भी जाति की लड़की के साथ पाणिग्रहण करने का साहस कौशिक जी की आरम्भिक कहानियों के पात्रों में नहीं है किन्तु बाद में कौशिक जी की विचार-धारा युगानुकूल हो गई और उन्होंने अपनी कला पर से रूढ़ियाँ तथा पुरातनता का परिच्छद उतार फेंका। अन्तिम दिनों में कौशिक जी का दृष्टिकोण युवक वर्ग का पक्ष लेता हुआ प्रतीत होता है।

कौशिकजी की 'ताई' कहानी गुणों में उनकी कहानियों की प्रतिनिधि है। संकीर्ण और स्वार्थपूर्ण मनोवृत्तियों के कारण हमारा परिवार

संघर्ष और दुख का क्रीड़ास्थान बन जाता है और उदात्त बिचारों के आविर्भाव से स्वर्गोपम हो जाता है। संक्षेप में यही ताई की मूल चेतना है और कौशिकजी के पूरे कहानी साहित्य की भी।

विश्व के कहानी-साहित्य में ऐसे उदाहरण कम मिलेंगे जहाँ कोई व्यक्ति केवल एक कहानी के कारण ही अमर हो गया हो किन्तु ऐसी आश्चर्यजनक घटना हिन्दी-साहित्य के लिये नई नहीं है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का व्यक्तित्व कुछ ऐसा ही है। उनकी 'उसने कहा था' कहानी ने उन्हें अमर तो कर ही दिया—साथ ही कहानीकारों की सूची में उन्हें शीर्ष स्थान का अधिकारी बना दिया।

इस कहानी के विषय में आश्चर्यजनक बात यह है कि जब यह लिखी गई थी तब हिन्दी में कहानी लिखने की कोई अपनी टेकनिक नहीं थी। कहानी के नाम पर कुछ व्यक्ति उपदेशों को लिपिबद्ध किया करते थे। सजीवता और यथार्थता का प्रायः अभाव था। कहानियों के शीर्षक प्रायः पात्र के नाम पर होते थे किन्तु 'उसने कहा था' कहानी तो अपने जन्म काल के हिसाब से २५ वर्ष अधिक प्रौढ़ लगती है। क्या गठन, क्या चरित्र-चित्रण, क्या कथोपकथन, क्या घटनाचयन और क्या वर्णन करने का ढंग इन सब बातों में यह कहानी अपने युग की कहानियों से कम से कम ३५ वर्ष आगे है। २५ वर्ष का समय साहित्य में कम समय नहीं होता। 'उसने कहा था' पवित्र प्रेम के लिये किये गये निस्वार्थ बलिदान की रोमांचक कहानी है। उपदेशात्मकता जिसके पास भी नहीं फटकती। आज जब हिन्दी का कहानी-साहित्य इतना समृद्ध हो गया है, कहानी कला इतनी निखर गई है—फिर भी हिन्दी के कहानी कोष में 'उसने कहा था' के समान चमकते हुए अधिक रत्न नहीं हैं। कहानी के इतिहास में यह कहानी एक आश्चर्य है—एक घटना है। गुलेरीजी ने जिस समय इस कहानी की रचना की थी उस समय तक कहानियों का नामकरण प्रायः पात्रों के आधार पर होता था किन्तु 'उसने कहा था' शीर्षक ही पूरी कहानी, पूरे कार्य व्यापार और पूरी कथा को एक वाक्य में व्यंजित कर देता है। इतने अधिक सार्थक, चमत्कार-युक्त और मार्मिक शीर्षक हिन्दी में कितनी कहानियों के हैं? स्वाभाविकता तो इस कहानी की जान है। युद्ध का सजीव और रोचक वर्णन, यथा आवश्यकतानुसार पंजाबी, अँग्रेजी तथा जर्मन भाषा तक के शब्दों का प्रयोग मानो इस कहानी की स्वाभाविकता को पुकार-पुकार कर घोषणा कर रहे

हैं। पंजाबी जीवन, और पंजाबी संस्कृति को इतने सुन्दर रूप में व्यक्त करनेवाली हिन्दी में अधिक कहानियाँ नहीं लिखी गई। 'उसने कहा था' का लहनासिंह पाठकों के मस्तिष्क के कोने-कोने में समा जाता है और फिर कभी निकलता नहीं। संक्षेप में इस कहानी का हिन्दी में ऐतिहासिक महत्व है और कलात्मकता की दृष्टि से भी यह कहानी-साहित्य में शीर्षस्थान की अधिकारिणी है।

इस कहानी के विषय में आचार्य शुक्ल के शब्दों को उद्धृत करना कहानी के महत्त्व को स्पष्ट करने की दृष्टि से उचित होगा।

"इसमें यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ संपुटित है। घटना उसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है पर उसके भीतर से प्रेम का स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है। निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है। कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की वीभत्स विवृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता। इसकी घटनायें ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।"

प्रेमचन्द युग :—

हिन्दी का कहानी-साहित्य अभी दूसरे साहित्यों से ऋण लेकर (अनुवाद कर) अपना काम चला रहा था किन्तु उसके एक अमर साधक ने अपनी प्रतिभा के बल पर हिन्दी को उऋण तो कर ही दिया, उसे इतना समृद्ध भी बना दिया कि और साहित्यों को वह ऋण दे सके। हिन्दी के इस अमर कलाकार, अद्वितीय कहानीकार का नाम था प्रेमचन्द। प्रेमचन्द हिन्दी के लिये एक वरदान थे। हिन्दी में आने से पूर्व प्रेमचन्द जी उर्दू में लिखते थे। उर्दू-साहित्य में प्रेमचन्द का एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दी के सौभाग्य से यह तरुण साधक उसकी ओर आर्किषत हुआ और उर्दू को छोड़ कर फिर यावज्जीवन हिन्दी की ही पूजा करता रहा। प्रेमचन्द कृषकों के लेखक थे। युग-युग से उपेक्षित विश्व के इन अन्नदाताओं के कष्टों को—इनकी शक्ति को प्रेमचन्द ने समझा और उनको वर्ण्य विषय बना कर उन्होंने अपना जीवन सार्थक कर लिया।

प्रेमचन्द के समक्ष कहानी कला के रूप और वस्तु दोनों की कठिनाई थी प्रेमचंद ने स्वयं ही कहानी की टेकनिक बनाई और स्वयं ही उसका चरम विकास किया।
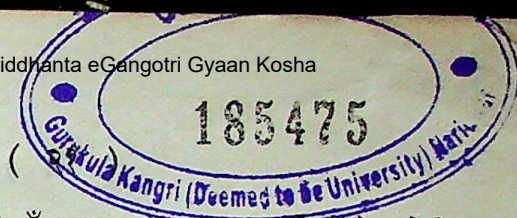
प्रेमचन्द जी की कहानियाँ प्रायः घटना-प्रधान होतीं हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि प्रेमचन्दजी की कहानियाँ भावाभाव के दुर्गुण से युक्त हैं। सच तो यह है कि प्रेमचन्दजी शुष्कता और नीरसता के परिहार के लिये घटनाओं का आश्रय लेते हैं और भावों को उन्हीं के माध्यम से व्यक्त करते हैं। प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विशेषता है उनका सूक्ष्म निरीक्षण। मानव जीवन का अध्ययन प्रेमचन्दजी ने संसार में रह कर किया है, पुस्तकों द्वारा नहीं। इसीलिए उनकी कहानियों के विषय भी सीमित और संकुचित नहीं हैं। प्रेमचन्द जी की कहानी पढ़ते समय पाठक यह देख कर स्तंभित रह जाता है कि प्रेमचन्दजी तो उसी की स्थिति का वर्णन कर रहे हैं। वर्ण्य विषय से प्रेमचन्दजी का तादात्म्य इतना अधिक रहता है कि पाठक स्वयं भी प्रेमचन्दजी के साथ बहने लगता है। समाज का कोई वर्ग ऐसा नहीं जिस पर प्रेमचन्दजी ने कहानी न लिखी हो। क्या खोमचे वाला, क्या तांगे वाला, क्या घास वाली, क्या रानी, क्या पंडित, क्या चमार, क्या अध्यापक, क्या वकील, क्या विद्यार्थी, क्या डाक्टर, क्या व्यापारी, क्या बालक और क्या वृद्ध--प्रेमचंद की लेखनी इन सभी को अपनी विस्तृत परिधि में समेट लेती है। 'गोदान' को छोड़ कर अपने शेष साहित्य में प्रेमचन्द एक आदर्शवादी कलाकार क रूप में उभर कर आते हैं। किन्तु उनकी आदर्शवादिता ने या उनकी उपदेशात्मक वृत्ति ने उनके साहित्य-सौंदर्य को कहीं कलंक नहीं लगाया। प्रेमचन्दजी का आदर्शवाद वर्णन का न होकर परिणाम का है इसीलिये उनका साहित्य उपदेशात्मकता की नीरसता से बच सका। वर्णन और परिणाम से अभिप्राय है कि जब प्रेमचन्दजी किसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति का चित्रण अपनी लेखनी से करते हैं, तो उनकी आदर्शवादी भावनायें कभी उसमें बाधक नहीं होतीं अर्थात् वे उनका यथावत् चित्रण कर देते हैं। वे अपनी ओर से कोई हेर-फेर उसमें नहीं करते हैं। कहानी या उपन्यास के परिणाम को वे आदर्श के अनुकूल रखते हैं। इसीलिये उनका आदर्शवाद भी यथार्थोन्मुख आदर्शवाद के नाम से अभिहित है।

प्रेमचन्दजी की कहानियों का ही नहीं, उनके पूरे साहित्य का आधार है--सामयिक सामाजिक समस्यायें। अमर रचनायें देने के ढोंग में प्रेमचंदजी ने कभी युग समस्याओं की उपेक्षा नहीं की। इसीलिये तो उनकी कहानियाँ और उपन्यास पाठक के हृदय और मस्तिष्क पर छा जाते हैं। समाज में जो कुछ कुरूप हैं, जो कुछ वीभत्स हैं, एक पलायनवादी

कलाकार की भाँति प्रेमचंदजी ने कभी उससे आँखें नहीं चुराईं अपितु उसे अपनी खुली आँखों से देख कर और रचनाओं में उसे तद्वत व्यक्त करके समाज की आँखें खोल दीं।

प्रेमचन्दजी का कथा साहित्य (कहानी और उपन्यास) कुछ सीमा तक कृषकों का साहित्य है। न तो प्रेमचंदजी से पूर्व और न उनके बाद किसी ने समाज के इतने बड़े भाग की बात ध्यान से सुनी और ध्यान से कही। कबीर से भी अधिक उग्र और मार्मिक रूप में प्रेमचंदजी ने समाज और धर्म के ठेकेदारों के पाखंडों की पोल खोल दी। प्रेमचंदजी का स्वयं का जीवन विरोध, क्रान्ति और दुखपूर्ण संघर्ष का जीवन था। प्रेमचन्दजी ने कभी किसी भी प्रकार के प्रभाव में आकर जिसे वे ठीक समझते थे उसे ग़लत और जिसे ग़लत समझते थे उसे ठीक नहीं कहा। उनके व्यक्तिगत जीवन की ईमानदारी उनके साहित्य से भी टपकती है। आश्चर्य होता है प्रेमचन्दजी के उस महान् अनुभव पर जो जीवन की किसी भी दिशा में न अपूर्ण है और न अपरिपक्व। प्रेमचन्दजी जब अध्यापक पर कहानी लिखते हैं तो पाठक अपने मन में विश्वास कर लेता है कि प्रेमचन्दजी अध्यापक अवश्य रहे होंगे, नहीं तो ये सब बातें वे कैसे लिखते ? इसी प्रकार जब किसी वकील के विषय में वे लिखते हैं तो लगता है उन्होंने वकालत अवश्य की होगी। यहाँ तक ताँगे वालों और खोमचे वालों के वर्णन यह बताते हैं कि प्रेमचंदजी ने उनके जीवन का अध्ययन करने में पूरा-पूरा समय लगाया होगा।

चरित्र-चित्रण, कथा का गठन, उद्देश्य की सफल अभिव्यक्ति कथोपकथन आदि की श्रेष्ठता की दृष्टि से हिन्दी का कोई कहानी लेखक प्रेमचन्दजी के समक्ष टिक नहीं पाता। तुलसी को लोग हिन्दी कविता संसार की आश्चर्यमयी घटना कहते हैं। प्रेमचन्दजी हिन्दी कहानी-साहित्य में एक आश्चर्यपूर्ण घटना है।

प्रेमचंदजी ने जिन समस्याओं को आधार बना कर कहानियाँ लिखीं, समाज पर उनका क्या प्रभाव पड़ा ? यदि यह कथन सच है कि साहित्य में क्रान्ति करने की क्षमता है तो वह पूर्णरूप से प्रेमचन्दजी की कहानियों पर चरितार्थ होता है। सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध प्रेमचन्दजी की लौह लेखनी ने भयंकर संघर्ष किया और बुराइयों एवं पाखण्डों के उस सुदृढ़ गढ़ को उसने एक बार हिला दिया। 'बड़े घर की बेटी', 'शान्ति', 'पंच परमेश्वर', 'दो सखियाँ' आदि ऐसी ही सामाजिक कहानियां हैं जो समाज के हलाहल

का पान कर अमृत उगलती हैं। प्रेमचन्दजी शोषितों के लेखक थे—भविष्य ही उनका सच्चा मूल्यांकन करेगा। भाव और भाषा की दृष्टि से वे शताब्दियों में उत्पन्न होने वाले महान् कलाकार हैं। यदि हिन्दी में ऐसे दस-पाँच कलाकार भी अवतरित हो जाते तो शोषक व्यवस्था का मूलोच्छेदन एक ध्रुव सत्य था। रूसो और वोल्टेयर से प्रेमचन्दजी का महत्व किसी प्रकार कम नहीं और सामाजिक क्रान्ति की ज्वाला भी उनकी रचनाओं में रूसो और वोल्टेयर से कम नहीं है। प्रेमचन्दजी की 'शान्ति' कहानी पढ़ कर तो लोगों ने लड़कियों को अंग्रेजी पढ़ाना बन्द कर दिया था। प्रेमचन्दजी द्वारा लिखित 'माघ की रात' निर्धनता का जैसा भयंकर और यथार्थ रूप चित्रित करती है, हिन्दी में हृदय को हिला देने वाली ऐसी अधिक कहानियाँ नहीं लिखी गई। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उनकी 'बूढ़ी काकी' और 'आत्माराम' कहानियाँ आज भी कला और विषय वस्तु की दृष्टि से हिन्दी कहानियों का मार्ग-प्रदर्शन करने की क्षमता रखती है। प्रेमचन्दजी की 'दो बैल' कहानी अपने ढंग की विचित्र कहानी है ! दो बैलों में अन्याय का विरोध करने की जो भावना है पाठक को पढ़ कर लगेगा कि वे बैल मनुष्यों को भी कुछ सिखा सकते हैं।

सारांश यह कि प्रेमचंदजी ने जो कहानियाँ हिन्दी साहित्य को भेंट की हैं वे कला और विषय वस्तु की दृष्टि से विश्व के समृद्ध साहित्यों की सर्वश्रेष्ठ कहानियों से टक्कर ले सकती हैं। प्रेमचन्दजी भारत के गोर्की थे। वे महान् मनुष्य और महान्तम कहानीकार थे। उनकी कहानियाँ मानसरोवर के विभिन्न भागों में संकलित हैं। (पहले ये कहानियाँ 'प्रेमद्वादशी', 'प्रेम पच्चीसी' आदि अनेक संग्रहों में संकलित थी)

यों प्रेमचंदजी जैसा महान् और समर्थ कलाकार तो हिन्दी के कहानी साहित्य को फिर नहीं मिला, फिर भी विविधता और उत्कृष्टता की दृष्टि से हिन्दी का कहानी साहित्य आशाजनक है।

हिन्दी में आज बहुत सुन्दर प्रगतिशील कहानियाँ लिखी जा रही हैं। यों ग्रामीण जीवन पर तो फिर प्रेमचन्दजी के अनुभव के साथ किसी ने लेखनी नहीं उठाई किन्तु समाज के शोषण को स्पष्ट करती हुई कहानियों का तो आज भी अभाव नहीं है।

प्रगतिशील कलाकारों में :—

श्री यशपाल, राहुल जी, डा० राँगेय राघव, कृष्णदास, गिरीश

अस्थाना, राजेन्द्र यादव आदि प्रमुख हैं। प्रेमचन्दजी के बाद हिन्दी की कहानी-कला श्री यशपाल के हाथों में बहुत कुछ सुरक्षित है। घटनाओं और वातावरण की दृष्टि से उनकी कहानियाँ प्रेमचन्दजी के टक्कर की हैं।

मनोवैज्ञानिक कहानीकारों में :—

इस दृष्टि से इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' तथा जैनेन्द्रकुमार आदि के नाम लिये जा सकते हैं। ऐसी कहानियों में घटना कम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अधिक होता है। हिन्दी में ऐसी कहानियों का भी समुचित विकास हो रहा है जो चरित्र-चित्रण, मनोवैज्ञनिक विश्लेषण तथा घटनाओं के उचित मिश्रण से अत्यन्त सुगठित एवं रोचक होती हैं। ऐसी कहानियाँ विचार-प्रधान कही जा सकती हैं। राजेन्द्र यादव द्वारा लिखित 'पिल्ला' और 'नरभक्षी' आदि कहानियाँ इस प्रकार की कहानियों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। कहानी के गठन, मार्मिकता तथा प्रभावात्मकता की दृष्टि से ये कहानियाँ प्रेमचन्द्र के रचना कौशल और प्रभावात्मकता से टक्कर लेती हैं।

विचार-प्रधान कहानी लेखकों में:—

सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, राजेन्द्र यादव, धर्मवीर भारती, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, श्रीमती ऋषभचरण जैन, चन्द्रवती सौनरिक्सा आदि प्रधान हैं।

रावीजी हिन्दी में अपने ढंग की विचित्र कहानियाँ लिख रहे हैं। वे कहानियाँ शेख़सादी की भाँति अत्यन्त छोटी और उपदेश-प्रधान होती हैं। ऐसी कहानियों की घटना प्रायः अलौकिकता के सम्मिश्रण से बनती है। इन कहानियों का परिणाम लेखक के उद्देश्य को स्पष्ट करता है।

सारांश यह कि हिन्दी कहानी-साहित्य की प्रगति संतोषजनक है। इस युग में विशेषरूप से कहानियों का प्रचार-प्रसार हो रहा है क्योंकि अपने व्यस्त जीवन में आज मनुष्य उपन्यास नहीं पढ़ पाता, अतः वह कहानी ही पढ़ना चाहता है।

———

:: ३ ::

उपन्यास-साहित्य का इतिहास

प्रारम्भिक युगः—

साहित्य के अन्य अंगों की भाँति हिन्दी के उपन्यासों का आरम्भ भी भारतेन्दु युग से ही माना जाता है। संस्कृत में कादम्बरी को लोग उपन्यास बताते हैं किन्तु कथा को छोड़ कर आधुनिक उपन्यास का कोई और तत्व उसमें भी नहीं मिलता। आधुनिक उपन्यासों के रूपनिर्णय में अँग्रेजी के Novel (उपान्यास) का बहुत कुछ हाथ है। बंगला में आधुनिक ढंग के उपन्यास ; हिन्दी से पूर्व लिखे जाने लगे थे; इसलिये आधुनिक उपन्यासों के विकास में बंगला उपन्यासों का प्रभाव भी साधारण नहीं है। कुछ दिन तक तो बंगला उपन्यासों के अनुवाद से ही हिन्दी जगत में उपन्यासों की पूर्ति की गई।

भारतेन्दु युग में जो उपन्यास लिखे गये, वे केवल आरम्भिक प्रयत्न की दृष्टि से तो प्रशंसनीय कहे जा सकते हैं; रूप (टेकनीक) की दृष्टि से नहीं।

लाला श्रीनिवासदास द्वारा हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास 'परीक्षागुरु' के नाम से लिखा गया। इसकी उपदेशपूर्ण शैली यद्यपि इसकी उत्कृष्टता में बाधक है, फिर भी भाषा की सजीवता उसमें पर्याप्त है। चरित्र-चित्रण तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की बात भी उस समय नहीं सोची जा सकती थी। लाला श्रीनिवासदास को उपन्यास लिखने में इतनी सफलता नहीं मिली जितनी नाटक लिखने में।

इसके पश्चात् श्री राधाकृष्णदास (भारतेन्दु बाबू हरिश्चद्र के फुफेरे भाई) ने भी उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया किन्तु वे भी जितने सफल नाटककार ;थे उतने सफल उपन्यासकार न हो सके।

इन्होंने एक मौलिक उपन्यास 'निस्सहाय हिन्दू' नामक लिखा और कुछ उपन्यासों का बंगला से हिन्दी में अनुवाद भी किया। 'स्वर्णलता', 'मरता क्या न करता' उनके अनुवादित उपन्यास हैं।

अनुवाद युगः—

उपरोक्त उपन्यासों के पश्चात् हिंदी में जो उपन्यास लिखे गये उनमें बंगला से अनुवादित उपन्यास अधिक थे, मौलिक कम। इसलिये अनुवाद में इस लम्बे युग को 'अनुवाद युग' कहना अनुपयुक्त न होगा। बंगला के अतिरिक्त दूसरी प्रान्तीय भाषाओं से भी हिंदी में अनुवाद-कार्य हुआ किन्तु अधिक नहीं। उर्दू और अँग्रेजी से हिंदी में उपन्यासों का अनुवाद करनेवालों में श्री रामकृष्ण वर्मा का नाम प्रमुख है। इनके अनुवादित उपन्यासों में, 'ठग वृत्तान्त' (सं० १९४६), पुलिस-वृत्तान्त माला (१९४७), 'अकबर' (१९४८), 'अमला वृत्तान्त-माला' (१९५१) आदि प्रमुख हैं। वर्माजी के बंगला से अनुवादित 'चित्तौर चातकी' नामक उपन्यास को लेकर तो एक आंदोलन ही खड़ा हो गया। बात यह थी कि उस उपन्यास के कुछ स्थल चित्तौर के राजवंश के सम्मान तथा मर्यादा के विरुद्ध थे, फल यह हुआ कि इस उपन्यास की सभी प्रतियाँ गङ्गा में प्रवाहित कर दी गईं।

इस अनुवाद युग में गोपालराम गहमरी का नाम अविस्मरणीय है। इन्होंने बंगला के कितने ही श्रेष्ठ सामाजिक (परिवारिक) उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद किया। मुख्य उपन्यास थे 'दो बहिन' 'तीन पतोहू', 'सास पतोहू', 'देवरानी जिठानी' तथा 'बड़ा भाई' आदि। इस काल में जिन बंगला लेखकों की कृतियों का अनुवाद हिन्दी में किया गया उनमें बंकिमचंद्र, शरच्चंद्र चंडीचरण सेन, चारुचंद्र तथा रवींद्र बाबू आदि प्रमुख हैं। रवींद्र बाबू के उपन्यास 'आँख की किरकिरी' का अनुवाद भी हिंदी में हुआ। आज तो उपरोक्त लेखकों की प्रायः सम्पूर्ण कथा-कृतियों का हिंदी में अनुवाद हो चुका है। गोपालराम गहमरी भी सफल अनुवादक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनकी भाषा सजीव, सरल और आकर्षक है। अनुवाद के लिये जैसी प्रवाहपूर्ण भाषा की आवश्यकता होती है, वैसी ही भाषा गहमरी जी ने लिखी है।

बाबू रामचंद्र वर्मा ने मराठी के 'छत्रसाल' नामक उपन्यास का सुन्दर नुअवाद हिंदी में प्रस्तुत किया। अँग्रेजी से जिन उपन्यासों का

हिंदी में अनुवाद हुआ, उनमें 'टामकाका की कुटिया' तथा 'लंदन रहस्य' प्रमुख हैं।

इस अनुवाद युग से एक बात स्पष्ट है कि उस समय दरिद्र हिंदी साहित्य याचक वृत्ति पर जीवन निर्वाह कर रहा था। अपने भंडार को उसने इस भिक्षान्न (अनुवादित साहित्य) से ही भरा। हिंदी जगत के लिये यह गौरव की बात तो अवश्य नहीं थी, फिर भी इससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि लोग उपन्यासों के प्रति आकृष्ट हो गये और इस प्रकार हिंदी में मौलिक उपन्यासों के लिये इन अनुवादित उपन्यासों ने एक क्षेत्र बना दिया। हिन्दी उपन्यास साहित्य की प्रगति में इन अनुवादित उपन्यासों का आभार न मानना साहित्यिक कृतघ्नता होगी। हिंदी का उपन्यास साहित्य आज जिस उन्नत दशा में है, हिंदी में आज उपन्यास पाठकों की संख्या, जो किसी भी दूसरी प्रांतीय भाषा से अधिक है, उसका बहुत कुछ श्रेय इन अनुवादित उपन्यासों को देना न्याय-संगत ही है।

हिन्दी में हम इस समय जो थोड़े बहुत मौलिक उपन्यास लिखे गये जहाँ उनकी संख्या नगण्य है वहाँ कला की दृष्टि से भी उसका स्थान अत्यन्त निम्न है। मौलिक उपन्यासों के नाम पर इस काल में जो कुछ उपन्यास मिलते हैं, वे प्रायः जासूसी, तिलस्मी या अय्यारी उपन्यास हैं।

बाबू देवकीनन्दन खत्री का नाम हिंदी के मौलिक उपन्यासकारों में प्रथम है। जहाँ तक विषय और रूप का प्रश्न है आज की दृष्टि से उनका मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिये। हिंदी में उनका ऐतिहासिक महत्व है। यद्यपि खत्रीजी के उपन्यास साहित्य का भवन तिलस्म और अय्यारी की अनुन्नत भूमि पर खड़ा है पर उस समय वही एक आश्चर्य की वस्तु थी। खत्रीजी ने अपने रोचक और सरल भाषा में लिखे घटना-प्रधान उपन्यासों की ओर जनता का ध्यान विशिष्ट रूप से आकर्षित किया। हिन्दी में उन्होंने उस समय पाठकों की संख्या बढ़ाई जब कि वह शोचनीय थी। हिन्दी में तो उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द को छोड़ कर शायद ही किसी उपन्यासकार को इतने पाठक मिले हों। अहिन्दी भाषा-भाषियों ने केवल उनके उपन्यास पढ़ने के लिये ही हिन्दी सीखी यह एक सर्वमान्य सत्य है। खत्रीजी के जो उपन्यास सबसे

अधिक प्रसिद्ध हुए, वे हैं 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति', किन्तु इसके अतिरिक्त और भी कई घटना-प्रधान उपन्यास उन्होंने लिखे हैं जैसे—'नरेन्द्र मोहिनी', 'कुसुम कुमारी', 'वीरेन्द्रवीर' आदि।

खत्रीजी के उपन्यास विशुद्ध घटना-प्रधान हैं, न उसका कोई विशिष्ट उद्देश्य है और न जीवन-प्रदर्शन। पूरा उपन्यास पढ़ जाने के पश्चात् भी पाठक के हाथ कुछ नहीं लगता क्योंकि इन उपन्यासों में घटनाओं की सृष्टि किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिये नहीं की गई अपितु घटनाओं का सृजन घटनाओं के लिये ही किया गया है। इसलिये ऐसे उपन्यासों में जहाँ घटनाओं का आकर्षण है वहाँ उद्देश्य-हीनता का दोष भी इनमें है। किन्तु जिस काल में इन उपन्यासों का प्रणयन हुआ उसको देखते हुए इनका यह दोष क्षम्य है क्योंकि हिन्दी में उस समय तक उपन्यास की कोई टेकनीक (शास्त्रीयपक्ष) नहीं थी। ऐसे उपन्यासों की भाषा अत्यन्त सरल और चलती हुई होती थी। उसे 'हिन्दुस्तानी' कहा जा सकता है। उर्दू शब्दों का—जो बहुप्रचलित हैं—प्रयोग इन उपन्यासों में खुल कर किया गया है। खत्रीजी के इन उपन्यासों के विषय में आचार्य शुक्ल का मत द्रष्टव्य है—

"इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना-वैचित्र्य रहा, रस-संचार, भाव-विभूति या चरित्र-चित्रण नहीं। ये वास्तव में घटना-प्रधान कथानक या क़िस्से हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं; इससे ये साहित्य कोटि में नहीं आते। पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनन्दन का स्मरण इस बात के लिये सदैव बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किये उतने और किसी ग्रन्थकार ने नहीं। 'चन्द्रकान्ता' पढ़ने के लिये ही न जाने कितने लोगों ने हिन्दी सीखी।"

हिन्दी में ऐसे घटना-प्रधान उपन्यासों की परम्परा अभी तक चली आती है। बाबू देवकीनन्दन खत्री इस परम्परा के आदि पुरुष हैं। परवर्त्ती लेखकों ने ऐसे उपन्यास लिखने की प्रेरणा उन्हीं की कृतियों से ली। लेकिन जैसा शुक्लजी का मत है—साहित्य में ऐसे उपन्यासों का कोई स्थान नहीं होता क्योंकि चरित्र-चित्रण, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, मार्मिकता और साहित्यिक अभिव्यक्ति का इनमें अभाव होता है। अलौकिता-प्रधान ये उपन्यास अस्वाभाविकता के हिम से निर्जीव और ज़ीवन ऊष्मा की स्वाभाविकता से कोसों दूर रहते हैं। विशुद्ध कल्पना-

प्रसूत ये उपन्यास जीवन स्पंदन से रहित केवल मनोरंजन की वस्तु हैं। साहित्य, जीवन के लिये महान् संदेश देने का जो कार्य करता है उसका इस उपन्यास साहित्य में नितांत अभाव है। किसी राजकुमार और राजकुमारी का प्रणय-वृत्त ही इस उपन्यासों की संकीर्ण परिधि बनाता है। वे राजकुमार और राजकुमारी भी इस लोक से अधिक अप्सरा लोक के प्राणी होते हैं। विश्व की सब अलौकिकताओं से युक्त। अतः जहाँ तक प्रकार का सम्बन्ध है ये 'नानी की कहानी' के अधिक निकट पढ़ते हैं।

किशोरीलाल गोस्वामी हिन्दी में सम्भवतः संख्या में सबसे अधिक उपन्यासों के स्रष्टा हैं। लगभग ७५ उपन्यास इनके द्वारा लिखे बताये जाते हैं किन्तु वे उच्चकोटि के उपन्यास नहीं हैं। गोस्वामी जी ने साहित्यिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक सभी प्रकार के उपन्यास लिखने की कृपा की है किन्तु उन्होंने अपने उपन्यासों के लिये अध्ययन करने का कुछ भी कष्ट नहीं किया है। यह उनके उपन्यासों से स्पष्ट हो जाता है। इसलिये उनके उपन्यास अनैतिहासिकता, अप्रामाणिकता और असंगतता के रोग से पीड़ित हैं। गोस्वामीजी के उपन्यासों में कालानुसार वातावरण का अभाव है। गोस्वामीजी में साहित्यिक सहृदयता का अभाव पाया जाता है जैसा कि आजकल 'पंत' 'अज्ञेय' में मिलता है, फलस्वरूप उनका साहित्य, लोक-कल्याणकारी, विविध मानवीय-भावनाओं का सहजक्षेत्र न रह कर उनके व्यक्तिगत अहं का सक्रिय ज्वालामुखी बन जाता है जिसमें उनकी रुद्ध और असामाजिक भावनाओं का तप्त, क्षुब्ध, सतत-प्रवहनशील लावा समाज के अस्तित्व के लिये भयानक अभिशाप बन जाता है। गोस्वामी जी प्रस्तुत विषय के सहज चित्रण को छोड़ कर अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के प्रदर्शन में ही लगे रहे। ऐसा लगता है कि पाठकों को विषय से अधिक अपने ज्ञान का परिचय देना ही उनका उद्देश्य रहा। इसीलिये गोस्वामीजी की भाषा कहीं तो प्रायः संस्कृत हो गई है और कहीं प्रायः फ़ारसी। उनके उपन्यासों में से कुछ के नाम हैं—'राजकुमारी', 'रजिया बेग़म', 'लीलावती', 'लवंगलता', 'हीराबाई', 'हृदय हारिणी', 'तारा', 'चपला', 'लखनऊ की क़ब्र' आदि।

अयोध्यासिंह उपाध्याय हिन्दी में कवि के नाते प्रतिष्ठित हैं किन्तु उन्होंने कुछ उपन्यासों का सृजन भी किया है, जैसे 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' तथा 'अधखिला फूल'। हरिऔधजी के साहित्य में जो पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति मिलती है उनके उपन्यास भी इस प्रवृत्ति के अपवाद नहीं हैं।

उपन्यास लिखने के लिये जिस घटना, कौशल और सरस-सरल अभिव्यक्ति की अपेक्षा होती है, उसका हरिऔध जी में अभाव है। सरस और धार्मिक आख्यानों को कविता का रूप देना एक बात है और दैनिक जीवन की नीरस तथा शुष्क बातों को आकर्षक रूप में व्यक्त करना दूसरी बात। हरिऔधजी को अन्तिम बात का अभ्यास नहीं है। वे कवि हैं उपन्यासकार नहीं। हरिऔधजी के साथ ही लज्जाराम महता का नाम भी स्मरण हो जाता है जिन्होंने बिना औपन्यासिक कौशल और प्रतिभा के कुछ उपन्यासों का प्रणयन किया यथा 'धूर्त', 'रसिकलाल', 'बिगड़े का सुधार' तथा 'आदर्श सिंह' आदि। शुक्ल जी ने इन दोनों लेखकों के विषय में अपने विचार उन शब्दों में प्रकट किये हैं—

"—ये दोनों महाशय वास्तव में उपन्यासकार नहीं। उपाध्याय जी कवि हैं और महता जी पुराने अखबारनवीस।"

बाबू ब्रजनन्दन सहाय, बी० ए० के दो उपन्यासों का उल्लेख आवश्यक है। उनके नाम हैं—१—'सौंदर्योपासक' और 'राधाकान्त'।

प्रेमचंद युगः—

औपन्यासिकता की दृष्टि से, प्रेमचंदजी के पूर्व का उपन्यास-साहित्य हिंदी के लिये गर्वयोग्य वस्तु नहीं थी। उपन्यासों की पूर्व परम्परा को देखते हुए प्रेमचंदजी की प्रतिभा का विश्लेषण सम्भव नहीं। कारण प्रेमचंदजी से पूर्व 'उपन्यास कला' अत्यन्त पिछड़ी हुई और अविकसित थी, कला की कसौटी पर खरा उतरने वाला एक भी उपन्यास प्रेमचंदजी के समक्ष न था। अतः प्रेमचंदजी को अपना मार्ग आप बनाना पड़ा। उपन्यास की टेकनीक प्रेमचंदजी ने स्वयं बनाई और स्वयं ही उत्कृष्ट व कलापूर्ण उपन्यासों का सृजन किया। इससे पूर्व प्रेमचंदजी, उर्दू में लिखते थे और उर्दू साहित्यिकों में अपना स्थान बना चुके थे। उर्दू वाले भाषा माँजने का जितना ध्यान रखते हैं हिंदी वाले उतना नहीं। इसलिये प्रेमचंदजी उर्दू भाषा की विशेषताओं को लेकर हिंदी में आये। सचमुच वह एतिहासिक दिन था जिस दिन उर्दू छोड़ कर प्रेमचंदजी ने हिंदी में लिखना आरम्भ किया। कौन जानता था कि एक दूसरी भाषा का लेखक एक दिन हिंदी उपन्यास-जगत का सम्राट बन जायगा। आज भी जब उपन्यास-साहित्य परिमाण में इतना अधिक है तब भी उसने प्रकार में प्रेमचंदजी के उपन्यासों से कुछ भी

उन्नति की है ऐसा कहना कठिन है। हिंदी उपन्यास संसार में प्रेमचंदजी का आविर्भाव एक आश्चर्यमयी सुखद घटना है।

प्रेमचन्दजी ने हिंदी-साहित्य में सबसे पहले उपन्यासों का सम्बन्ध जीवन से जोड़ा। उनसे पूर्व का उपन्यास-साहित्य तिलिस्म-अय्यारी और जासूसी का क्रीड़ा-क्षेत्र था। प्रेमचंदजी एक सहृदय कलाकार थे। अतः युग समस्याओं से तटस्थ और अप्रभावित बने रहने का ढोंग उन्होंने कभी नहीं किया। वे 'युग-युग' के साहित्य के फेर में नहीं पड़े क्योंकि ऐसे साहित्य के षडयन्त्र को वे जानते थे। तुलसी के काव्य की भाँति प्रेमचन्दजी के उपन्यासों की पृष्ठभूमि अत्यन्त विस्तृत है। जीवन की विविधता के दर्शन जितने प्रेमचन्दजी के उपन्यास-साहित्य में होते हैं उतने अन्यत्र नहीं

प्रेमचन्दजी ने अपने युग की विभिन्न समस्याओं को लेकर उपन्यास लिखे। अब तक के पाठक केवल निर्जीव घटनाओं की उद्देश्यहीन कथा कृतियों से ही परिचित थे। सर्वप्रथम प्रेमचन्दजी में उन्होंने घटनाओं को भावों के सेवक के रूप में देखा। सार्थक घटनायें, सुन्दर सशक्त भाषा, युग जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति, प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में देख कर हिन्दी-भाषा-भाषी जनता जैसे कृतकृत्य हो गई।

जब प्रेमचन्द का प्रथम मौलिक सामाजिक उपन्यास 'सेवासदन' हिन्दी में आया तो हिन्दी जगत में एक सुख और आश्चर्य की लहर दौड़ गई। हिन्दी पाठकों के लिए ऐसा उपन्यास सर्वथा नई बात थी। यह उपन्यास उपन्यास-परम्परा में अपने पूर्वजों से किसी बात में सादृश्य नहीं रखता था। 'सेवासदन' अपने युग का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना गया। उपन्यास जगत में प्रेमचन्दजी की प्रतिभा का यह प्रथम विस्फोट था। उनके एक ही प्रहार में ढोंगी और पाखंडियों के पैर लड़खड़ा गये। उपन्यास का नायक एक वेश्या की बहिन से शादी कर ले यह उस काल की कितनी बड़ी साहित्यिक घटना थी। उसकी ठीक-ठीक कल्पना आज नहीं की जा सकती। हिन्दी पाठकों ने सर्वप्रथम इस उपन्यास के द्वारा समाज के अन्तर में झाँका और सुन्दर बाह्य आवरण के भीतर उसमें नर्क पलते देखा। समाज और धर्म के प्रतिष्ठित ठेकेदारों को भयंकर विषधरों के रूप में ढोंग की कुण्डली मारे और स्वार्थ की जिह्वा लपलपाते देखा। समाज वास्तव में जिनके विष से भयंकर रूप से पीड़ित था। प्रेमचन्दजी ने इस क्रान्तिकारी उपन्यास द्वारा उनका उद्घाटन कर दिया था।

सेवासदन लिख कर ही प्रेमचन्दजी की प्रतिभा निष्क्रिय नहीं हो गई। यह तो उनका पहला ही प्रयास था। प्रेमचन्दजी की सतत विकासमान प्रतिभा ने एक से एक अधिक सुन्दर और मार्मिक उपन्यासों की सृष्टि की। प्रत्येक आने वाला उपन्यास अपने पूर्व उपन्यास से अधिक सुन्दर रूप और मार्मिक विषय-वस्तु लेकर आया। स्थानाभाव के कारण प्रेमचन्दजी के सम्पूर्ण उपन्यासों का संक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं है। इसलिए उनके नाम-मात्र से ही कार्य चलाना पड़ेगा। सेवासदन के पश्चात् लिखे गये प्रेमचंदजी के उपन्यासों के नाम निम्नलिखित हैं :—

'प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, काया-कल्प, गबन, प्रतिज्ञा, निर्मला, गोदान' आदि। प्रेमचंद के इन उपन्यासों ने समाज की सभी समस्याओं को अपनी विस्तृत परिधि में समेट लिया है। 'वेश्यावृत्ति, स्त्रियों की आभूषण प्रियता और उसके दुखद परिणाम, विधवा-समस्या, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह सामाजिक, राजनैतिक, और धार्मिक समस्यायें तथा देश के घोर दारिद्र्य से उत्पन्न समस्यायें' प्रेमचन्दजी के विभिन्न उपन्यासों का विषय बनीं हैं।

कुछ शब्द प्रेमचन्दजी के दृष्टिकोण के विषय में लिखना आवश्यक है। 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' से पहले तक प्रेमचन्दजी की कला में एकरूपता मिलती है। प्रेमचन्दजी का उपदेशक रूप इन सब उपन्यासों में समान रूप से मिलेगा। प्रेमचन्दजी का दृष्टिकोण अपने इन पूर्व उपन्यासों में प्राचीन परम्परा और रूढ़ियों के प्रति विध्वन्स या आमूल नाश का नहीं है अपितु सुधार का है। इसलिए प्रेमचन्द जी के इन उपन्यासों में यथार्थ-वादी चित्रण तो है परन्तु प्रेमचन्द जी का पूर्व निश्चित उद्देश्य ही उन उपन्यासों का परिणाम बन जाता है। फलतः उनके ये अधिकांश उपन्यास उपदेश-प्रधान से हो गये हैं। यह कहना तो युक्ति-युक्त नहीं होगा कि प्रेमचन्दजी के इन उपन्यासों में रोचकता या मार्मिकता का अभाव है। हिन्दी कथा साहित्य में घटनाओं के सृजन की ऐसी अदम्य प्रतिमा किसी दूसरे कलाकार में नहीं दिखाई देती। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्दजी ने जमीदार किसान समस्या ली है। जमींदारों और किसानों के स्वार्थों में एक मूलभूत विरोध है जिसका आधार वैज्ञानिक है। प्रेमचन्द जी ने तब यह बात स्पष्ट रूप में नहीं समझी थी। इसलिये 'प्रेमाश्रम' में उन्होंने जमींदारों को अधिक उदार होने तथा प्रजा को पुत्रवत् मानने का

परामर्श दिया है, उधर किसानों को उन्होंने स्वामीभक्त होने का उपदेश दिया है। इसी प्रकार 'गोदान' को छोड़ कर उनके अन्य उपन्यासों में भी यही समन्वयवाद तथा पुनर्सुधार का स्वर अधिक ऊँचा है। बंगाली उपन्यासकार (विशेषरूपेण शरद्) अपने उपन्यासों में अपने विचारों का वाहक किसी पात्र विशेष को बना लेते हैं। प्रेमचंदजी अपना विचार-वाहक किसी निश्चित पात्र को न बना कर हर पात्र के मुँह से अवसर पड़ने पर अपनी बात कहला देते हैं। 'गोदान' से पूर्व के उपन्यासों में प्रेमचन्दजी का अनुभव अपेक्षाकृत अपरिपक्व, उनका स्वयं का चिन्तन अपेक्षाकृत अपूर्ण और लेखनी अपेक्षाकृत कमी सधी हुई थी। उनकी ये सब विशेषतायें 'गोदान' में अपने पूर्णतम रूप में पहुँचती हैं।

प्रेमचन्दजी के जीवन भर के अनुभव, चिन्तन और उनकी साहित्यिक साधना का सुपरिणाम है उनका 'गोदान' उपन्यास। अकेला 'गोदान' उपन्यास उनकी साहित्यिक साधना को दो भागों में बाँट देता है। 'गोदान' और 'गोदान' से पूर्व का साहित्य एक ही बात नहीं है। 'गोदान' से पूर्व का उनका साहित्य एक बात है और 'गोदान' दूसरी बात। व्यक्ति और समाज के विरोधों को पाटने के लिये प्रेमचन्दजी की समन्वयवादी आदर्शोन्मुख यथार्थवादी लेखनी धैर्य के साथ एक युग तक अविराम गति से चलती रही। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचन्दजी को 'गोदान' से पूर्व अपने समाज और इसकी परम्पराओं के प्रति वैसा ही मोह था जैसा कि 'गोदान' में होरी को अपने खेतों के प्रति था। उनकी लेखनी समाज को सुधार पायेगी इसका उन्हें हार्दिक विश्वास था। किन्तु 'गोदान' का प्रणयन हिन्दी उपन्यास साहित्य की एक महान् घटना तो है ही किन्तु प्रेमचन्दजी के साहित्यिक जीवन की महान्तर और कठोरतम घटना है। 'गोदान' ने प्रेमचन्दजी के पूर्वप्रणीत उपन्यासों के महत्त्व को तो कम नहीं किया, किन्तु प्रेमचन्दजी के जो विश्वास उन उपन्यासों के आधार थे 'गोदान' उनकी समाधि है। कुछ विद्वानों का कथन है कि 'गोदान' 'प्रेमाश्रम' का प्रायश्चित है। यह आंशिक सत्य है। पूर्ण सत्य तो यह है कि 'गोदान' प्रेमचन्दजी के पूरे साहित्यिक जीवन का प्रायश्चित है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन भर अपरिपक्व और अव्यावहारिक दृष्टिकोण का भार अपने मन-मस्तिष्क में व्यर्थ वहन करते रहने का क्रोध और क्षोभ इस उपन्यास (गोदान) में साकार हो गया

है। प्रेमचन्दजी से अधिक ईमानदार साहित्यिक की कल्पना करना भी कठिन है जिसने जीवन की संध्या में अपनी साधना की असफलता स्वीकार कर 'गोदान' के रूप में नवीन साधना का शुभारम्भ किया। गोदान उपदेशात्मक उपन्यास नहीं है—समन्वय तथा समझौते का उपन्यास नहीं है। इस आर्थिक विषमता और वर्गस्वार्थों से भरे संसार में यह समन्वय का काम उन्हें स्वयं ही घृणित लगा। इसीलिये प्रेमचन्दजी ने 'गोदान' में सुधार का नहीं, सड़ी गली समाज-व्यवस्था और अशुभ प्राचीन परम्पराओं के विध्वन्स तथा समूल नाश का स्वर ऊँचा किया है। अपनी आन्तरिक सचाई से वर्तमान समाज-व्यवस्था को माननेवाले, पाषाणों, पाषाणपूजकों, धर्म और समाज के ठेकेदारों को पूरी श्रद्धा से पूजने वाले, अपने सर्वनाश को अपने समक्ष साकार देख कर भी यमदूत के समान पञ्चों के न्याय कुठार के सामने अपनी गर्दन सहर्ष झुका देने वाले, अपने भोलेपन के कारण इन निर्मम स्वामी-जोंकों को अपने रक्त की अन्तिम बूँद तक चुसा देने वाले, धर्म की निष्ठुर बलिदेवी पर अपना सर्वस्व बलिदान करनेवाले लोगों का इस सड़ी-गड़ी समाज-व्यवस्था में जो परिणाम होता है प्रेमचन्दजी ने उसे केवल एक शब्द में व्यक्त कर दिया है। 'होरी' ही यह वह शब्द है जिसमें शोषित भारत की सामाजिक, धार्मिक तथा साँस्कृतिक परम्परायें, शोषकों की स्वार्थाग्नि में धू धू करके जल रही हैं। प्रेमचन्दजी इस उपन्यास में पूर्ण यथार्थवादी रूप में प्रकट हुए हैं। उनका जीवनव्यापी 'आदर्श' इस उपन्यास में प्रायश्चित की अग्नि में आ बैठा है।

भारतीय संस्कृति का प्राचीन चौखटा अब चरमरा उठा है, 'गोदान' में उसका शब्द स्पष्ट रूप से सुनाई देता है। अपने आदर्श बाहुल्य के कारण प्रेमचन्दजी उपन्यासकला में बंगाली उपन्यासकारों से पीछे गिने जाते थे परन्तु 'गोदान' में प्रेमचन्दजी इन लोगों को बहुत पीछे छोड़ गये हैं। बंगाली लेखकों का यथार्थवाद हाथ घुमाकर नाक पकड़ने का यथार्थवाद है अर्थात् सामाजिक दुर्भाग्य की मूल समस्या को उन्होंने स्पष्टतः नहीं समझा है इसके लिए वे कहीं तो धर्म, कहीं समाज और कहीं व्यक्ति के चरित्र को दोषी ठहराते हैं किन्तु प्रेमचंदजी ने दुर्भाग्य की इस मूलशिरा को ठीक-ठीक समझा था और इसीलिये उनका गोदान इस सामाजिक राजरोग के मूल—आर्थिक विषमता—के नाश का ही उचित निदान करता है। आर्थिक विषमता को प्रेमचन्दजी राष्ट्रीय दुर्भाग्य का मूल कारण

मानते हैं। 'गोदान' यह दिखाता है कि गाँवों का आर्थिक ढांचा टूट गया है और इस प्रकार देश का मेरुदंड ही टूट गया है राष्ट्र की कमर झुक गई है। प्रेमचन्दजी के ऊपर गोदान से पूर्व तक गांधीजी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उन्होंने कांग्रेस के असहयोग आंदोलन में सक्रिय भाग भी लिया था किन्तु 'गोदान' में जैसे उनके गांधीवादी संस्कार बिलकुल धुल-पुछ गये हैं। 'गोदान' आधुनिक युग की रामायण है। हमारे समाज की छोटी से छोटी समस्या, छोटी से छोटी कमी उसकी परिधि के बाहर नहीं है। 'गोदान' शान्ति का नहीं क्रान्ति का शंखनाद करता है। वह सुधार का नहीं आमूल चूल परिवर्तन का मन्त्र देता है। प्रेमचन्द जी का अन्तिम और अपूर्ण उपन्यास 'मंगलसूत्र' तो क्रान्ति की चिनगारियों का अक्षयकोष है। कहते हैं कि इस उपन्यास में प्रेमचन्दजी अपने घोर क्रान्तिकारी रूप में आ रहे थे यह सच इसलिये है कि उनके दृष्टिकोण के आमूल परिवर्तन की सूचना तो 'गोदान' ही दे चुका था। प्रेमचन्दजी इस बात को भलीभांति समझ गये थे कि शोषकवर्ग के हृदय परिवर्तन की आशा, अग्नि से शीतलता उत्पन्न करने के प्रयत्न के समान ही दुराशापूर्ण थी।

जयशंकर प्रसाद का हिन्दी उपन्यास साहित्य में विशिष्ट स्थान है। लेकिन प्रसादजी पहले कवि हैं बाद में कुछ और। यह बात तथ्यपूर्ण जान पड़ती है क्योंकि प्रसाद जी का कवि के नाते जो स्थान हिन्दी में है वह इतना व्यापक और उच्च है कि उनके शेष रूप उसकी छाया में निष्प्रभ और अविकसित लगते है। प्रसादजी और महादेवी वर्मा के विषय में एक बड़ी विचित्र बात यह है कि वे अपने काव्य में जितने ही अधिक काल्पनिक हैं, अपने गद्य में उतने ही अधिक यथार्थ। कल्पना-परी को सम्भवतः गद्य के सादा और रंग विहीन पंख इतने अधिक पसंद नहीं जितने पद्य के सुन्दर और चित्रविचित्र पंख। इसलिए गद्य जहाँ अपेक्षाकृत नीरस होने के लिये बाध्य है वहां यथार्थता उसकी चिरसहवर्तिनी अभिन्न सखी भी है। प्रसादजी के द्वारा लिखे तीन उपन्यास मिलते हैं; 'कँकाल' 'तितली' और 'इरावती'। 'इरावती' अपूर्ण उपन्यास है। प्रसादजी का 'कंकाल' समाज के कंकाल का नग्न चित्र हैं। इसमें प्रसादजी घोर यथार्थवादी कलाकार के रूप में दिखाई देते हैं। प्रसादजी ने सामाजिक समस्याओं के विषय में जीवन भर जो मनन किया था और अपने काव्य में जिसका वे उपयोग नहीं कर सके; शायद उसी को व्यक्त करने के लिये उन्हें उपन्यासों का माध्यम ग्रहण करना

पड़ा। प्रसादजी के उपन्यासों को पढ़ने से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं:-
१—सामाजिक समस्याओं पर प्रसादजी ने गंभीर चिन्तन किया है।
२—औपन्यासिक कौशल का उनमें अभाव है।

इस विषय में कुछ बंगाली लेखकों से उनकी समानता और असमानता दिखाना असंगत न होगा। शरच्चन्द्र का 'शेष प्रश्न' सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण कोष प्रतीत होता। किन्तु शरद् भारत के सर्वश्रेष्ठ सिद्धहस्त उपन्यासकारों में से एक हैं इसलिये उनके विश्लेषणों की कुरूपता कथा के प्रवाह में बह जाती है। पाठक की दृष्टि उस पर स्थिर ही नहीं हो पाती। प्रसादजी में यह बात नहीं है उनकी मन्दगामी कथा में उनके ये विश्लेषण पाठक की दृष्टि को अपने ऊपर ही केन्द्रित कर लेते हैं और नीरसता का दोष उपन्यास में उत्पन्न कर देते हैं। प्रसादजी भावों के कलाकार हैं वे घटना सृष्टि में कुशल नहीं हैं। जैसे प्रेमचन्दजी और यशपाल। इसलिये प्रसादजी के ये विश्लेषण कथा प्रवाह में मिलते नहीं हैं, अपितु 'नदी के द्वीपों' की सदृश्य कथा प्रवाह में अलग उभरे हुए दिखाई देते हैं और इस प्रकार कथा के प्रवाह में बाधा ही उत्पन्न करते हैं। प्रसादजी की शैली भी उपन्यासों के लिये उपयुक्त नहीं है। कहीं तो यह कविता की भांति दुरूह और काव्य-प्रधान हो जाती है कहीं निबंधों की भाँति शुष्क। फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि प्रसादजी ने अपने उपन्यासों में अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण उपस्थित किया है जो उनकी कविता से भिन्न है। इसलिये प्रसादजी का उपन्यासकार के रूप में भी एक विशिष्ट व्यक्तित्व है।

आधुनिक युग :—

प्रेमचन्दजी ने जिस धारा को प्रवाह और विकास दिया वह उत्तरोत्तर गहरी और विस्तृत ही होती गई। बाद के लेखकों में पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', बाबू प्रतापनरायण श्रीवास्तव, जैनेन्द्रकुमार, वृन्दावनलाल वर्मा, आचार्य चतुर्सेन शास्त्री, 'सुदर्शन', 'उग्र', भगवतीचरण वर्मा, धर्मवीर भारती, 'अश्क', 'अंचल', 'निराला' आदि का नाम आता है।

इनमें से वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। यों तो उन्होंने सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं और

सफलतापूर्वक भी । 'मृगनयनी', 'विराटा की पद्मिनी', 'गढ़कुण्डार', 'झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई', 'साहिबजू' आदि उनके प्रमुख उपन्यासों के नाम हैं ।

शेष लेखक सामाजिक उपन्यासों के प्रणेता के रूप में ही प्रसिद्ध हैं ।

उपन्यासों के इस चरम विकास के युग में कितनी ही विशिष्ट प्रवृत्तियाँ इन उपन्यासों में मिलेंगी । समान्यतः आज के उपन्यास जाति, धर्म तथा देश के बन्धन तोड़ कर नई मानवता के निर्माण में कृतप्रयत्न हैं। आज के उपन्यासकारों में दो दल स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। एक तो वे जो व्यक्ति को लेकर चलते हैं और उसी के माध्यम से समाज को देखते हैं। इस प्रकार के उपन्यास मनोविश्लेषण पर अधिक बल देते हैं । दूसरे प्रकार के उपन्यास जो समाज का चित्रण करते हैं और समाज के माध्यम से व्यक्ति को देखते हैं। इस प्रकार के उपन्यास प्रेमचन्दजी की परम्परा में माने जायेंगे । मार्क्सवादी चिन्तन इन उपन्यासों की आधार भूमि होता है । आर्थिक क्रान्ति और धर्महीन समाज की स्थापना इन उपन्यासों की विषय वस्तु होती है। ऐसे उपन्यासों का दृष्टिकोण सामाजिक उपयोगिता का होता है। अतः सामाजिक आदर्शवाद इन उपन्यासों का स्वर होता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखकों में प्रमुख हैं :—

अज्ञेय—'शेखर', 'नदी के द्वीप' आदि इनके प्रमुख उपन्यास हैं ।

इलाचन्द्र जोशी—'सन्यासी', 'प्रेत और छाया' तथा 'मुक्तिपथ' आदि इनके प्रमुख उपन्यास हैं। इन लोगों के ऊपर पाश्चात्य उपन्यासकारों का विशेष प्रभाव है। यूरोप के मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यासों से ये प्रभावित हैं। अँग्रेजी का 'यूलिसीज' उपन्यास इस विषय संसार-प्रसिद्ध है। ऐसे उपन्यासों में घटना महत्त्वपूर्ण नहीं होती; महत्वपूर्ण होता है मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ।

मार्क्सवादी उपन्यासकारों में—यशपाल, राहुलसांकृत्यायन, कृष्णचन्द्र, अमृतलाल नागर, डा० रांगेयराघव आदि का नाम लिया जा सकता है।

इनमें भी यशपाल प्रमुख हैं। इनके 'दादा कॉमरेड' तथा 'मनुष्य के रूप' आदि प्रमुख उपन्यास हैं।

हिन्दी उपन्यासों की आज की प्रगति संतोषजनक है। नये नये प्रतिभाशाली लेखक इस क्षेत्र में आ रहे हैं। उपन्यासों का भविष्य निस्सन्देह उज्ज्वल है।

———

:: ४ ::

नाटक साहित्य का इतिहास

भारतेन्दु युगः—

हिन्दी में भारतेन्दु युग को ही नाटकों का आदि-युग मानना चाहिये। यद्यपि भारतेन्दु से पूर्व भी कुछ नाटकों का पता चलता है परन्तु वे नाम के ही नाटक हैं। नाटक की शास्त्रीय कसौटी पर वे खरे नहीं उतरते।

भारतेन्दु से पूर्व लिखे गये तीन नाटकों का उल्लेख करना आवश्यक है। पहला नाटक है 'आनन्द रघुनन्दन'—इसके लेखक हैं-महाराज विश्वनाथ सिंह। नाटक की भाषा खड़ी बोली न होकर ब्रजभाषा है।

दूसरा नाटक है 'नहुष' और इसके लेखक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्दजी बताये जाते हैं। यह नाटक भी खड़ी बोली में नहीं लिखा गया वरन् ब्रजभाषा में ही लिखा गया है।

तीसरा नाटक उपरोक्त सब नाटकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इस नाटक का नाम है 'शकुन्तला नाटक' और इसके लेखक हैं हिन्दी के प्रसिद्ध व्यक्ति राजा लक्ष्मणसिंहजी। यह नाटक मौलिक नहीं है। संस्कृत के कालिदास रचित 'शाकुन्तलम्' का यह अनुवाद है। अनुवाद में राजा साहब ने शुद्ध हिन्दी में लिखने का प्रयत्न किया है। उर्दू शब्दों के बहिष्कार की प्रवृत्ति इस नाटक से स्पष्ट परिलक्षित होती है। भाषा को शुद्ध हिन्दी बनाये रखने के कारण भाषा संस्कृतगर्भित अधिक हो गई है। इसमें सदेह नहीं यह नाटक जहाँ तक अनुवाद का सम्बन्ध है पूर्ण सफल रहा। पढ़ते समय पाठक यह नहीं जान पाता कि यह अनुवादित नाटक है।

स्वयं भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र हिन्दी नाटकों के आरम्भिक युग के सबसे अधिक समर्थ व्यक्ति हैं। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आदि सभी दृष्टियों से भारतेन्दु बाबू का युग सक्रांति-युग है। भारत का प्राचीन सांस्कृतिक ढाँचा रूढ़ि जर्जर हो रहा था और पाश्चात्य सभ्यता की चमक-दमक लोगों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर रही थी। लोग स्वभावतः उसकी ओर आकृष्ट हो रहे थे। हर व्यक्ति के हृदय में दो भावनाओं का संघर्ष हो रहा था —'प्राचीनता से चिपके रहें या नवीनता को ग्रहण करें।' भारतेन्दु युगीन साहित्य में विशेष-रूप से नाटकों में यह संघर्ष बहुत स्पष्ट रूप से उभर कर आया है।

भारतवर्ष में अँग्रेजों ने सर्वप्रथम बंगाल में अपने पैर जमाये। इसलिए उनके साथ-साथ अँग्रेजी भी बंगाल की उर्वरा और शस्यश्यामला भूमि पर क्रीड़ा करती रही। इस विदेशी श्वेताङ्गी का बंगालियों ने विशेष आदर किया और उसके प्रति विशेषरूप से अपनी भक्ति प्रकट की। बंगाल के आरम्भिक साहित्य में अँग्रेजी प्रभाव के अमिट चिन्ह स्पष्ट हैं। कुछ तो बंगला भाषा के माध्यम से और कुछ प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी का प्रभाव सभी प्रान्तीय भाषाओं पर पड़ा। भारतेन्दु स्वयं बंगाली जानते थे। उन्होंने गला के 'विद्यासुन्दर' नामक नाटक का हिन्दी में अनुवाद भी किया था। इसलिये एक तो बंगाली भाषा और साहित्य के सम्पर्क से तथा प्रत्यक्ष रूप से भी भारतेन्दु युगीन नाटक-साहित्य पर अँग्रेजी का प्रभाव पड़ा। स्वयं भारतेन्दु पर वह प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में पौर्वात्य तथा पाश्चात्य नाटक-तत्वों का सम्मिश्रण कर दिया है। उन्होंने भारतीय (संस्कृत) परम्परा के आधार पर अपने नाटकों में प्रस्तावना तो रखी है किन्तु कथावस्तु के संधि आदि अंगों की उन्होंने विशेष चिन्ता नहीं की। संस्कृत नाटकों में नाटक के अन्त में कल्याणसूचक पद्य रहता था जिसे भारत-वाक्य कहते थे। भारतेन्दु के कितने ही नाटकों में यह 'भारत वाक्य' मिलता है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक से ही इसका उदाहरण दिया जा सकता है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के अन्त में निम्नांकित पद्य भारत-वाक्य के रूप में लिखा मिलती है --

खलगन सौं सज्जन दुखी मत होंइ, हरि पद रत रहैं,
उपधर्म छूटै सत्य निज भारत गहै कर दुःख वहै।

बुध तजहिं मत्सर नारि नर सम होंइ सब जग सुख लहैं
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं ।

भारतेन्दु ने हिन्दी के दरिद्र नाटक भंडार को कितने ही नाटक-रत्न भेंट किये । भारतेन्दु ने अनुवादित और मौलिक दोनों प्रकार के ही नाटक पर्याप्त संख्या में लिखे । उनके प्रमुख नाटक हैं:—

१–विद्यासुंदर २–रत्नावली ३–पाखण्ड विडम्बना ४–वैदिकी हिंसा न भवति ५–धनंजय ६–प्रेमयोगिनी ७–सत्य हरिश्चन्द्र ८–मुद्राराक्षस ९–कर्पूरमञ्जरी १०–विषस्य विषमौषधम ११–चन्द्रावली १२–भारत दुर्दशा १३–भारत जननी १४–नीलदेवी १५–अंधेर नगरी १६ सती प्रताप ।

भारतेन्दु उच्चकोटि के सच्चे कलाकार थे । उनके नाटक अपने युग को प्रतिबिम्बित करते हैं । भारत को अंग्रेजी राज्य के अन्तर्गत देखना भारतेन्दु को अच्छा नहीं लगता है । सम्भवतः भारतेन्दु पहले हिन्दी साहित्य के लेखक हैं जिनकी रचनाओं में देशभक्ति का तत्व मिलता है । अँग्रेज भारत का आर्थिक शोषण कर रहे थे । भारतीय जनता की आर्थिक दशा विगड़ती जा रही थी । भारत की इस दुर्दशा को देख कर भारतेन्दु मौन रहने वाले नहीं थे । उन्होंने अपने भारत दुर्दशा नाटक में भारत की इस दुर्दशा का नग्न चित्र खींचा है और उस पर शोक के आँसू भी बहाए हैं:—

—"आवहु सब मिल कर रोवहु भाई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई ।।"

राष्ट्रीय धन को विदेश जाते देख कर उनका हृदय दुःख से कराह उठा ।

—"पै धन विदेश चलति यहै दुख भारी" ।

भारतेन्दु की देश और भाषा के प्रति लगन केवल उन्हीं तक सीमित नहीं थी । उन्होंने अपने व्यक्तिगत मित्रों के सहयोग से एक लेखक-मंडल तैयार किया था जो देश और भाषा की निरन्तर सेवा करता रहे । इस मंडल के प्रमुख व्यक्ति भारतेन्दु के प्रमुख मित्र थे और उन सभी में देश के प्रति उत्कट प्रेम, निडरता, व्यङ्ग की गहराई आदि विशेषतायें परिलक्षित होती हैं । भारतेन्दु द्वारा स्थापित इस मण्डल के कुछ व्यक्तियों की रचनाओं का नाम-निर्देश असंगत न होगा ।

श्री निवासदास—इन्होंने कई नाटक लिखे। प्रमुख हैं:—'संयोगिता स्वयंवर', 'प्रह्लादचरित', 'रणधीर प्रेममोहिनी', 'तपती संवरण', आदि। श्री निवासदास का 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक अपनी कुछ विशिष्टतायें रखता है।

१—वह एक दुखान्त नाटक है।
२—उसमें प्रस्तावना नहीं है।

भारतीय सिद्धान्त के अनुसार नाटक दुःखान्त नहीं होना चाहिए क्योंकि भारतीय नाटक घटना पर आधारित न होकर फल पर आधारित रहता है। फल भी निम्नांकित चार वस्तुओं में से एक होना चाहिये।

१-धर्म २-अर्थ ३-काम ४-मोक्ष। इसलिए फल को ध्यान में रख कर नाटक के कार्य व्यापार की निम्नांकित अवस्थायें होती थीं।

१-प्रारम्भ, २-यत्न, ३-प्राप्त्याशा, ४-नियताप्ति, ५-फलागम। नाटक में फल की प्राप्ति एक अनिवार्य बात थी। नायक धर्म का प्रतिनिधि होता था इसलिए फल की अप्राप्ति का अर्थ था नायक की असफलता जो कि धर्म विरुद्ध बात पड़ती थी। अतः भारतीय सिद्धान्त के अनुसार नाटक सुखान्त होने के लिए वाध्य था।

किन्तु पाश्चात्य नाटकों का आधार घटना होती है और नाटक के कार्य-व्यापार को वे घटना के आधार पर ही बाँटते हैं जैसे—

१-प्रारम्भ, २-संघर्ष का प्रारम्भ, ३-संघर्ष चरम सीमा की ओर, ४-चरमसीमा, ५-समाप्ति (१-दुख में भी और २-सुख में भी)।

पाश्चात्य नाटकों की समाप्ति दुख में ही अधिकतर होती है कारण उनका आधार कोई आध्यात्मिक सिद्धान्त नहीं है। संसार में वास्तव में जैसी घटनायें घटित होती हैं पाश्चात्य नाटकों में वे यथावत् लिख दी जाती हैं; उदाहरणार्थ सत्य पक्ष को पाश्चात्य नाटकों में पराजित भी दिखाया जा सकता है और असत्य पक्ष को विजयी भी दिखाया जा सकता है।

उपरोक्त दृष्टान्त से यह स्पष्ट है कि भारतीय नाट्य साहित्य पर भारतेन्दु युग में ही पाश्चात्य प्रभाव पड़ने लगा था। भारतीय नाट्य-शास्त्र के नियमों का पालन यथावत् नहीं किया जाता था

इसके अतिरिक्त 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक में भारतीय नाटकों की भाँति प्रस्तावना भी नहीं थी।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु मंडल के अन्य लेखकों ने भी नाटक रचना की। कुछ प्रमुख नाटककारों एवं नाटकों के नाम इस प्रकार हैं:—

१—बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमधन'—भारत सौभाग्य, नाटक।
२—तोताराम— केटी वृत्तान्त, नाटक।
३—पं० गदाधर भट्ट— रेस का विकट खेल, नाटक। वाद-विवाद तथा चन्द्रसेन।
४—पं० बालकृष्ण भट्ट— शिक्षादान।

भारतेन्दु युग में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के अतिरिक्त दो और लेखक विशेष प्रतिभाशाली थे:—

१—प्रतापनारायण मिश्र—इन्होंने चार नाटकों की रचना की जो पर्याप्त लोकप्रिय थे। १—गोसंकट नाटक, २—कलिप्रभाव, ३—जुआरी खवारी, ४—हठी हमीर। इसके अतिरिक्त मिश्रजी ने कितने ही प्रहसन भी लिखे जो लोगों ने बहुत पसन्द किये।

२—राधाकृष्णदास—ये भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे और भारतेन्दु युग के भारतेन्दु को छोड़कर सबसे अधिक लोकप्रिय और प्रतिभाशाली नाटककार थे। इन्होंने कई नाटक लिखे हैं:—

१—महारानी पद्मावती—यह ऐतिहासिक नाटक है।

२—महाराणा प्रताप—यह भी ऐतिहासिक नाटक है और अपने युग के सर्वाधिक सफल नाटकों में से एक है। इस नाटक का कितनी ही बार सफल अभिनय भी किया जा चुका है। इस नाटक में गुलाब और मालती की एक सहायक कथा भी चलती है जिसके कारण नाटक की रोचकता और भी बढ़ जाती है।

'दुखिनी बाला'—जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है—यह एक सामाजिक नाटक है। हमारे समाज में अधिकांश स्त्रियों का जीवन दुःखमय है। इसका मुख्य कारण है—यहाँ की वैवाहिक कुप्रथायें। यही इस नाटक में लेखक ने दिखाया है।

यों तो और भी कितने ही लेखक हैं जिन्होंने इस काल में नाटक लिखने का प्रयास किया किन्तु वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

भारतेन्दु युग में हिन्दी में अनेक मौलिक नाटक लिखे गये किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वयं बंगला के 'विद्या सुन्दर' नाटक का अनुवाद करके अनुवाद करने की एक परम्परा स्थापित करदी थी। भारतेन्दु के बाद के काल को यदि 'अनुवाद युग' कह कर पुकारें तो अत्युक्ति न होगी।

अनुवाद का यह कार्य भारतवर्ष में विशेषरूप से बंगला से तथा योरुप की अँग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं से किया गया शेक्सपीयर के कितने ही नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया गया। बंगला में मुख्यरूप से द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया गया, द्विजेन्द्रलाल के मुख्य नाटक हैं-'मेवाड़ पतन', 'शाहजहां', 'महाराणा प्रताप' आदि। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे घटना-प्रधान होते थे तथा अभिनेय होते थे। इसके विपरीत रवीन्द्रबाबू के नाटक घटनाहीन एवं भावप्रधान होने के कारण साहित्यिक तो अधिक होते थे किन्तु अभिनेय कम।

यह नहीं भूल जाना चाहिये कि इन दिनों लोगों में नाटक देखने और पढ़ने की रुचि बढ़ रही थी किन्तु नाटक कम लिखे गये थे। इसलिए बाहर की भाषाओं से अनुवाद तक कर के नाटकों को अभिनीत किया गया था। पारसी कम्पनियाँ भी नाटक खेलने का कार्य इस समय किया करती थीं। यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस काल का रंगमंच बहुत पिछड़ा हुआ और अविकसित दशा में था।

इसके पश्चात् हिन्दी में और भी अनेक मौलिक नाटक लिखे गये। इन नाटकों या नाटक लेखकों को हम सुविधा की दृष्टि से दो भागों में बाँट सकते हैं।

१—वे लेखक जो मौलिक नाटकों की रचना करते थे किन्तु जिनके नाटकों में दृश्य-काव्य से श्रव्य-काव्य के ही गुण अधिक रहते थे।

मिश्रबन्धु —इन्होंने 'नेत्रोतचीन' नामक नाटक लिखा।

पं० बद्रीनाथ भट्ट —इन्होंने 'चन्द्रगुप्त', 'बेनचरित्र' तथा 'दुर्गावती' आदि नाटक लिखे। 'चुंगी की उम्मेदवारी' नामक एक सफल प्रहसन भी भट्ट जी ने लिखा।

राय देवीप्रसाद पूर्ण —इन्होंने 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाटक लिखा।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त—इन्होंने 'चन्द्रदास' नामक नाटक लिखा।

पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी—इन्होंने 'मधुर मिलन' नाम सामाजिक नाटक लिखा।

२—वे लेखक जो पारसी नाटक कम्पनियों के लिये नाटक लिखा करते थे। इस प्रकार लिखे गये नाटक साहित्यिक सौंदर्य से शून्य होते थे और केवल अभिनय के लिये लिखे जाते थे। ऐसे लेखकों में मुख्य थे :—

१—नारायणप्रसाद बेताव, २—पं० राधेश्याम कथावाचक, ३—आगाहश्र, ४—हरीकृष्ण जौहरी।

इन लेखकों में भी पं० राधेश्याम कथावाचक का अपना विशिष्ट स्थान है क्योंकि इनके नाटक अभिनय की दृष्टि सबसे अधिक सफल रहे।

इसके पश्चात् नाटकों के क्षेत्र में फिर अनुवाद की लहर आई और अधिकांश संस्कृत नाटकों का हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत कर दिया गया। इस दिशा में दो व्यक्तियों ने बहुत अधिक कार्य किया।

१—रायबहादुर लाला सीताराम—इन्होंने कितने ही संस्कृत नाटकों को हिन्दी में रूपान्तरित कर दिया।

२—सत्यनारायण कविरत्न—इन्होंने भवभूति के 'उत्तर रामचरित' और 'मालतीमाधव' नामक नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया।

उत्थान युग (प्रसाद युग)—

इसके पश्चात् हिन्दी नाटक साहित्य में जयशंकर प्रसाद का अविर्भाव होता है। इस काल को नाटकों का उत्थान युग या प्रसाद युग कह सकते हैं।

जयशङ्कर प्रसाद—हिन्दी के नाटककारों में प्रसादजी शीर्षस्थान के अधिकारी हैं। प्रसादजी के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। अतः उनका विषय अतीत है। प्रसादजी ने संस्कृत भाषा तथा बौद्ध-कालीन साहित्य का विशेष अध्ययन किया था और इसका परिणाम प्रसाद के नाटकों पर स्पष्ट है। प्रसाद जी ने संस्कृत के प्रभाव से नारी की महानता और बौद्ध दर्शन के प्रभाव से करुणा ग्रहण की और यही दोनों विशेषतायें उनके सभी नाटकों में अन्तर्सूत्र की भाँति व्याप्त हैं।

अतीत को मूर्त रूप देने के लिये वैसा ही वातावरण उपस्थित करने की आवश्यकता थी—ऐसा करने के प्रयास में प्रसादजी की भाषा संस्कृत-गर्भित अधिक हो गई है। प्रसादजी ने यद्यपि अतीत को ही अपनी रचनाओं का आधार बनाया है किन्तु उन्होंने उसमें वर्तमान की समस्याओं का हल भी खोजा है। उनके प्रत्येक नाटक में वर्तमान की समस्यायें प्रकारान्तर से मिल जायेंगीं।

उदाहरणार्थ: १—'अजातशत्रु' नाटक में स्त्री द्वारा समानाधिकार माँगने की समस्या और इस विषय में 'दीर्घकारायण' तथा 'छलना' का वार्तालाप।

२—स्कन्दगुप्त नाटक में बौद्ध और ब्राह्मणों के झगड़े के द्वारा आज के हिन्दू और मुसलमानों के झगड़े का आभास तथा आततायी (हूण) के रूप में अंग्रेजों का आभास।

३—स्कन्दगुप्त नाटक के अन्तिम अंक में तत्कालीन जनता के नैतिक पतन के द्वारा आज के समाज का आभास आदि।

नारी-चरित्र की महानता से प्रभावित होकर प्रसादजी ने नारी के कई अमर चरित्र हिन्दी साहित्य को दिए हैं। उदाहरणार्थ—'अजातशत्रु' की 'मल्लिका' तथा 'स्कन्दगुप्त' की 'देवसेना'। प्रसादजी का मन नाटक में नारी-चरित्रों के साथ ऐसा रमता है कि वे पुरुष-चरित्रों पर छा जाती हैं और वे नारी-पात्रों के हाथ में खिलौनों के सदृश दिखाई देते हैं।

यह तो सत्य ही है कि प्रसादजी कवि पहले थे बाद में कुछ और। इसलिये प्रसादजी के सम्पूर्ण नाटकों में काव्यात्मकता प्रचुर मात्रा में है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद जी ने नाटक अभिनय के लिये लिखे भी नहीं थे। संक्षेप में प्रसाद जी के नाटकों में दृश्यकाव्य के गुण इतने नही हैं जितने श्रव्य-काव्य के। उनके नाटकों को पढ़ने में इतना ही आनन्द आता है जितना किसी उपन्यास या कविता पुस्तक के पढ़ने में आता है। इसलिये जब उनके नाटकों को अभिनीत करने का प्रश्न आता है तो कितनी ही कठिनाइयाँ सामने आती हैं:—

१—साधारणत प्रसादजी के नाटक लम्बे बहुत हैं। वे किसी भी प्रकार तीन घंटे में समाप्त नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ- चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु आदि।

२—प्रसाद जी के प्रत्येक नाटक में पात्र इतने अधिक हैं कि अभिनय के समय उनका रंगमंच पर सफलतापूर्वक उतारना एक बड़ी समस्या है।

३—प्रसादजी की भाषा सर्वत्र असाधारण रूप से क्लिष्ट है जो श्रोताओं के लिये (रसनिष्पत्ति में) एक बहुत बड़ी बाधा है।

४—प्रसादजी के नाटकों में ऐसे दृश्यों का बाहुल्य है जिनको रंगमंच पर दिखाना सर्वथा असम्भव है। उदाहरणार्थ—अश्वारोहियों का दौड़ना, नगरावरोध, हाथियों का युद्ध में भागना, कुभा का टूटना और उसमें स्कन्दगुप्त आदि का बहता हुआ दिखाई देना।

५—उनके नाटकों में दृश्य परिवर्त्तन बहुत अधिक है। रंगमंच पर इतने अधिक पर्दों का प्रबन्ध एक व्यवहारिक कठिनाई है।

६—प्रसाद जी के नाटकों में स्वगत-कथन बहुत अधिक है। वे प्रायः अधिक लम्बे दार्शनिक एवं क्लिष्ट भाषा में हैं।

इस में तो संदेह नहीं कि प्रसादजी के नाटकों में उपरोक्त कमियाँ अभिनय की दृष्टि से हैं किन्तु उनके नाटकों की कितनी ही ऐसी विशेषतायें भी हैं जो केवल हिन्दी के ही नहीं अपितु अन्य समृद्ध भाषाओं के नाटकों में भी दुर्लभ हैं। प्रसादजी हिन्दी के द्विजेन्द्रलाल राय कहे जाते हैं। द्विजेन्द्रलाल राय की भाँति प्रसादजी के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। प्रसादजी ने महाभारत से लेकर हर्षवर्धन तक के काल को अपने नाटकों में बाँधने का प्रयत्न किया है। इसके लिये प्रसादजी ने इस काल का गम्भीर अध्ययन किया है। इस लम्बे युग को धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति को उन्होंने समझा है और उस पर मनन किया है। उस काल की समस्याओं पर प्रसादजी का मनन और अध्ययन इतना गहरा है कि अपने नाटकों में भारत के उस अतीत युग को वे साकार कर सके हैं। तद्धत वातावरण उपस्थित कर देना यही नाटककार की सबसे बड़ी विशेषता है और इस विशेषता में प्रसादजी इतने सिद्धहस्त और असाधारण रूप से पटु हैं कि अन्य नाटककार इस विषय में उनकी वर्षों शिष्यता कर सकते हैं।

प्रसादजी के सभी नाटकों में उनका अपना दृष्टिकोण अन्तर्सूत्र

की भाँति व्याप्त मिलेगा। केवल नाटकों में ही नहीं अपितु उनके सम्पूर्ण साहित्य के साथ यही बात मिलती है।

१—प्रसादजी नियति में विश्वास करते हैं। इसलिये उनके सभी नाटकों के सर्वश्रेष्ठ पात्र भी नियतिवादी हैं। परन्तु प्रसादजी की नियति मनुष्य को कायर बनाने वाली नहीं है अपितु मनुष्य को उद्बुद्ध और अपने कर्त्तव्य के प्रति सर्वस्व बलिदान करने की भावना से ओतप्रोत कर देने वाली है। 'अजातशत्रु' में प्रसादजी 'जीवक' के मुँह से बोलते दिखाई देते हैं—"मैं नियति की डोरी लेकर निर्भय कर्म-कूप में कूद सकता हूँ।

२—भारतीय संस्कृति के प्रति प्रसादजी हृदय में असीम श्रद्धा और प्रेम है। भारतीय संस्कृति की उच्चता को उन्होंने अपने साहित्य में व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है। 'सिकन्दर के राजा पुरु से यह पूछने पर कि मैं तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करूँ और उसके उत्तर में पुरु की गम्भीर गिरा जैसे आज भी गूँजती सी लगती है' —"जैसा एक शत्रु एक शत्रु के साथ करता है"। भारतीय संस्कृति झुकने की संस्कृति नहीं है चाहे वह टूट भले ही जाय। शत्रु के समक्ष दीनता भारतवासियों के लिये कभी अनुभव का विषय नहीं रही और न आपद्ग्रस्त शत्रु के प्रति क्रूरता ही उन्होंने कभी की। आपद्ग्रस्त व्यक्ति को आश्रय देते समय न तो भारतवासियों के कंठ से कभी 'न' निकली और न कभी भविष्य की सम्भावित आपदाओं ने उनके दीप्त मुँख को म्लान ही किया। 'न दैन्यँ न पलायनम्' जैसे आज भी उनकी युद्ध-नीति की शंखध्वनि कर रहा है। प्रसादजी के सर्वश्रेष्ठ पात्र इन विशेषताओं से, सदैव युक्त मिलेंगे।

३—प्रसादजी गौतम बुद्ध के जीवन और दर्शन से प्रभावित हैं; इसलिये प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति की भावनाओं को उन्होंने विचित्र रूप से मिला दिया है। शेक्सपीयर का 'हेमलेट' इतना वीर नहीं है जितना चिन्तक। उसका चिन्तन उसके जीवन की स्फूर्ति और ऊष्मा छीन लेता है किन्तु प्रसादजी के स्कन्दगुप्त को उसके समक्ष रखने से अंग स्पष्ट हो जायगा। 'स्कंदगुप्त' में वीरता के साथ वैराग्य का विचित्र सम्मिश्रण है। उसकी तलवार द्वारा उगली अग्निधारा में

स्नान कर शत्रु परलोकवासी होते हैं। स्कन्दगुप्त की वक्र भ्रकुटियाँ और रक्तिम अक्रोशपूर्ण नेत्र उनके लिये प्रलय के पूर्व-चिन्ह हैं किन्तु एकान्त मिलते ही स्कन्द विरक्ति और वैराग्य की शीतलधारा में आकण्ठ मग्न होने में ही सुख और शान्ति का अनुभव करता है।

४—प्रसादजी की अव्यय भावुकता की सरस सुन्दर भूमि पर तो उनका काव्य-साहित्य-भवन ही खड़ा है। वर्णनात्मकता की शुष्कता और नीरसता से तो प्रसाद-साहित्य का परिचय ही नहीं है।

५—नारी के प्रति प्रसादजी का दृष्टिकोण गौरवपूर्ण है। उनकी दृष्टि में नारी जाति महानता और गौरव की प्रतीक है, इसी लिये पूरे प्रसाद-साहित्य में नारियों के चरित्र इतने पूर्ण, आकर्षक और महान् लगेंगे कि पुरुष पात्र उनके समक्ष सदैव हतप्रभ दिखाई देंगे। उदाहरणार्थ—उनके 'अजातशत्रु' में स्वयं महात्मा बुद्ध भी 'मल्लिका' के प्रकाशपुंज के समक्ष निष्प्रभ से दिखाई देते हैं और 'स्कन्दगुप्त' में स्वयं 'स्कन्द' 'देवसेना' से जीवन-प्रकाश ग्रहण करता है।

६—प्रसादजी के नाटक-साहित्य में ही नहीं अपितु उनके पूरे साहित्य में सौन्दर्य के प्रति प्रसादजी का अपना दृष्टिकोण मिलेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसादजी सौन्दर्य को स्वर्गीय वस्तु मानते हैं—दर्शन की वस्तु मानते हैं—उपभोग की नहीं। सर्वत्र ही सौन्दर्य के प्रति उनके साहित्य में आनन्द और आश्चर्य का भाव मिलता है। लेकिन उनके सौन्दर्य की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि वह विषरस से भरा कनकघट नहीं होता है। उनका आदर्श सौन्दर्य सदैव अमृत से युक्त होता है। उनका रूप जलाता नहीं, शांति देता है। अपने इस प्रकार के सौन्दर्य को प्रसादजी ने उसके विपरीत सौन्दर्य के समक्ष रख कर अधिक स्पष्ट कर दिया है। 'कामायनी' में 'इड़ा' की तुलना में 'श्रद्धा', 'स्कन्दगुप्त' में 'विजया' की तुलना में 'देवसेना' तथा 'अजातशत्रु' में 'मागंधी' की तुलना में 'मल्लिका' अपने साहित्य-सौन्दर्य की उच्चता में सभी के लिये आश्चर्य और सुख का विषय है, उपभोग और दुख की नहीं।

प्रसादजी इतिहास को बहुजन-सम्मत-किवदन्ती मात्र मान कर चले हैं, ब्रह्मवाक्य मान कर नहीं। इसलिये उन्होंने नाटक सौन्दर्य की

दृष्टि से कितने ही काल्पनिक पात्रों की सृष्टि की है तथा जिन चरित्रों को इतिहास ने अपने लौहपाश में कस रखा है उनको भी उन्होंने अपनी कल्पना के रंगों से रंग कर तथा एक विशिष्ट रूप देकर उनकी प्राचीनता की कुरूपता से मुक्त कर दिया है। इसलिये चरित्रों के जीवनान्त सम्बन्धी ऐतिहासिक परिणामों को छोड़ कर शेष सब स्थानों पर प्रसादजी ने उन्हें अपनी कल्पना की छाया में रखा है।

जहाँ तक कथा-वस्तु के गठन का सम्बन्ध है, प्रसादजी ने पौर्वात्य पाश्चात्य शैली का सम्मिश्रण किया है। प्रस्तावना और भरतवाक्य आदि उन्होंने अपने नाटकों में नहीं रखे हैं। किन्तु उनकी कथा-वस्तु भारतीय नाटकों के सिद्धान्तों से युक्त-व्यवस्थित और गठी हुई रहती है।

प्रसादजी ने लगभग १३ नाटकों का प्रणयन किया है। काल-क्रमानुसार उनके नाम हैं :—

१—सज्जन, २—कल्याणी परिणय, ३—करुणालय, ४—प्रायश्चित, ५—राज्यश्री, ६—विशाख, ७—अजातशत्रु, ८—कामना, ९—जनमेजय का नागयज्ञ, १०—स्कन्दगुप्त, ११—एक घूँट, १२—चन्द्रगुप्त, १३—ध्रुव स्वामिनी।

प्रसादजी के सभी नाटक भारतीय पद्धति के अनुसार सुखान्त नहीं हैं और न वे पाश्चात्य नाटकों की भाँति दुखान्त ही हैं। अपने विचित्र अन्त के कारण उनके नाटक प्रसादान्त कहलाते हैं।

स्वर्णयुग :—

पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव तो भारतेन्दु युग से ही पड़ने लगा था। प्रसादजी पर भी वह प्रभाव स्पष्ट है। किन्तु प्रसादजी के पश्चात् तो ऐसा प्रतीत होता है मानो यहाँ के नाटक साहित्य ने प्राचीन भारतीय परम्परा से अपना सम्बन्ध ही तोड़ लिया। भारतीयता के अनुसार नाटक के नायक को विशिष्ट पुरुष होना चाहिये, साधारण मनुष्य नहीं। नाटक सुखान्त होना भी प्राचीनकाल में एक अनिवार्यता थी किन्तु आधुनिक काल में साहित्य ने अपने को सभी प्राचीन बन्धनों से मुक्त कर लिया। जीवन की समस्यायें ज्यों-ज्यों बढ़ती गईं त्यों-त्यों साहित्य के भाव और कलापक्ष में स्पष्टतः एक नई विशिष्टता आती

गई। आज के नाटककारों पर पाश्चात्य नाटककारों का प्रभाव अत्यन्त घनीभूत प्रतीत होता है और विशेषरूप से जार्ज बर्नार्ड शॉ ने तो विश्व के सभी बुद्धि जीवियों को प्रभावित किया है।

आज के नाटकों में समस्यायें अधिकाधिक स्थान पा रही हैं। धार्मिक समस्यायें, सामाजिक समस्यायें, राजनैतिक समस्यायें ही आज के नाटकों का मूलाधार होती हैं। नाटक का उद्देश्य भी धर्म, अर्थ काम या मोक्ष में से किसी की प्राप्ति न होकर ये समस्यायें ही होती हैं और इस प्रकार जब नाटक घटना-प्रधान होने के लिये बाध्य है तो परिणाम में उनका दुखान्त होना भी स्वाभाविक है। साहित्य में प्रचलित यथार्थवादी और आदर्शवादी दोनों विचार-धाराओं का प्रभाव भी आज के नाटक साहित्य पर मिलता है। कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे जा रहे हैं परन्तु उनकी संख्या नगण्य हैं।

आज के प्रमुख नाटककारों में :—

लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', हरिकृष्ण 'प्रेमी', उदयशङ्कर भट्ट, गोविन्दवल्लभ पन्त, माखनलाल चतुर्वेदी, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', चतुर्सेनशास्त्री, जे० पी० श्रीवास्तव, रामवृक्ष बेनीपुरी, वृन्दावनलाल वर्मा, रांगेय राघव आदि का नाम लिया जा सकता है।

'प्रेमीजी', 'वृन्दावनलाल वर्मा' आदि ऐतिहासिक नाटकों के लिये प्रसिद्ध हैं तथा 'मिश्रजी' और 'पन्तजी' सामाजिक नाटकों के लिये।

हिन्दी में एकांकी नाटक-साहित्य भी पर्याप्त लिखा गया है। आज के व्यस्त जीवन में लम्बे नाटकों को देखने का समय और धैर्य सामाजिकों के पास नहीं है, इसलिये एकांकी नाटक पर्याप्त लोकप्रिय हो रहे हैं। प्रसिद्ध एकांकी नाटककारों में—डा० रामकुमार वर्मा, विष्णु प्रभाकर, 'अश्कजी', उदयशङ्कर भट्ट, भुवनेश्वरप्रसाद, जगदीशचन्द्र माथुर, रावीजी, सत्येन्द्रशरद्, 'सुदर्शन', यशपाल आदि प्रमुख हैं।

आज का युग सक्रान्ति युग है इसलिये भाव और भाषा में क्रान्ति हो रही है। नये रूप रंग लेकर नये-नये नाटक आ रहे हैं। हिन्दी में नाटक ाहित्य भविष्य उज्ज्वल आशापूर्ण है, ऐसा कहा जा सकता

:: ५ ::

हिन्दी आलोचना-साहित्य का इतिहास

आलोचना की प्राचीन पद्धति-आधुनिक आलोचना का आरम्भिक युग (भारतेन्दु युग) उत्थान युग या द्विवेदी युग—स्वर्ण युग या शुक्ल युग-छायावादी आलोचक और उनकी सामान्य विशेषतायें-प्रगतिवादी आलोचक और उनकी सामान्य विशेषतायें-उपसंहार।

प्राचीनकाल की आलोचना पद्धति और आजकल की आलोचना पद्धति में आकाश पाताल का अन्तर है। हिन्दी की आज की आलोचना पद्धति पाश्चात्य आलोचना पद्धति (Criticism) से अत्यधिक प्रभावित है। प्राचीन समय के आलोचना साहित्य को खोजने का प्रयास यदि आज किया जाय तो सम्भवतः विस्तृत और विशद आलोचनायें प्राप्त न होंगी। प्राचीन समय में तो प्रशंसा या अप्रशंसा के वाक्य पद्यबद्ध तथा सूत्ररूप में प्रचलित रहते थे। उदाहरणार्थ, सूर-तुलसी तथा केशव की तुलनात्मक समीक्षा या आलोचना निम्नांकित दोहा करता है—

—"सूर सूर तुलसी शशी उडगन केशवदास।
अब्र के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करें प्रकाश॥

सूर्य में सबसे अधिक प्रकाश होता है, चन्द्रमा में उससे कम और तारों में उससे भी कम, उपरोक्त दोहे से स्पष्ट हो जाता है कि सूर का यश सर्वाधिक, तुलसी का उसकी अपेक्षा कुछ कम और केशव का उससे भी कम माना गया है। यद्यपि उपरोक्त दोहा लिखनेवाले आलोचक का निर्णय निर्विवाद नहीं है, किन्तु फिर भी उसमें तथ्य की झलक स्पष्ट है। इसी प्रकार निम्नांकित पद्यबद्ध पंक्ति तुलसी और गंग के काव्योत्कर्ष को व्यक्त करती है—

—"तुलसी गंग दुवौ भए सुकविनु के सरदार"।

नन्ददास अष्ट छाप के प्रमुख कवियों में से हैं। उनकी कविता के कलापक्ष का लोहा तत्तकालीन बड़े-बड़े कवि भी मानते होंगे, यह निम्नांकित पंक्ति से स्पष्ट है—

—"और कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।"

किन्तु ऊपर जिस प्रकार की आलोचना पद्धति की चर्चा की गई है, उसका कोई निश्चित तथा क्रमबद्ध इतिहास नहीं है। समय-समय पर लोगों ने इस प्रकार की अपनी आलोचना को पद्यबद्ध किया। किन्तु यह तो आलोचना से अधिक प्रशंसा की एकांगी अभिव्यक्ति है। आलोचना में तो सद्सद् का विशद विवेचन होना चाहिये जिसका कि नितान्त अभाव उपरोक्त प्रकार की आलोचना में मिलता है।

आरम्भिक युग:—

हिन्दी में आलोचना का आरम्भिक युग भारतेन्दु युग ही मानना चाहिये क्योंकि भारतेन्दु युग से अब तक आलोचना की एक निश्चित पद्धति और क्रमबद्ध शृंखला मिलती है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी भाषा की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये अपने मित्रों का ही एक मन्डल तैयार किया था जिसमें बालकृष्ण भट्ट, पं० बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन', प्रतापनरायण मिश्र, बालमुकन्द गुप्त आदि व्यक्ति प्रमुख थे। इसी मंडल में से बालकृष्ण भट्ट तथा पं० बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन', आधुनिक हिन्दी आलोचना के जनक माने जा सकते हैं। आलोचना का सच्चे अर्थों में आरम्भ इन्हीं लोगों ने किया। सर्वप्रथम पं० बालकृष्ण भट्ट ने लाला श्रीनिवासदास लिखित 'संयोगिता स्वयंवर' की खरी आलोचना की। इस आलोचना के द्वारा पं० बालकृष्ण भट्ट ने उपरोक्त नाटक के दोषों पर विशेषरूप से प्रकाश डाला।

उत्थान युग:—

यह तो मानना ही पड़ेगा कि भारतेन्दु युग में आलोचना की विशेष उन्नति नहीं हुई। भारतेन्दु युग तो समालोचना, निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि सभी का जन्मदाता है। इन साहित्यांगों की उन्नति तो उसके बाद ही हुई। इस दृष्टि से द्विवेदी युग को

आलोचना-साहित्य का उत्थान युग कहा जा सकता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी में निबन्धकार तथा आलोचक के नाते ही प्रसिद्ध हैं। द्विवेदी जी अपनी आलोचनाओं में आलोच्य विषय पर अच्छा या बुरा निर्णय देना कभी नहीं भूलते थे। संक्षेप में इस युग को निर्णयात्मक आलोचना का युग कह सकते हैं। व्याख्यात्मक तथा सैद्धान्ति-आलोचना का इस युग में प्राय अभाव है। निर्णयात्मक आलोचना में आलोचक की अपनी रुचि प्रधान होती है और अपनी रुचि के समर्थन के लिये आलोचक कुछ सिद्धान्तों का सहारा भी लेता है। द्विवेदीजी भी ऐसे ही आलोचक थे। द्विवेदीजी 'सरस्वती' के सम्पादक थे और उनकी आलोचनायें उसी में प्रकाशित होती रहती थीं। हिन्दी में द्विवेदीजी ने सर्वप्रथम सरस्वती में पुस्तक समालोचना (Book review) आरम्भ की। द्विवेदी का स्थान चाहे उनकी आलोचनाओं के प्रकार (Quality) के आधार पर बहुत ऊँचा न हो किन्तु उनका हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक महत्त्व है—यह तो निर्विवाद है। द्विवेदीजी सत् साहित्य के समर्थक थे। साहित्य में अश्लीलता को वे सहन नहीं कर सकते थे। उनके युग में भी काव्य रस रीति की गंदी नालियों में होकर बह रहा था। अधिकांश कवियों का दृष्टि कोण श्रृंगार परक था। द्विवेदीजी ने युग साहित्य का नारा ऊँचा किया और श्रृंगारी रचनायें लिखने वाले लोगों का घोर विरोध किया। कुछ तो युग की माँग के और कुछ द्विवेदीजी के प्रयत्नों के कारण हिन्दी में श्रृंगारी कविता कुछ समय के लिये समाप्त हो गई। द्विवेदीजी की भाँति सौभाग्यशाली आलोचक हिन्दी में कम ही निकलेंगे जो अपनी लेखनी (आलोचना) के बल पर साहित्य (साहित्यिकों) को मार्ग बदलने के लिये विवश करदें। द्विवेदी ने साहित्य-धारा की दिशा ही बदल दी उसको उन्होंने अधिक प्रगतिशील और युगोन्मुख बना दिया।

द्विवेदीजी ने आलोचना के अतिरिक्त भाषा को परिष्कृत बनाने का गुरुतर कार्य भी शक्ति भर किया। उन्होंने हिन्दी के बहुरूपों में प्रचलित शब्दों के रूप स्थिर किए और लेखकों से उनको एक निश्चित रूप में प्रयोग करने का आग्रह किया। इसलिये भाषा परिष्कार तथा आलोचना क्षेत्र में हिन्दी साहित्य उनका ऋणी है।

समालोचना का क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करते समय मिश्रबन्धुओं

को भी नहीं भुलाया जा सकता। जब तक हिन्दी में आलोचना का अधिक विकास भी नहीं हुआ था तभी से ये विद्वान बन्धु (मिश्रबन्धु तीन भाई हैं जो एक साथ लिखने के कारण अपने को मिश्रबन्धु लिखते हैं।) हिन्दी के आलोचना साहित्य को समृद्ध बनाने में लगे हैं। इन्होंने 'नवरत्न' नामक ग्रन्थ की रचना की इसे परिचयात्मक-आलोचना का ग्रन्थ कहा जा सकता है। मिश्रबन्धुओं ने इस ग्रन्थ में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नौ कवियों को उनकी श्रेष्ठता के क्रम से रखा है। मिश्रबन्धु 'देव' को 'विहारी' से श्रेष्ठतर कवि मानते हैं। उनकी इस मान्यता ने एक साहित्यिक विवाद का प्रारम्भ किया और इस प्रकार हिन्दी में निर्णयात्मक आलोचना उत्तर-प्रत्युत्तर रूप में अधिक लिखी गई। मिश्रबन्धुओं द्वारा प्रतिपादित 'विहारी' की तुलना में 'देव' की श्रेष्ठता को प्रसिद्ध-आलोचक पं० पद्मसिंह शर्मा सहन नहीं कर सके और इसका उत्तर देते हुए तथा 'देव' की तुलना में विहारी की श्रेष्ठता घोषित करते हुए उन्होंने एक आलोचनात्मक पुस्तक लिख ही डाली। उन्होंने अपनी आलोचना में एक नई बात उपस्थित की। उन्होंने विभिन्न कवियों की रचनाओं से विहारी के दोहों की तुलना की और उन्हें श्रेष्ठतर घोषित किया। इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि पं० पद्मसिंह शर्मा ने हिन्दी समालोचना-साहित्य में तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात किया। पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपनी आलोचना में प्रशंसात्मक शब्दों यथा वाह! वाह!! शावाश आदि का अत्याधिक प्रयोग किया है इसलिये उनकी शैली कुछ उथली और बाज़ारू जैसी लगती है उसमें वह गम्भीरता नहीं दिखाई देती जो आलोचना में होनी चाहिये।

पं० पद्मसिंह शर्मा की इस आलोचना के उत्तर में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने अपनी 'देव बिहारी' नामक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी। श्री कृष्णबिहारी मिश्र की इस पुस्तक का विशेष महत्व इसलिये है कि इसकी शैली में वह उथलापन नहीं है जो पं० पद्मसिंह शर्मा की पुस्तक में है। मिश्रजी ने अपने विचारों का समर्थन या प्रतिपादन तर्कों के आधार पर किया है जो पाठक को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र इतने सौभाग्यशाली नहीं थे कि उनका 'देव' की श्रेष्ठता विषयक निर्णय सर्वमान्य हो जाता। बिहारी के प्रसिद्ध

समर्थक लाला भगवानदीन 'दीन' ने 'विहारी और देव' नामक पुस्तक लिखकर मानो मिश्रजी के निर्णय को चुनौती दी और उन्होंने 'देव' की तुलना में 'विहारी' की श्रेष्ठता प्रतिपादित की।

सच बात तो यह है कि इन उत्तर-प्रत्युत्तर स्वरूप लिखी गई आलोचनाओं में आलोचना (सद् सद् विवेचन) का तत्त्व इतना नहीं है जितना व्यक्तिगत रुचि या योग्यता प्रदर्शन का। यह कहना अयुक्ति युक्त होगा कि ये रचनायें पक्षपातरहित हैं। वास्तव में ऐसी रचानायें निष्पक्ष हो ही नहीं सकतीं। आलोचक जिस कवि को पसन्द करता है उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने में उसकी कमियों की जानबूझ कर उपेक्षा कर देता है और व्यर्थ की प्रशंसा से अपनी आलोचना को भरता है जिस प्रशंसा का आधार न तो तर्क होता है और न कोई साहित्यिक प्रमाण। केवल व्यक्तिगत रुचि और धारणायें ही आलोचक का इस प्रकार की आलोचनाओं में मार्ग दर्शन करती हैं इसलिये ऐसी आलोचनात्मक कृतियों में यदि भ्रम न हों तभी आश्चर्य है।

स्वर्णयुग :-

द्विवेदी युग जिस आलोचना साहित्य का उत्थान युग है, शुक्ल के युग को उसका निश्चय ही स्वर्णयुग कहा जा सकता है। शुक्ल से हमारा अभिप्राय हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल से है। शुक्ल जी ने आलोचना के क्षेत्र में बड़ा मौलिक कार्य किया। उन्होंने परम्परा से आती हुई विवादात्मक आलोचना में भाग नहीं लिया अपितु हिन्दी के कुछ कवियों पर उन्होंने विस्तृत एवं सारगर्भित प्रबन्ध लिखे। 'सूर' 'तुलसी' आदि पर लिखे गये उनके आलोचनात्मक प्रबन्ध हिन्दी आलोचना साहित्य की अमर सम्पत्ति हैं। इतना ही नहीं शुक्ल जी ने कुछ अज्ञात और अप्रसिद्ध कवियों को अपनी लेखनी के बल पर प्रसिद्ध और हिन्दी कवियों में शीर्ष स्थान का अधिकारी बना दिया। 'जायसी' का नाम इस विषय में लिया जा सकता है। 'जायसी' हिन्दी-साहित्य-रज में पड़े हुए अलौकिक हीरे थे जिन्हें सर्वप्रथम शुक्ल जी ने ही पहचाना और परखा। आज उसी 'जायसी' कविरत्न की प्रभा से हिन्दी साहित्य आलोकित है। शुक्ल जी का यह कार्य ऐतिहासिक महत्व का तो है ही इसके साथ आलोचना की टेकनिक (शास्त्रीय पक्ष) को भी उन्होंने उन्नत एवं विकसित किया। सच का

जाय तो कहना पड़ेगा कि शुक्ल जी से पूर्व न तो आलोचना की कोई टेकनिक थी और न उसका समुचित विकास ही हुआ था। शुक्ल जी के पारस कर-स्पर्श से आलोचना की धातु जैसे स्वर्ण में परिणत हो गई। इस लिए शुक्ल युग को आलोचना का स्वर्णयुग कहना सर्वथा संगत और युक्तियुक्त है।

आलोचना के साहित्य में शुक्लजी ने दो महान् कार्य किये। एक तो उन्होंने कुछ सिद्धान्त स्थिर किये और दूसरा उन्होंने कृतियों को अपने बनाये हुए सिद्धान्तों की कसौटी पर कसा। शुक्ल जी के आलोचना साहित्य की कसौटी यदि दो शब्दों में कहें तो लोकमंगल या लोककल्याण है। जो वस्तु या कृति लोककल्याणकारी नहीं है शुक्ल जी की दृष्टि में उसका मूल्य धूल से अधिक कुछ नहीं है।

शुक्ल जी का अध्ययन गहरा और उनका निरीक्षण अत्यन्त व्यापक था इसलिए उनके निर्णय केवल उनके ही नहीं अपितु अधिकांश पाठकों के भी होते हैं सारांश यह कि शुक्ल जी के निर्णय से पाठक प्रायः सहमत रहते हैं।

शुक्ल जी का प्रत्येक कथन, तर्क पर आधारित रहता है इसलिए चाहे कोई पाठक शुक्ल जी से मतैक्य न रखता हो लेकिन जब तक वह शुक्ल जी की रचना पढ़ेगा तब तक वह अपने को शुक्ल जी के प्रभाव से मुक्त नहीं रख सकता। शुक्ल जी की विषय प्रतिपादन शैली इतनी तथ्यपूर्ण तथा तर्कगर्भित होती है कि उनके विरोधी भी उनकी लेखनी का लोहा मानते हैं।

इसमें तो संदेह नहीं कि आलोचना की कसौटी शुक्ल जी ने अपने व्यक्तिगत विचारों से ही तैयार की है किन्तु यह भी सत्य है कि वह ऐसे तत्वों से बनी है जो अधिक विवादास्पद नहीं है। शुक्लजी की आलोचना सम्बन्धी अन्य विशेषताओं को अगर विस्तार में लिया जाय तो वह अलग एक निबन्ध का विषय बन जायगा और हमें उचित भी यही जँचता है कि शुक्ल जी की निबन्ध और आलोचना सम्बन्धी विशेषताओं पर एक स्वतन्त्र लेख लिखा जाय। इसी पुस्तक में संकलित 'निबन्धकार एवं आलोचक के रूप में शुक्ल जी' नामक निबन्ध में निबन्धकार के रूप में और आलोचक के रूप में शुक्ल जी की विशेषताओं का विस्तार में विवेचन किया गया है।

शुक्ल जी के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'विषय में उनकी पैठ' अत्यन्त गहरी और उनका विश्लेषण असाधारण होता है।

शुक्लजी का नाम लेते ही श्रीयुत श्यामसुन्दरदास का नाम भी अपने आप ही स्मृति-पटल पर उभर कर आ जाता है। रूपक में कहें तो कह सकते हैं कि शुक्ल और श्यामसुन्दरदास आलोचना सरिता के दो किनारे हैं, जहाँ सरिता आश्रय प्राप्त करती है और अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती है। एक ही सरिता को दोनों किनारों पर भिन्न भिन्न अनुभव होते होंगे। दोनों किनारे भिन्न-भिन्न पृथ्वी के दो खण्ड होते हैं जो समान महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अपनी विशेषताओं के कारण भिन्न हैं। शुक्ल जी और श्यामसुन्दरदास में कितने ही साहित्यिक विषयों पर मतभेद था किन्तु हिन्दी के आलोचना-साहित्य भण्डार के ये दोनों सर्वाधिक प्रभापूर्ण रत्न हैं। वास्तव में दोनों की अपनी अपनी प्रभा है और अपनी प्रतिभा। हिन्दी के दीन-हीन आलोचना साहित्य को डॉ० श्यामसुन्दरदास ने अमूल्य निधि दी है।

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' नामक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी यद्यपि यह विशुद्ध सैद्धान्तिक आलोचना की पुस्तक है किन्तु हिन्दी में अपने ढंग की यह एक ही पुस्तक है। यद्यपि आज हिन्दी-साहित्य अपनी उन्नति की चरम सीमा का स्पर्श कर रहा है फिर भी आज भी उसमें अधिक आलोचनात्मक पुस्तकें नहीं हैं जो साहित्यालोचन की टक्कर की हों लेकिन साहित्यालोचन का वास्तविक महत्व हमारे समक्ष तभी स्पष्ट होगा जब हम उसके रचना-काल पर ध्यान देंगे। जब डॉ० श्यामसुन्दरदास ने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया था तो वह हिन्दी आलोचना का आरम्भिक काल ही था। साहित्यालोचन ग्रन्थ में डॉ० श्यामसुन्दरदास ने साहित्य के सभी अंगों पर प्रकाश डाला है और उनकी शास्त्रीय विवेचना की है। कला क्या है? उत्कृष्ट कला के क्या लक्षण है? नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि का गठन और सैद्धान्तिक-पक्ष आदि विषय उन्होंने उसमें स्पष्ट किये हैं।

इतना ही नहीं डॉ० श्यामसुन्दरदास ने कबीर, सूर, तुलसी आदि पर विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। इसमें संदेह नहीं कि शुक्लजी से उनका कितने ही विषयों में मतभेद है

शुक्लजी और श्यामसुन्दरदास की विषय प्रतिपादन शैली भी एक दूसरे से बिलकुल भिन्न है। स्वयं डॉ० श्यामसुन्दरदास शुक्लजी की शैली के विरोधी थे। शुक्लजी अपने निबन्ध के आरम्भ में ही कोई बात सूत्र-रूप में कह देते हैं और फिर उसकी व्याख्या पूरे निबन्ध में करते हैं। इसके विरुद्ध डॉ० श्यामसुन्दरदास पहले तो विश्लेषण करते हैं। और अन्त में सारांश यह कह कर अपनी पूरी बात को सूत्ररूप में रख देते हैं।

सैद्धान्तिक आलोचना के प्रसंग में दो नाम अविस्मरणीय हैं एक तो पं० रामदहिन मिश्र का जिन्होंने 'काव्य दर्पण' नामक पुस्तक का प्रणयन किया। इसमें संदेह नहीं कि यह पुस्तक संस्कृत के ग्रन्थों का कुछ सीमा तक भावानुवाद है किन्तु यह भी सत्य है कि विद्वान् लेखक ने संस्कृत के क्लिष्ट विषयों को बड़ी स्पष्टता के साथ हिन्दी में रूपान्तरित किया है। इस ग्रन्थ की एक सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि अपनी युक्ति समर्थन के लिये लेखक ने जितने कवियों के उदाहरण दिये हैं, वे अब तक की रीत्यानुसार प्राचीन कवियों के न होकर नवीन कवियों के हैं। मिश्रजी ने साधारणीकरण जैसे विषय को शुक्लजी के साथ अपनी असहमति दिखाते हुए विस्तार के साथ स्पष्ट किया है। मिश्रजी की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि ये तर्क के आधार पर प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों का औचित्य प्रमाणित करते हैं। किन्तु साहित्य में नवीन तत्वों के समावेश के भी ये विरोधी नहीं हैं।

दूसरा है बाबू गुलाबराय, एम० ए० का। गुलाबरायजी ने भी सैद्धान्तिक आलोचना की पुस्तक के रूप में 'सिद्धान्त और विवेचन' पुस्तक लिखी है लेकिन न तो वह साहित्यालोचन की भाँति ठोस है और न काव्य दर्पण की भाँति स्पष्ट। बाबू गुलाबराय ने समन्वय को अपनी विशेषता बना लिया है। जहाँ किसी विषय में विद्वान् मतभेद रखते हैं वहाँ गुलाबरायजी सदैव मध्यम (समन्वय) मार्ग ग्रहण करते हैं।

इसके अतिरिक्त 'साहित्य संदेश' के सम्पादक के रूप में भी बाबूजी का सम्बन्ध हिन्दी के आलोचना जगत से रहा है। हमारा विचार है कि निबन्धकार के रूप में बाबूजी का स्थान हिन्दी-साहित्य में अधिक ऊँचा है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य में ऐसे आलोचकों की संख्या बहुत अधिक है जिन्होंने विभिन्न कवियों पर उनके भावपक्ष और कलापक्ष को स्पष्ट करते हुए विस्तृत प्रबन्ध लिखे हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास और पं० रामचन्द्र शुक्ल इस दिशा में पहले ही मार्ग दर्शन कर चुके हैं। लेकिन उन जैसी सयंत और तर्कपूर्ण विश्लेषणात्मक रचनायें इधर प्रायः देखने में नहीं आतीं। आजकल तो प्रायः आलोचक अपनी रुचि के कवि की स्तुति अधिक करते हैं। उसकी रचनाओं का उचित, तर्कपूर्ण और युक्तियुक्त विश्लेषण कम। इस प्रकार की कुछ रचनाओं एवं आलोचकों का नाम देना असंगत न होगा।

१–गुप्तजी की कला—सत्येन्द्र।
२–सुमित्रानन्दन पंत—नगेन्द्र।
३–केशव की काव्य-कला—कृष्णशंकर शुक्ल।
४--प्रसाद की काव्य-साधना—रामनाथ 'सुमन'।

अब हिन्दीं में दो प्रकार के समालोचक और बच रहते हैं। उनको संक्षेप में इस प्रकार बाँट सकते हैं—१–छायावादी आलोचक, २--प्रगतिवादी आलोचक।

१—छायावादी आलोचकों में डा० नगेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, विशम्भर 'मानव', गंगाप्रसाद पाण्डेय, तथा डा० रामरतन भटनागर, आदि प्रमुख हैं।

छायावाद की सभी विशेषतायें इसी पुस्तक के छायावाद शीर्षक निबन्ध में मिल जायगी। छायावादी कवियों का प्रकृति के प्रति एक जो विशिष्ट दृष्टिकोण है, उस दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिये जिस विशिष्ट प्रकार की भाषा का प्रयोग छायावादी कवि करते हैं, उपरोक्त आलोचक उनके दृष्टिकोण और भाषा प्रयोग के प्रशंसक हैं। छायावाद का हिन्दी में घोर विरोध भी हुआ और उसके प्रसिद्ध विरोधी पं० रामचन्द्र शुक्ल अपने अन्तिम दिनों में उसके समर्थक हो गए थे। संयोग की बात है कि हिन्दी के प्रसिद्ध छायावादी कवि-प्रसाद, पंत, महादेवी तथा 'निराला' स्वयं आलोचक भी हैं। उन्होंने स्वयं अपने-अपने विषय में स्पष्टीकरण देने के अतिरिक्त छायावाद के विरोधियों को उत्तर देने के लिये तथा छायावाद के समर्थन में आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। इनमें पंत और महादेवी इस विषय में औरों से आगे हैं।

छायावादी कवियों की जहाँ ये सामान्य विशेषतायें हैं, वहाँ छायावादी आलोचकों की भी सामान्य विशेषतायें हैं।

१—भाषा का व्यर्थ आडम्बर।
२—अपने रुचि के कवि की अतिरंजित प्रशंसा।
३—अस्पष्टता को गुण के रूप में चित्रित करना।
४—साहित्य में अमांसल सौन्दर्य का समर्थन।
५—कविता से अधिक कवि को महत्त्व और विश्लेषण से अधिक योग्यता प्रदर्शन।

इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अच्छे छायावादी आलोचक उपरोक्त बातों के अपवाद भी हो सकते हैं।

२—प्रगतिवादी आलोचकों में प्रमुख हैं—

डा० रामविलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान, अमृतराम, तथा चन्द्रवलीसिंह आदि। प्रगतिवाद की विशेषतायें इसी पुस्तक के प्रगतिवाद शीर्षक निबन्ध में मिल जायेंगी। संक्षेप में प्रगतिवादी आलोचकों की विशेषतायें—

१—भाषा की आडम्बर हीनता।
२—विचारों की प्रचुरता।
३—जन-कल्याण की भावना का प्रामुख्य।
४ मार्क्सवादी दर्शन में विश्वास।
५—साहित्य में अस्पष्टता एवं अश्लीलता का विरोध।
६—भौतिकवाद का समर्थन।
७—'साहित्य जीवन के लिये' के सिद्धान्त में विश्वास।
८—साहित्य में वर्ग स्वार्थों का प्रतिविम्ब देखने की भावना।
९—साहित्य को सर्वहारा वर्ग के मोर्चे का अस्त्र मानने की भावना।

हिन्दी का आलोचना-साहित्य आकार में जितना बढ़ रहा है, प्रकार में उतना ऊँचा नहीं उठ रहा फिर भी अनेक नवीन आलोचक प्रकाश में आ रहे हैं और आलोचना-साहित्य का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल दिखाई देता है।

———

:: ६ ::

छायावाद

(भूमिका—१—छायावाद की पृष्ठ भूमि, २—छायावाद की परिभाषायें, ३—छायावाद पर वाह्य प्रभाव, ४—छायावाद की विशेषतायें ५—छायावाद का शृंगारिक पक्ष, ६—छायावाद और प्रकृति, ७—उपसंहार)।

भूमिका—

छायावाद हिन्दी-साहित्य में साहित्यिकवादों का जहाँ तक सम्बन्ध है अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जिस प्रकार गांधी जी को 'महात्माजी' की संज्ञा व्यंग्य में दी गई थी और बाद में गांधी जी ने उसे सहर्ष स्वीकार कर उसे व्यंग्य से हीन तथा सार्थक शब्द बना दिया था उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य में एक विशेष प्रकार के काव्य को 'छायावाद' की संज्ञा व्यंग्य में दी गई थी। इसका अर्थ था—वह काव्य जो विक्षिप्त व्यक्तियों का अनर्गल प्रलाप है तथा जो अत्यन्त अस्पष्ट और भावहीन है किन्तु बाद में यही व्यंग्यमयी संज्ञा छायावाद के लिये वरदान सिद्ध हुई और छायावाद साहित्य की महान् आकर्षक धाराओं में से एक हो गया। एक युग तो हिन्दी-साहित्य में ऐसा आया जब छायावाद श्यामलमेघ की भाँति हिन्दी काव्याकाश की सभी दिशाओं को घेर कर छा गया और केवल उसी की 'रिमझिम' का सुमधुर संगीत काव्य प्रेमियों के कानों में गूँजता रहा। इस काव्य की शीतल छाया ने, नग्न वास्तविकता की प्रखरता से तप्त लोगों के नेत्रों को शीतलता प्रदान की। काव्य प्रेमियों ने छायावाद के इस युग में कितने ही अविस्मरणीय सुन्दर चित्र देखे। इससे पूर्व प्रकृति का भव्य सौन्दर्य अपने सुन्दरतम रूप में उन्होंने कभी न देखा था। संध्या और उषा के 'घन केश पाशों' से लेकर 'संध्या घन माला की रंग बिरंगी छींट' पहिने शैल श्रेणियों तक में पाठकों के विस्मित नयन उलझे रहे।

किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि एक दिन परिवर्तन के एक झोंके ने छायावाद के श्याम मेघों को छिन्न-भिन्न कर दिया और पाठकों ने अपने आपको नग्न आवश्यकताओं तथा आर्थिक समस्या के सूर्य के प्रखर ताप में प्रगतिवाद की कठोर धरती पर खड़े पाया। साहित्य में यह परिवर्तन स्वाभाविक है। जीवन के प्रतिविम्ब साहित्य में गतिहीनता शोभा भी कैसे दे सकती है। साहित्य के विभिन्नवाद साहित्य जगत में प्रगति के मील चिन्ह (Mile Stone) हैं। छायावाद हिन्दी-साहित्य जगत के असीम पथ में अपने अमर चरण चिह्न छोड़ चुका है। अब वह अमर है।

छायावाद की पृष्ठभूमि—

यों तो साहित्य भावों का अगाध समुद्र है किन्तु कभी-कभी उसमें कुछ विशिष्ट भावों की तरंगे अधिक उत्तुंग हो उठती हैं। उदाहरण के लिये हिन्दी के वीरगाथा युग में यद्यपि और भावों का भी अभाव नहीं है तथापि दुंदुभी वीर रस की ही बज रही है। इसी प्रकार भक्ति युग में शांति रस की बीणा का स्वर सबसे ऊँचा है। इसके पश्चात् रीतिकाल में जो श्रृंगार की धारा काव्य में बही वह भारतेन्दु युग-कूलों तक को स्पर्श कर बही। वैसे विचारों की दृष्टि से भारतेन्दु युग हिन्दी-साहित्य में एक क्रान्ति युग माना जाता है क्योंकि उस समय के साहित्य में सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष का स्वर अत्यन्त प्रखर तथा मुखर है। किन्तु एक बात बड़ी विचित्र है कि भारतेन्दु जैसा युग सृष्टा जहाँ गद्य में रूढ़ियों का खुल कर विरोध कर सका वहाँ पद्य में उसने एक धर्म भीरु व्यक्ति की भाँति उसी श्रृंगार-सरिता में अवगाहन कर सन्तोष कर लिया। किन्तु इसके पश्चात् द्विवेदी युग में आचार्य द्विवेदी ने लोगों को इस श्रृंगार की कुत्सित विचार धारा से सावधान किया। उनके विचार से श्रृंगार की इस कुत्सित विचार धारा में अनैतिकता के कीटाणुओं का पोषण होता है जो सामाजिक स्वास्थ्य के लिये भयंकर रूप से घातक हैं। द्विवेदीजी इस अकल्याणमयी विचार धारा के स्रोत को ही बंद करना चाहते थे। श्रृंगारिक कविता लिखने वाले कवियों को उन्होंने पापी, नैतिकता से गिरा हुआ और समाज-विरोधी बताया। अपनी आलोचनाओं में द्विवेदी ने ऐसे कवियों को जी भर कर कोसा और सामाजिक अपराधी के रूप में उन्हें चित्रित किया। इसका व्यापक प्रभाव पड़ा।

द्विवेदीजी के जीवन काल में ही उनके आलोचना अंकुश ने बड़े-बड़े कवि मातंगों को मनमानी करने से विरत कर दिया। काव्य का आधार स्वछंद भाव नहीं अपितु नैतिक विचार बने। फल यह हुआ कि काव्य भाव और भावुकता के अभाव में इतिवृत्तात्मक (वर्णनमात्र) हो गया।

किन्तु यह प्राकृतिक सत्य है कि कोई भाव निर्मूल नहीं हो सकता। मनुष्य अपने हृदय के आवेश को अधिक समय तक नियन्त्रित नहीं रख सकता। भावों का उद्रेक काव्य में सीधी अभिव्यक्ति चाहता है। शृंगार की भावना मानव हृदय की अनादि भावना है। वह वस्तु-जगत में जीवन की मूल प्रेरणाओं में से एक है। साहित्य में वह मुख्य रसों में प्रथम है। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता से लोगों का मन ऊब चुका था। साहित्य हृदय की कोमल अनुभूतियों की माँग कर रहा था। अन्त में भावों ने उस इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में छायावाद का जन्म हुआ। छायावाद इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध एक भावात्मक विद्रोह है। इसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह भी कहा जाता है। डा० नगेन्द्र इसे अन्तर्मुखी भावनाओं का विस्फोट मानते हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

—"राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की अचल सत्ता और समाज में सुधार की दृढ़ नैतिकता असंतोष और विद्रोह (बंधन-मुक्ति) की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थी; निदान वे भावनायें अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर पैठ रही थीं और वहाँ से क्षतिपूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं" × × × आशा के इन्हीं स्वप्नों और निराशा के छायाचित्रों की समष्टि का ही नाम छायावाद है।"

छायावाद की परिभाषायें:—

छायावाद क्या है? क्या वह केवल अस्पष्टता है, अतृप्त आकांक्षाओं की छायारूप साहित्यिक अभिव्यक्ति मात्र है? क्या प्रकृति में मानवीकरण ही छायावाद है? छायावाद की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है।

आचार्य शुक्ल छायावाद को दो रूपों में स्वीकार करते हैं:—

१—काव्य-वस्तु के रूप में—जहाँ कवि अज्ञात प्रियतम के प्रति

अपने हृदयस्थ प्रेम को चित्रमयी तथा व्यंजनात्मक भाषा में व्यक्त करता है।

२—काव्य शैली के रूप में—जहाँ कवि अपनी भाषा का विशेष रूप से लाक्षणिक प्रयोग करता है तथा अलंकारों के प्रति दृष्टि-भेद के कारण उसकी भाषा प्राचीन काव्य-भाषा से भिन्न सी लगती है।

यह ध्यान रखने योग्य बात है कि शुक्लजी छायावाद और रहस्यवाद में कोई तात्विक भेद नहीं मानते। वे छायावादी काव्य-वस्तु को तो रहस्यवाद मानते हैं और उसकी विशिष्ट शैली को छायावाद। डा० रामकुमार वर्मा भी छायावाद और रहस्यवाद को अभिन्न मानते हुए उसकी परिभाषा करते हैं—

"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निष्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।"

महादेवी वर्मा छायावाद की परिभाषा देते हुये लिखती हैं—

"स्वच्छन्द छन्द में चित्रित इन मानव अनुभूतियों का नाम 'छायावाद' बहुत ही उपयुक्त हुआ"। महादेवी के कथानुसार मनुष्य में जड़ और चेतन प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध हैं। "मनुष्य में जड़ और चेतन एक प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध रहते हैं। उसका वाह्याकार, पार्थिव और सीमित संसार का भाग है और अन्तस्तल अपार्थिव असीम का।"

प्रसादजी अर्थ-वक्रता प्रसूत-छाया को छायावाद मानते हैं—

"उसमें अर्थ की वक्रता से आने वाली (विच्छित्ति या लावण्य जैसे मोती में आब या चमक होती है) की प्रतिष्ठा हुई।"

गंगाप्रसाद पाण्डेय छायावाद की परिभाषा करते हैं—

"विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना छायावाद है।"

जैनेन्द्रजी छायावाद की परिभाषा देते हुए लिखते हैं—

"छायावाद में अभाव की अनुभूति से अधिक कल्पना से भरा गया।

६

वियोग उसके लिए एक Cult (दृष्टि) ही हो गया । आँसू मानो छिपाने की चीज नहीं, दिखाने की वस्तु हो गया । व्यथा संग्रहणीय न होकर बिखेरी जाने लगी । जो वेदना सँजोयी जाकर बल बनती वह साज-सज्जा से प्रस्तुत की जाकर छायामात्र रह गई ।"

डा० देवराज के अनुसार छायावाद—"आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह है ।"

(डा० देवराज की परिभाषा में छायावाद की शैली का कोई उल्लेख नहीं है जो कि छायावाद की प्राणवायु है' ।)

डा० नगेन्द्र का कथन है—

"युग की उद्बुद्ध चेतना ने वाह्याभिव्यक्ति से निराशा होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई । जिन परिस्थितियों ने हमारी कर्मवृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया उन्होंने भाववृत्ति को छायावाद की ओर । उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था ।"

डा० नगेन्द्र छायावाद और रहस्यवाद को अभिन्न नहीं मानते । उनका कथन है कि छायावाद और रहस्यवाद भिन्न वस्तुयें हैं । रहस्यवाद का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से है जब कि छायावाद विशुद्ध भौतिक है ।

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि विद्वानों ने छायावाद को तीन रूपों में समझने की चेष्टा की है ।

१—काव्य-वस्तु के रूप में अर्थात् रहस्यवाद के रूप में ।
२—शैली—अभिव्यक्ति के प्रकार के रूप में ।
३—वस्तु और शैली के विचित्र मिश्रण और उसके विचित्र प्रयोग के रूप में ।

छायावाद का मूल दर्शन:—

छायावाद के आरम्भ काल में वास्तव म उसके पास उसका अपना कोई दर्शन नहीं था, इसलिये वह अभिव्यक्ति का एक प्रकार (शैली) मात्र था परन्तु कालान्तर में प्रमुख छायावादी कवियों (प्रसाद, पंत, महादेवी, 'निराला') ने वेद तथा उपनिषदों का गंभीर अध्ययन किया और इसलिये उस अध्ययन की छाप उनके साहित्य पर

भी स्पष्ट अंकित है। छायावादी कवि प्रकृति के मूल में एक चेतना देखते हैं। महादेवी का काव्य इसका स्पष्ट और सुन्दर निदर्शन है। महादेवी प्रकृति के मूल में एक चेतना का अनुभव करती है और उस अनुभूति को वे काव्य के माध्यम से व्यक्त करती है। इसलिये रहस्य-वाद को वे छायावाद का दूसरा सोपान (सीढ़ी) मानती हैं। वे एक स्थान पर लिखती हैं —

—"प्रकृति के लघु तृण और महान् वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलायें, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत-रेखा, मानव की लघुता, विशालता, कोमलता, कठोरता, चंचलता-निश्चलता और मोहज्ञान का केवल प्रतिविंब न होकर एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर हैं। जब प्रकृति की अनेकरूपता में परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके असीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा।"

"परन्तु इस सम्बन्ध से मानव हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुरागजनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता, तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं होजाती, तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुर व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य (छायावाद) का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही 'रहस्यवाद' का नाम दिया गया है।"

इस रहस्य की भावना को स्पष्ट करने के लिये महादेवीजी की कुछ कविता पंक्तियों को यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है—

—"शून्य नभ में उमड़ जब दुःख भार सी,
नैश तम में सघन छा जाती घटा।
बिखर जाती जुगनुओं की पांति भी,
जब सुनहले आँसुओं के हार सी।
तब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है ?"

× × ×

कैसे कहती हो सपना है, अलि उस मूक मिलन की बात।
भरे हुए अब तक फूलों में मेरे आँसू उनके हास॥

× × ×

कहते हैं नक्षत्र पड़ी हम पर उस माया की झाई।
कह जाते ये मेघ हमीं करुणा की उनकी परछाईं॥

× × ×

वे मन्थर सी लोल हिलोर फैला अपने अंचल छोर।
कह जातीं—"उस पार बुलाता है हमको तेरा चितचोर॥

रेखांकित पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि को उस असीम सत्ता की झलक प्राकृतिक वस्तुओं में मिलती है। छायावाद यदि प्रकृति का मानवीकरण है तो रहस्यवाद को प्रकृति का 'ईश्वरीकरण' कहा जा सकता है। छायावाद में कवि प्रकृति-कार्य-कलापों को भी मानव-कार्य कलापों के समान समझता है। अपने हृदयस्थ दुःख और सुख का प्रतिबिम्ब वह प्रकृति में भी देखता है परन्तु रहस्यवाद में वह किसी सत्ताविशेष (ईश्वर) का ही प्रतिबिम्ब इस संसार को मानता है। स्पष्ट करने के लिये पन्त की कुछ कविता पंक्तियाँ उद्धृत करना असंगत न होगा।

—"कहो कौन हो दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई।
हाय तुम्हें भी त्याग छोड़ गया क्या अलि नल सा निष्ठुर कोई॥

उपरोक्त पंक्ति में कवि के हृदय में कुंज में पड़ी ज्योत्स्ना को देख कर उसके हृदय में जो भाव जगा है उसी का एक शब्द चित्र है। कवि ज्योत्स्ना को दमयन्ती के सदृश दृश पीत वर्ण तथा दुःखी नारी समझता है। दुख-सुख का यह मानवीय व्यापार है। ज्योत्स्ना यहाँ मानवीय भावों की प्रतिच्छाया के रूप में चित्रित है। असीम सत्ता (ईश्वर) की प्रतिच्छाया के रूप में नहीं।

डा० नगेन्द्र का कथन है कि 'छायावाद' की प्रेरणा उसकी कुण्ठित वासनाओं से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं, इसीलिए पल्लव, नीहार, परिमल, आँसू आदि की मूलवर्ती वासना अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म तो अवश्य है पर उदात्त और आध्यात्मिक नहीं है।"

इस बात को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि छायावाद के आरम्भ काल में छायावाद का कोई दार्शनिक आधार नहीं था, किन्तु कालान्तर में जब प्रमुख छायावादी कवियों ने उपनिषदों आदि का अध्ययन किया तो स्वभावतः सर्वात्मवाद उनकी रचनाओं का आधार बन गया।

डा० नगेन्द्र छायावाद और रहस्यवाद को अभिन्न नहीं मानते उन्होंने छायावाद के विषय में तीन भ्रान्तियों का उल्लेख किया है :—

१—जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर न मानने के कारण हैं, छायावाद बौद्धिक है साधनात्मक नहीं।

२—छायावाद और योरुपीय रोमेन्टिसिज्म (Romanticism) को एक मानना। (जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था। रोमेन्टिसिज्म के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था। उसका आधार अधिक ठोस और और स्वप्न अधिक यथार्थ थे। वह छायावाद की अपेक्षा कम वायवी और अन्तर्मुखी था)।

३—छायावाद को शैली मानने के कारण (शुक्लजी इसे शैली मात्र मानते हैं।

कोई भी काव्य-धारा केवल अपनी अभिव्यक्ति की विचित्र शैली के कारण जीवित नहीं रह सकती। अनुभूति या कोई निश्चित दर्शन या दृष्टिकोण ही उसे गहराई दे सकता है। छायावाद भी अपना विशिष्ट दृष्टिकोण रखता है और वह दृष्टिकोण है भावात्मक दृष्टिकोण। डा० नगेन्द्र के शब्दों में "जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन के प्रति एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण था रीतिकाल एक दूसरे प्रकार का। उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।"

छायावाद के जन्मकाल की परिस्थितियाँ, विकास तथा उस पर बाहरी प्रभाव—

आधुनिक हिन्दी कविता का आरम्भ भारतेन्दु के समय से माना जाता है। भारतेन्दु का युग सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक क्रान्ति का युग था। समाज का रूप बदल रहा था। सामन्तशाही अपनी अन्तिम श्वासें ले रही थी और अपना उत्तराधिकार उसने पूंजीवाद

को दे दिया था। धर्म भी क्रान्ति की लपटों से नहीं बचा था। मानवतावादी ईसाई धर्म ने रूढ़िवादी हिन्दू धर्म पर करारी चोट की थी और उसे अपना रूप समयानुकूल बनाने के लिये विवश कर दिया था। फलस्वरूप हिन्दू धर्म में ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज तथा आर्यसमाज आदि का उदय हुआ। भारत का राजनैतिक क्षेत्र भी विदेशी चरणों से आक्रान्त होकर कुछ करवट लेना चाहता था और राजनैतिक रंगमंच के नेपथ्य में से विप्लवी वामपन्थी शक्तियों का समवेत स्वर स्पष्ट सुनाई देने लगा था। साम्राज्यवाद के विरुद्ध जन-विरोध तीव्र हो उठा था। साम्राज्यवादी सत्ता के बल-प्रयोग तथा हस्तक्षेप के कारण रुक कर वह गम्भीर तथा विक्षुब्ध होने लगा था। सन् १६०४ के जपान-रूस युद्ध में जापान की विजय ने एशियायी देशों को एक प्रकाश तथा आशा का बल दिया। कांग्रेस के नेतृत्व में भारत का जनान्दोलन तीव्रतर होने लगा और कांग्रेस में भी गर्मदल अधिक पुष्ट तथा लोकप्रिय हो चला। किन्तु इस आन्दोलन का असफलता में दुखद अन्त हुआ। भारतीय-क्रान्ति के कुछ सेनानी तो विदेश प्रयाण कर गये और कुछ ने सन्यास ले लिया। लोगों की भावनायें घुटने लगीं, वे निराश हो गये। गांधीजी जब आन्दोलन के सूत्रधार बने तो वे सत्याग्रह को अहिंसात्मक तथा भावात्मक रूप अपने साथ लाये। राजनीति स्थूल से हट कर सूक्ष्म की ओर मुड़ी। काव्य भी स्थूल से हट कर सूक्ष्म की ओर मुड़ा, किन्तु उसमें विद्रोही तत्त्वों की कमी नहीं थी। उसने प्राचीन भाव और भाषा में क्रान्ति की; विचारों में क्रान्ति की; वह साहित्यिक रूढ़ियों का कट्टर शत्रु था। उसने कविता-कामिनी का साहित्यिक नियमों की अंधकारा से उद्धार किया। उसने उषा से रोरी तथा निर्झरों के जल-सीकर लेकर उसकी अर्चना की। अलंकारों के व्यर्थ भार से उसे तथा उसके प्रकृत सौन्दर्य को मुक्त किया। पन्त ने कहा था—

—"तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी चाहिये तुम्हें क्या अलंकार।"

'खुल गये छन्द के बन्द प्रास के रजस पाश,
अब गीत मुक्त औ' युग वाणी बहती अयास।'

छायावाद का आरम्भ १६२१ के लगभग माना जाना चाहिये १६२१ से ३१ तक कितनी ही अच्छी छायावादी रचनायें प्रकाश में आईं

आँसू (१९२६), पल्लव (१९२७), परिमल (१९२०), नीहार (१९३०)। प्रसादजी छायावाद के ऐतिहासिक पुरुष हैं। उनका 'आँसू', छायावाद का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। वस्तु और शैली दोनों दृष्टियों से वह अपने काल की युगान्तरकारी रचना है। एक प्रसिद्ध आलोचक प्रसादजी के ऐतिहासिक महत्त्व की ओर इंगित करते हुए लिखते हैं—

"प्रसाद, पन्त और निराला की वृहत्त्रयी कविता के अन्तरंग और वाह्यों की—मौलिक सृष्टि करके साहित्य-समाज के सामने आई। इसमें भी ऐतिहासिक दृष्टि से जयशंकर 'प्रसाद' का कार्य सबसे अधिक विशेषता समन्वित है। उन्होंने कविता विषय को सर्वप्रथम रसमय बनाया। कल्पना और सौन्दर्य के नये स्पर्श अनुभव कराये।"

सन् १९३१ से १९३८ तक का युग छायावाद का स्वर्णयुग (विकसित-तम युग) है। इस काल में छायावाद के अमर ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। गुंजन (१९३२), कामायनी (१९३७), तुलसीदास (१९३८), गीतिका (१९३६)।

परिस्थितियाँ—

बड़े ही विक्षुब्ध साहित्यिक वातावरण में छायावाद का जन्म हुआ था। छायावाद का आरम्भ में बड़ा ही भयंकर विरोध हुआ। आचार्य शुक्ल ने उसे 'कायिक वृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण' कह कर उसे रोगी घोषित किया तथा 'अज्ञात प्रेयसी के प्रति अनर्गल प्रलाप कह कर' उसके स्वर को आलोचना की गई। उसे विदेशी औरस पुत्र बताया गया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने छायावादी लेखकों को 'तुक्कड़' बताया उनके कविता प्रयास को बाल-प्रयास कहा और उन्हें रवीन्द्र की कविता का असफल नक्काल कहा और यहाँ तक कह डाला कि "यदि ये लोग भी रवीन्द्रनाथ की ही तरह सिद्ध कवि हो जाँय और उन्हीं की जैसी गुह्यातिगुह्य कवित्व रचना करने में भी समर्थ हो जायँ तो कहना पड़ेगा कि किसी दिन 'विन्ध्यस्तरेत्सागरम्'।" द्विवेदी इन 'कमल, अमल, अरविंद, मलिंद आदि अनोखे उपनामों की लागूंल लगाने वाले' छायावादी कवियों को 'कवित्वहंता छोकड़े' तक कहने में नहीं हिचकते थे। इसी प्रकार पद्मसिंह शर्मा तथा लाला भगवानदीन को भी छायावादी काव्य की भाषा, अलंकार, आदि सब भद्दे प्रतीत होते थे। पं० पद्मसिंह शर्मा छायावादी कविता को 'कुत्सित कर्मनाशा की नई नदी' ही समझते थे। उन्होंने एक जगह पन्तजी की

'वीणा' और 'पल्लव' पर कठोर व्यंग करते हुए लिखा है—

"कुत्सित-वल्ली को प्रतिभा के वारि से सींचकर 'पल्लव' निकालिये, खुशी से उसकी छाया में बैठ कर 'वीणा' बजाइये, पर काव्य-कानन के कल्प-वृक्षों की जड़ पर कुमति-कुठार न चलाइये। यह अत्याचार असह्य है। आपको इसकी गन्ध नहीं भाती, शिकायत नहीं, अपनी पसन्द, अपनी रुचि—कीजै कहा करता से न चारो पर इनकी महक से मतवाले मधुप भी हैं, उन वृक्षों पर न सही इन पर दया कीजिये। 'पल्लव' के नोकीले और जहरीले काँटे इनके दिल में न चुभाइये, 'वीणा' में सोहनी स्वर छोड़िये, 'मारुराग' न बजाइये।"

भगवानदीन ने छायावाद को अंधकारवाद मानते हुए एक स्थान पर लिखा है—

"नाम 'सत्यप्रकाश' और भटकते फिरते हो अंधेरे में। भारत में न तो छायावाद चलेगा और न प्रतिविम्बवाद, यहाँ तो प्रकाशवाद ही रहा है और रहेगा।"

इसके पश्चात् आलोचकों के दूसरे दल ने भी 'छायावाद' पर विष उगलना जारी रखा। इनमें प्रमुख थे पं० रामचन्द्र शुक्ल, पन्नालाल पदुमलाल बख्शी तथा श्यामसुन्दरदास। छायावादी कवियों में सबसे अधिक विरोध सहना पड़ा महाकवि 'निराला' को। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने उनके साहित्य को घासलेटी साहित्य बताया और उनके सहित उनकी कविता के वहिष्कार का नारा हिन्दी-जगत में लगाया। उसके अतिरिक्त 'हरिऔध' तथा गुप्तजी (मैथिलीशरण) जैसे कवि भी छायावाद के विरोधी रहे हैं। किन्तु इस सम्मिलित विरोध ने छायावादी कवियों को आपस में मिला दिया और उन्होंने भी ईंट का जबाब पत्थर से देना आरम्भ किया। पंत की 'पल्लव' की भूमिका इस विषय में अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। 'प्रबन्ध पूर्णिमा' में निरालाजी ने भी अपने आलोचकों को खूब नोचा। 'निराला' की चिकोटी तिलमिला देने वाली होती है (उदाहरण के लिये 'कला के विरह में जोशी बन्धु' उनका लेख पढ़ा जा सकता है)। पन्त द्वारा द्विवेदीजी को दिये गये उत्तर तथा रीतिकाल के कविता-प्रेमियों पर किये गये व्यंग्य अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। उनमें से कुछ अंशों को उद्धृत करना असंगत न होगा। द्विवेदीजी की आलोचना से ढाल का काम लेते हुए पन्तजी प्रत्युत्तर देते हैं—

—"व्यास, कालिदास के होते हुए तथा सूर, तुलसी के अमर ग्रन्थों के होते हुए भी ये कवि यशोलिप्सु, कवित्वहन्ता, छायावाद के छोकड़े, कमल-यमल, अरविन्द-मलिन्द आदि अनोखे-अनोखे उपनामों की लाङ्गूल लगा कामा-फुलिस्टॉपों से जर्जरित, प्रश्न, आश्चर्य चिह्नों के तीरों से मर्माहित, कभी गज-गज की लम्बी- कमी दो ही दो उँगलियों की टेढ़ी-मेढ़ी, ऊँची-नीची, गतिहीन, छन्दहीन, काली सतरों की चींटियों की टोलियों, तथा अस्पृश्य काव्य के कच्चे घरोंदे बना, ताम्रपत्र-भोजपत्र को छोड़ बहुमूल्य कागज़ पर मनोहर टाइप में अनोखे-अनोखे चित्रों को सजधज तथा उत्सव के साथ छपवा कर जो 'विन्ध्यस्तरेत्सागरम्' की चेष्टा कर रहे हैं, यह सरासर इनकी हिमाकत, धृष्टता, अहम्मन्यता तथा 'हम चुनी दीगरे नेस्त' के सिवा और क्या हो सकता है ?"

ब्रजभाषा के मिस ब्रजभाषा-प्रेमियों की पन्त द्वारा की गई आलोचना बड़ी ही मर्मभेदी है—

—"पर उस ब्रज के वन में झाड़-झंखाड़, करील-बबूर भी बहुत हैं। उसके स्वर में दादुरों का बेसुरा आलाप, उसके कृमिल-पंकिल गर्भ में जीर्ण अस्थिपंजर, रोड़े, सिवार और घोंघों की भी कमी नहीं है। उनके बीच-बीच बहती हुई अमृत जान्हवी के चारों ओर जो शुष्क कर्दममय वालुका तट है उसमें विलास की मृगतृष्णा के पीछे भटकते हुए अनेक कवियों के अस्पष्ट पदचिह्न कालानिल के झोंकों से बचे हुए यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत का पात्र और बायें में विष से परिपूर्ण कटोरा है जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है। ओह! उस पुरानी गूदड़ी में असंख्य छिद्र अपार सङ्कीर्णतायें हैं।"

इसी प्रकार रीतिकालीन शृंगार के विरुद्ध पन्त की विद्रोहवाणी निम्नांकित पंक्तियों में फूट पड़ती है—

—"शृंगार प्रिय कवियों के लिये शेष ही क्या रह गया। उनकी अपरिमेय कल्पना-शक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैल कर 'नायिका' के 'अंग प्रत्यंग' में लिपट गई। बाल्यकाल से वृद्धावस्था पर्यन्त—जब तक कोई 'चन्द्रवदनि मृगलोचनी' तरस खाकर

१०

उनसे बाबा न कह दें—उनकी रसलोलुप सूक्ष्मतम दृष्टि केवल नख से लेकर शिख तक, दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक, यात्रा कर सकी। ऐसी विश्वव्यापी अनुभूति ! इसी विराट रूप का दर्शन कर ये पुष्प धनुर्धर कवि रति के महाभारत में विजयी हुए। समस्त देश के वीभत्स समुद्र को मथकर इन्होंने कामदेव को नव जन्म-दान दिया वह अब सहज में ही भस्म हो सकता है ?"

रीतिकाव्य के कलापक्ष पर भी उनका व्यंग अत्यन्त मार्मिक है-

—"भाव और भाषा का ऐसा शुक प्रयोग, राग और छन्दों का ऐसा एक स्वर, रिमझिम उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अशान्त उपलवृष्टि, क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है ?"

इस प्रकार पन्त ने अपने कठोर व्यङ्गों से प्राचीनतावादी रीति कविता-प्रेमियों की खूब खबर ली है। उपरोक्त पंक्तियों में द्विवेदीजी पद्मसिंह शर्मा एवं लाला भगवानदीन के आक्षेपों का करारा उत्तर तो है ही साथ ही उनकी कुत्सित रुचि एवं प्रतिक्रियावादी होने की कठोर आलोचना भी है। वह समय ही ऐसा था कि छायावाद के इन कवियों को प्राचीनतावादी लोगों को स्वयं ही अपने व्यङ्ग तथा उत्तरों से संतुष्ट करना पड़ा। बाद में जब 'छायावाद' काव्य की एक धारा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया तो कितने ही उच्चकोटि के आलोचकों ने अपनी प्रतिभा तथा आलोचना से छायावादी कविता का शृंगार किया, उसके गुणों का विश्लेषण किया। समर्थक आलोचकों में, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नागेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, विश्वम्भर 'मानव', तथा बाबू गुलाबराय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। लगभग दो दशाब्दियों तक छायावाद हिन्दी-साहित्याकाश पर छाया रहा।

बाह्य प्रभाव—

बंगला और अंग्रेजी साहित्य का स्पष्ट प्रभाव छायावाद पर दिखाई देता है। रवीन्द्र की 'गीतांजलि' की भारत में ही नहीं विदेशों में भी बड़ी धूम रही। हिन्दी के कवि भी 'गीतांजलि' से बड़े प्रभावित हुए। यह प्रभाव रायकृष्णदास, मैथिलीशरण गुप्त, पन्त, और 'निराला' पर बड़ा स्पष्ट है। अंग्रेजी भी इस समय तक पढ़े-लिखे वर्ग के अध्ययन की भा

बन गई थी और अंग्रेजी के ग्रन्थों का अनुवाद भी हिन्दी में आरम्भ हो गया था। अतः अंग्रेज़ी का प्रभाव दो रूपों में पड़ाः - १—अध्ययन द्वारा, २—अनुवाद द्वारा। अंग्रेजी के इस प्रभाव से लोगों के प्रकृति-विषयक दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ तथा वे अधिक मानवतावादी हो गये। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी के रोमान्टिकवाद तथा रोमान्टिक कवियों का भी प्रभाव हिन्दी पर पड़ा। इन कवियों में वर्डसवर्थ, शैली, कीट्स तथा ब्लैक मुख्य हैं। पन्त उपरोक्त कवियों के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त बंगला के अध्ययन तथा अनुवाद से भी हिन्दी छायावादी कवि प्रभावित हुए और वह प्रभाव उनकी रचनाओं में भी झलकता है। महात्मा गांधी, उपनिषद्, बुद्ध, विवेकानन्द का प्रभाव भी छायावादी कविता पर स्पष्ट है। पन्त इन प्रभावों को स्वीकार करते हैं।

अंग्रेजी के रोमान्टिक काव्य की कुछ विशेषतायें छायावाद में भी हैं—

उदाहरणार्थः—१—विस्मय मिश्रित कौतूहल

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ-कहाँ हे बाल विहंगिनि !
पाया तू ने यह गाना ? —पंत।

२—सौन्दर्य प्रेम—सौन्दर्य प्रेम तो पूरी छायावादी कविता का विषय ही है। 'सुन्दरम्' ही उसका आधार है। जितने सुन्दर चित्र इस (छायावादी) कविता में मिलेंगे अन्यत्र दुर्लभ हैं। सौन्दर्य वृत्ति तथा अचेतन प्रकृति में चेतन का आरोप छायावादी कविता की सर्व महान् विशेषतायें हैं। 'निरालाजी' की 'संध्या की सुन्दरी' कविता दोनों विशेषताओं का उत्कृष्ट निदर्शन है —

—"दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर,
किन्तु ज़रा गम्भीर-नहीं है उनमें हास-विलास

हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन काले घुँघराले बालों से
हृदय राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक
अलसता की सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता ने कन्धे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली
नहीं बजती उसके हाथों में वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप
नूपरों में भी रुनझुन रुनझुन नहीं
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा "चुप, चुप, चुप"
है गूँज रहा सब कहीं—"

३—सूक्ष्म-रहस्यात्मक अनुभूति—

सभी प्रमुख छायावादी कवियों में आध्यात्मिक रहस्यानुभूति मिलेगी—

—"न जाने कौन अएद्य तिमान
जान मुझ को अबोध, अज्ञान,
फूँक देते छिद्रों में गान
अहे सुख दुःख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन!"

—'पन्त'

४—मानवीकरण—

मानवीकरण की भावना तो छायावाद की आधार भूमि ही है। छायावादी कवि प्रकृति के अणुपरमाणु में 'मानवीय' भावनाओं का आरोप कर लेते हैं। 'गंगा' का 'मानवीकृत' चित्र कवि हमारे समक्ष रखता है—

—"सैकत शैया पर दुग्ध धवल,तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल
लेटी है श्रांत, क्लान्त, निश्चल, तापस बाला गंगा निर्मल
शशिमुख से दीपित मृदु करतल, लहरे उर पर कोमल कुंतल।"

उपरोक्त विशेषतायें छायावाद और रोमान्टिक काव्य में समान रूप से मिलती हैं। लेकिन दोनों में अन्तर भी है जिसे हम पीछे स्पष्ट कर

चुके हैं। रोमान्टिक काव्य का स्वर आशा, उत्साह तथा प्रसन्नता से ओत-प्रोत है क्योंकि उसके पीछे एक सफल राजनैतिक विद्रोह था जब कि छायावाद के पीछे असफल राजनैतिक विद्रोह था। अतः छायावाद का स्वर अवसादी है और पलायन के तत्व भी उसमें हैं।

(कुछ विद्वानों का यह भी कथन है कि छायावादी काव्य के अवसादपूर्ण होने का राजनैतिक आन्दोलन की असफलता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका कारण वे वैयक्तिक मानते हैं, सामाजिक नहीं। किन्तु कवि कभी युग से तटस्थ नहीं रह सकता। अरविंद के राजनीति से पलायन में और छायावादी कवियों के पलायन में कुछ सम्बन्ध हो सकता है।)

छायावाद की विशेषतायें (कलापक्ष)—

छायावाद की सर्वमहान् विशेषता उसकी भाषा-सम्बन्धी क्रान्ति है। छायावादी कवियों ने पुरातन-मात्र से घृणा का भाव दिखाया। उन्होंने भाव और भाषा दोनों में क्रान्ति की। 'पन्त' ने सभी कुछ 'नये' के लिये अपना स्वर ऊँचा किया। "नव विचार, नव रीतिनीति, नवनियम, भाव, नवदर्शन।" 'पन्त' ने भाव, भाषा, अलंकार सम्बन्धी विचार अपनी 'पल्लव' की भूमिका में व्यक्त किये हैं। वास्तव में उनका ऐतिहासिक महत्त्व है। पन्त के उन विचारों में से कुछ को यहाँ उद्धृत करना असंगत न होगा —

भाषा के सम्बन्ध में —

—"कविता के लिये चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिये, जो बोलते हों, सेव की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में, आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों, जिनका भाव संगीत विद्युत्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके........।"

अलंकारों के सम्बन्ध में—

—"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिये नहीं वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं।" "अलंकार वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं।"

छन्दों के विषय में :—

"कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कंपन, छन्द कविता का स्वभाव ही है। स्वयं प्रकृति एक अखण्ड संगीत है। छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।"

सभी छायावादी कवि पश्चिम से प्रभावित हैं। अतः सबसे अधिक छायावादी कवियों ने अंग्रेज़ी के कुछ अलंकारों को अपनाया जैसे मानवीकरण (Personification), विशेषण विपर्यय (Transferred Epithet) आदि।

छायावादी कविता ने खड़ी बोली की रुक्षता दूर की और भाषा की अभिव्यजना शक्ति बढ़ाई। भाषा की लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता के लिये छायावादी कविता प्रसिद्ध है और उसकी इस विशेषता का लोहा उसके विरोधी भी मानते हैं।

अब संक्षेप में छायावाद के कलापक्ष की विशेषताओं पर विचार किया जायः—

१—मानवीकरण —

मानवीकरण की पद्धति छायावाद की सबसे बड़ी विशेषताओं में से हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन साहित्य में इसका नितान्त अभाव है। 'मेघदूत' तथा 'पवनदूत' के रूप में इसका आभास तो प्राचीन काव्य में भी मिलता है परन्तु निश्चित रूप से यह काव्य की प्रवृत्ति इससे पूर्व कभी नहीं रही। कुछ उदाहरण देखियेः—

गंगा का मानवीकृत रूप —

सैकत शैया पर दुग्धधवल, तन्वगी गंगा ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रान्त, क्लान्त, निश्चल, तापस बाला गंगा निर्मल,
शशिमुख से दीपित मृदु करतल, लहरे उर पर कोमल कुन्तल।

—'पन्त'

रात्रि का मानवीकृत रूप —

पगली, हाँ सँभाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अचंल;
देख बिखरती हैं मणिराजी अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या ओ यौवन की मतवाली,
देख अकिंचन जगत लूटता तेरी छवि भोली-भाली।

—'प्रसाद'

संध्या का मानवीकृत रूप —

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है,
वह संध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे, धीरे, धीरे,

—'निराला'

२—अमूर्त का मूर्त विधान —

अमूर्त को मूर्तरूप देने की पद्धति छायावाद में प्रचुरता से मिलेगी। सभी छायावादी कवियों ने इसका प्रयोग किया है। उदाहरणार्थः—

मृत्यु अरी चिर निद्रे ! तेरा अंक हिमानी सा शीतल
तू अनन्त में लहर बनाती काल जलधि की सी हलचल।

× × ×

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यक्त नीलघन माला में,
सौदामिनि सन्धि सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में।

× × ×

ओ चिन्ता की पहली रेखा, अरी विश्ववन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प सी मतवाली।

—'प्रसाद'

३—मूर्त का अमूर्त विधान —

मूर्त वस्तुओं का अमूर्त रूप में चित्रण भी छायावादी कविताओं बहुत मिलेगा। उदाहरणार्थः—

गिरिवर के उर से उठ कर उच्चाकांक्षाओं से तरुवर,

—'पन्त'

बादल मूर्त वस्तु है उसका अमूर्त विधान देखिये—

धीरे धीरे संशय से उठ, बढ़ अपयश से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह से, फैल लालसा से निशि भोर।

+ + +

घोष भरे विप्लव भय से हम छा जाते द्रुत चारों ओर।

—'पन्त'

४—प्रतीक पद्धति—

शुक्लजी के मतानुसार छायावाद में गुण और धर्म की समानता से अधिक प्रभाव-साम्य पर जोर दिया गया है। जितने भी प्रतीक हैं उन्हें प्रभाव-साम्य का उदाहरण कहा जाता है। उदाहरण के लिये पहले 'कमल' सुन्दरता और कोमलता का उपमान था क्योंकि उसका धर्म, सुन्दरता और गुण, कोमलता है। परन्तु छायावादी कविता में इससे भिन्न ऐसे उपमान लिये गये जो इन दोनों वस्तुओं से भिन्न प्रभाव-साम्य रखते थे जैसे 'रात्रि' निराशा, का तथा 'प्रात:' 'प्रसन्नता' का। इसी प्रकार कितने ही प्रतीक मिलेंगे -

'अंधकार'—'दु:ख का प्रतीक'
'बसन्त'—'यौवन' का प्रतीक
'संध्या'—'अवसाद' का प्रतीक
'दीप-शिखा'—'साधना' की प्रतीक
'चाँदनी'—'पवित्रता' या 'स्निग्धता' का प्रतीक
'गोधूली'—'समाप्ति काल' का प्रतीक
'उषा'—'उल्लास' का प्रतीक
'प्रकाश—'सुख' का प्रतीक
'पतझड़'—'जरा'(वृद्धावस्था) का प्रतीक
'मुकुल'—'प्रफुल्लता' का प्रतीक
'बच्चों की साँस'—'भोलेपन' का प्रतीक
'घूँघट'—'रहस्य' का प्रतीक
'शलभ'—'साधक' का प्रतीक

'प्रतीक' भाषा में भाव-गाम्भीर्य तो लाते ही हैं, साथ ही उससे भाषा की व्यञ्जक शक्ति भी बढ़ती है। 'प्रसादजी' के निम्नांकित छंद में कई प्रतीकों का एक साथ प्रयोग हुआ है।

—"शशिमुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छुपाए
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आए। —'प्रसाद'

उषा का था उर में आवास
मुकुल का मुख में मृदुल विकास
चाँदनी का स्वभाव में वास
विचारों में बच्चों की साँस।"

५—गत्यात्मकता—

जहाँ कविता में एक गति का आभास मिलता हो —

—"चमक झमकमय मंत्र वशीकर
छहर घहरमय विषसीकर।"

"—स्वर्ग सेतु से इंद्रधनुष धर
काम रूप घनश्याम अमर।" —'पन्त'

६—चित्रोपमता—

"—भाषा जहाँ चित्र खड़ा कर देती है—
बाँसों का झुरमुट, संध्या का झुटपुट
चिड़ियाँ करती टी वीटी टुटु टुट
थे नाप रहे निज घर का मग, कुछ श्रमजीवी धर डगमग पग
भारी है जीवन, भारी पग।"

७—चित्रमय विशेषण (One word picture)—

चित्रमय एवं सार्थक लम्बे विशेषणों का प्रयोग भी छायावादी शैली की विशेषता है—

"—हृदय की सुरभित साँस (स्नेह)
स्तब्ध विश्वके अपलक विस्मय (नक्षत्र)
मूक गिरवर का मुखरित गान (निर्झर)
नभ की निस्सीम हिलोर (वायु)
विश्व वन की व्याली (चिंता)
तरल गाल की लघुलहरी (चिंता)
तम के सुन्दरतम् रहस्य (तारा)
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल विंदु (तारा)
हे अनन्त की गणना (तारा)" —'प्रसाद'

८—ध्वन्यात्मकता—

भाषा के शब्द जहाँ स्वयं बोलने लगते हैं। भाषा में से ध्वनि निकलने लगती है—

"—पपीहों की वह पीन पुकार, निर्झरों की भारी झरझर
झींगुरों की झीनी झंकार, घनों की गुरु गम्भीर घहर।
बिन्दुओं की छनती छनकार, दादुरों के वे दुहरे स्वर।"

\+ \+ \+

"—शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर।" —'पन्त'

६—विशेषण विपर्यय—

भावगाम्भीर्य तथा सजीवता-मार्मिकता लाने के लिए विशेषण को संज्ञा बनाकर उसके पहले और विशेषणों का प्रयोग किया जाता है—

"—कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता सिसकता गान है" —'पन्त'
× × × ×
आह यह मेरा गीला गान । —'पन्त'

छन्द विधान—

छायावादी कवियों ने 'छन्द के बन्धनों' को स्वीकार नहीं किया। वे तो 'युगवाणी' को 'अयास' ही बहने देना चाहते थे, अतः जहाँ उन्होंने मुक्त छन्दों में लिखा वहाँ नवीन छन्दों का निर्माण भी किया। छंदों के विषय में यहाँ महादेवी और 'पन्त' के विचारों से परिचित होना आवश्यक है—

महादेवी वर्मा लिखती हैं—

"—छायावाद ने नए छंदबन्धों में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को जो रूप देना चाहा वह खड़ी बोली की सात्विक कठोरता नहीं सह सकता था, अतः कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नापतोल और काट-छाँट कर तथा कुछ नए गढ़ कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतर कलेवर दिया।"

पंतजी लिखते हैं:—

"—संस्कृत का संगीत जिस प्रकार हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छंद ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है। वर्ण वृत्तों की लहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य खो बैठती है।"

'हरिऔधजी' ने 'प्रिय प्रवास' को संस्कृत में प्रयुक्त वर्णिक छन्दों में लिखा था। 'पन्तजी' का विचार है कि हिन्दी भाषा में लिखे जाने वाले छंद स्वर प्रधान होने चाहिये। इसीलिये 'पन्तजी' ने ही क्या सभी छायावादी कवियों ने हिन्दी भाषा के स्वभाव के अनुकूल मात्रिक छंदों का ही प्रयोग अधिक किया है जिसमें पीयूषवर्षण रूपमाला तथा सखीछंद प्रमुख हैं।

छायावादी छंदों के विषय में डा० नगेन्द्र लिखते हैं :—

"—पन्तजी ने हिन्दी के कोमल छन्दों को चुनकर संगीत और गीत का पूर्ण ध्यान रखते हुए भावानुकूल परिवर्तन करके इस कला को विकसित किया। 'निरालाजी' ने लय और ताल के आधार पर स्वछंद छंद (मुक्त छंद) की सृष्टि की। महादेवी ने पुराने ग्राम गीतों में नवीन कलात्मक प्राण फूँक कर उन्होंने एक अपूर्व सौन्दर्य प्रदान किया।"

छायावाद की विशेषतायें (भावपक्ष)—

छायावाद प्रकृति तथा शृंगारिक भावना—

हिन्दी साहित्य के इतिहास में छायावाद का युग ही एक ऐसा युग है जिसमें प्रकृति का आलम्बन रूप में भी चित्रण मिलता है। यों प्राचीन साहित्य से कुछ उदाहरण प्रकृति के आलम्बन रूप में चित्रित होने के दिये जा सकते हैं किन्तु वे इने-गिने उदाहरण तत्सम्बन्धी अभाव को ही अधिक व्यक्त करते हैं। छायावादी कवियों ने सर्व-प्रथम प्रकृति के सौन्दर्य से आकृष्ट हो कर उस पर सुन्दर रचनायें लिखीं, जड़ समझे जाने वाली प्रकृति में भी उन्होंने चेतना देखी। प्रकृति के अनन्य कवि 'पन्त' तो स्पष्टतः यह स्वीकार करते हैं कि कविता करने की प्रेरणा उन्हें प्रकृति से मिली—

"—कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकांत में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँख मूँद कर लेटता था, तो वह दृश्यपट चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूं कि क्षितिज में दूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी, ये हरित नील, धूमिल, कूर्मांचल की छायांकित पर्वत श्रेणियाँ जो अपने शिखरों पर रजत मुकुट हिमाचल को धारण की हुई हैं और अपनी ऊँचाई से आकाश की आवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाये हुए हैं किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव सम्मोहन के आश्चर्य में डुबाकर कुछ काल के लिये भुला सकती है।"

"प्रकृति निरीक्षण से मुझे अपनी भावनाओं की अभिव्यजंना में

अधिक सहायता मिली है कहीं उससे विचारों को प्रेरणा भी मिली है।"

पन्त प्रकृति प्रेम को छोड़, अपने को लोचन 'वाला' के बाल जाल में भी नहीं उलझाना चाहते—

"—छोड़ द्रुमों की मृदु छाया तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझादूं लोचन....।"

इसके अतिरिक्त 'पन्त' तो प्रकृति को अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में भी देखते हैं :—

"—उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही मा वह अपनी वय वाली में।"

पन्त के प्रकृति चित्रण सम्बन्धी कुछ और उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"—पावस ऋतु है पर्वत प्रदेश,
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्र दृग सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार नीचे जल में निज महाकार
जिसके चरणों में पड़ा ताल, दर्पण सा फैला है विशाल।"

बादल— "—फिर परियों के बच्चों से हम,
सुभग सीप के पंख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में,
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार॥
× ×
धूम धुँआरे काजर कारे,
हम ही बिकरारे बादर,
मदन राज के वीर बहादुर
पावस के उड़ते फणिधर"

नौका विहार—"चाँदी के साँपों सी रलमल, नाचती रश्मियाँ जल में च
रेखाओं सी खिच तरल सरल।"

डा० नगेन्द्र के अनुसार छायावादी कवियों ने प्रकृति का दो रू में उपयोग किया है—

१—"शान्त स्निग्ध विश्राम भूमि के रूप में।"
२—"प्रतीक रूप में।"

यह स्मरण रखने योग्य बात है कि प्रतीकों में काम-प्रतीक ही विशेषरूप से छायावादी कवियों को ग्राह्य हैं।

वास्तव में छायावादी काव्य में प्रकृति नारी रूप में ही चित्रित मिलती है। छायावाद के प्रमुख कवि 'प्रसादजी' नारी को प्रकृतिमय देखते हैं तो 'पन्तजी' प्रकृति को नारीमय। 'प्रसादजी' की कविता से कुछ ऐसे उदाहरण देना असंगत न होगा जिसमें वे नारी में प्रकृति वैभव देखते हैं—(श्रद्धा का रूप वर्णन)—

"—नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।
आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि मण्डल उनको भेद—
दिखाई देता हो छविधाम।

× × ×

उषा की पहली लेखा कांत
माधुरी से भींगी भर मोद;
मदभरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद।
कुसुम कानन अंचल में मन्द
पवन प्रेरित सौरभ साकार;
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।"

पन्तजी इसके विरुद्ध प्रकृति में सर्वत्र नारीत्व की ही झलक देखते हैं:—(गंगा का नारी रूप में चित्र)—

"—सैकत शैया पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी हैं श्रान्त क्लान्त निश्चल।
तापस बाला सी गंगा कल, शशिमुख से दीपित मृदु करतल,
लहरें उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तार तरल सुन्दर।

चंचल अंचल सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर
सिमटी है वर्तुल, मृदुल लहर।

दो बाहों से दूरस्थ तीर, धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर।"

'पन्तजी' ने स्वयं लिखा है कि प्रकृति के सुन्दर दृश्यों में वे इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें अपनी सुधि तक नहीं रहती थी। वस्तु जगत की नग्न वास्तविकताओं एवं कठोर अभावों से प्रताड़ित छायावादी कवियों का मन प्रकृति वर्णन में एवं उसकी कल्पना में ही विश्राम प्राप्त करने लगा।

'पन्तजी' की 'हिमाद्रि' कविता की निम्नांकित पक्तियाँ इस बात को स्पष्ट कर सकेंगी—

"—मानदण्ड भू के अखण्ड हे
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण,
प्रिय हिमाद्रि तुमको हिमकण से
घेरे मेरे जीवन के क्षण।
मुझ अंचलवासी को तुमने
शैशव में आशी दी पावन,
नभ में नयनों को खो तबसे
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन।
कब से शब्दों के शिखरों में
तुम्हें चाहता करना चित्रित,
शुभ्र शान्ति में समाधिस्थ हे
शाश्वत सुन्दरता के भूभृत।
बाल्य चेतना मेरी तुममें
जड़ी भूत आनन्द तरंगित,
तुम्हें देख सौन्दर्य साधना
मेरी महाश्चर्य से विस्मित।
जिन शिखरों को स्वर्ण-किरण नित
ज्योति मुकुट से करती मंडित,
जिन पर सहसा स्खलित तड़ित

हो उठती निज आलोक से चकित ।
जिन शिखरों पर रजत पूर्णिमा
सिन्धु ज्वार सी लगती स्तम्भित,
जिनकी भी नीरवता मेरे
गीत स्वप्न रहते थे झंकृत ।
जिनकी शीतल ज्वाला में जल
बनी चेतना मेरी निर्मल,
प्राण हुये आलोकित जिनके
स्वर्गोन्नत सौन्दर्य से सजल ।
हृदय चाहता काव्य कल्पना
को किरीट पहनाना उज्ज्वल
स्मृति में ज्योति तरंगित स्वर्गिक
शृंगों के आलोक का तरल ।"

काम-प्रतीकों के रूप में प्रकृति-उपमानों को उपस्थित करने के लिये 'कामायनी' के श्रद्धा रूप वर्णन को प्रस्तुत किया जा सकता है—

शृंगारिकता—

यदि कहें कि छायावादी काव्य मूलतः शृंगार काव्य है तो अत्युक्ति नहीं होगी । परन्तु एक बात अवश्य ध्यान में रखने योग्य है कि रीतिकालीन शृंगारिक अभिव्यक्ति और छायावादी अभिव्यक्ति में आकाश-पाताल का अन्तर है । रीतिकालीन शृंगारिक अभिव्यक्ति अत्यन्त माँसल एवं कामोत्तेजक है किन्तु छायावादी शृंगारिक अभिव्यक्ति अशरीरी एवं जिज्ञासा प्रधान है । छायावादी कवि का सौन्दर्य के प्रति दृष्टिकोण वासनात्मक नहीं है अपितु जिज्ञासात्मक आश्चर्यपूर्ण एवं विस्मयात्मक है । डा० नगेन्द्र इसे अतीन्द्रिय शृंगार कहते हैं और उनके मतानुसार यह दो रूपों में व्यक्त हुआ है :—

१—प्रकृति के प्रतीकों द्वारा । (प्रकृति पर नारी भाव का आरोप)।

२—नारी शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा, उसके आत्म सौन्दर्य को प्रधानता देते हुये ।

छायावाद के इस अशरीरी या अतीन्द्रिय शृंगार का कारण बताते हुए डा० नगेन्द्र लिखते हैं—"कठोर नैतिकता के अंकुश के कारण शृंगारिक भावनायें स्वच्छंद अभिव्यक्ति नहीं पा सकी ।"

अतः वे ही भावनायें "प्रच्छन्न (अशरीरी एवं शृंगार सज्जा) रूप में अभिव्यक्त हुई।" नारी का रूप ही छायावादी कवियों के शृंगार का अव्यय स्रोत है। किन्तु वह रीतिकाल की भाँति उपभोग का नहीं अपितु विस्मय का विषय है। 'निराला' की 'जुही की कली' इस प्रकार के सौन्दर्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। सोती हुई जुही की कली वास्तव में सोती हुई कोई नारी है। सोती हुई नारी के सम्पूर्ण कार्य-कलापों को बड़ी चतुराई से 'निरालाजी' 'जुही की कली' में दिखा सके हैं—

"—विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी, स्नेह स्वप्न मग्न,
अमल-कोमल-तनु तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किए शिथिल पत्रांक में।"

इसी प्रकार 'निरालाजी' 'शेफाली' का भी बिलकुल नारीरूप में एक मनोहर चित्र उपस्थित करते हैं—

"—बन्द कंचुकी के सब खोल दिए प्यार से,
यौवन उभार ने,
पल्लव पर्यंक पर सोई शेफाली के।"

संक्षेप में छायावादी कवियों ने नारी और प्रकृति को अभिन्न करके देखा है। नारी में प्रकृति और प्रकृति में नारी की छाया छायावाद की महती विशेषता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि छायावाद रीतिकालीन भाव-भाषा एवं छंदों के विरुद्ध एक विद्रोह के रूप में आया किन्तु शृंगार उसका भी मेरुदण्ड रहा। छायावाद के बीस पच्चीस वर्षों में भाषा ने कितनी प्रौढ़ता एवं भाव व्यंजकता प्राप्त की यह वास्तव में आश्चर्य का विषय है। 'प्रसादजी' ने कुछ ही शब्दों में छायावाद की 'आत्मा' को बाँधने का प्रयास किया है—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषतायें हैं।" जगत की नग्न विभीषिकाओं से पलायन कर अतीन्द्रिय कल्पनालोक में निवास कर छायावादी कवि भाषा को ही माँजते-सँवारते रहे। यदि कहें कि गीत

२०, २५ वर्ष की साहित्य-साधना उसके कलापक्ष की ही साधना है, तो अत्युक्ति न होगी। किन्तु आकाशवेलि (अमरवेलि) की भाँति छायावाद अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सका क्योंकि उसकी जड़ें पृथ्वी में नहीं थीं। आकाश की वायु उसकी छाया को श्वास तो दे सकी किन्तु धरती के अभाव में उसकी काया को जीवनरस नहीं मिला। इसीलिए 'छायावाद' की छाया जितनी घनीभूत और विस्तृत है, उसकी काया उतनी ही अशक्त और सूक्ष्म। फिर भी छायावाद के पास काव्य-अधिष्ठात्री सरस्वती के चरणों में समर्पित करने के लिये उसे प्रसन्न करने के लिए पर्याप्त सामग्री है।

छायावाद पर पाठ्य सामग्री :—

१—छायावाद और प्रगतिवाद —ले० सम्पादक देवेन्द्रनाथ शर्मा।
२—छायावाद —ले० डा० रामरत्नभटनागर।
३—हिन्दी वादों का विवेचन —ले० स्वयंप्रकाश उपाध्याय, 'सौमित्र'।
४—छायावाद की परिभाषा (निबन्ध) —ले० डा० नगेन्द्र।
५—हिन्दी साहित्य का इतिहास —ले० रामचन्द्र शुक्ल।
६—आधुनिक कवि (नं० २) की भूमिका—ले० सुमित्रानन्दन 'पन्त'।
७—पल्लव की भूमिका —ले० सुमित्रानन्दन 'पन्त'।
८—उत्तरा की भूमिका —ले० सुमित्रानन्दन 'पन्त'।
९—छायावाद (निबन्ध) —ले० जयशंकरप्रसाद।
१०—यामा की भूमिक —ले० महादेवी वर्मा।
११—छायावाद —ले० गंगाप्रसाद पाण्डेय।
१२—सुमित्रानन्दन 'पन्त' —ले० डा० नगेन्द्र।
१३—कबीर का रहस्यवाद —ले० डा० रामकुमार वर्मा।
१४—हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ —ले० जयकिशनदास।

———

: : ७ : :

रहस्यवाद

रहस्य की भावना का मूल—

मनुष्य ने जब प्रथमतः सृष्टि में अपनी आँखें खोली होंगी तो उसे अपने चतुर्दिक वातावरण पेड़-पौधे, पुष्प, पशु, पक्षी, तारागण, सूर्य चन्द्र, आदि को देख कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ होगा। मनुष्य की उस आदिम तुतलाहट को सामवेद आज भी अपने अन्तर में सुरक्षित रखे हुए है। इतना तो निश्चित है कि आरम्भ में मानव नामधारी जीव का मस्तिष्क अविकसित था, किन्तु उसका हृदय अपेक्षाकृत अधिक विकसित था इसलिये उसकी आरम्भिक क्रियायें भाव-प्रधान अधिक थीं, बुद्धि-प्रधान कम। संक्षेप में कहें कि आदि मानव का आरम्भिक जीवन आश्चर्यमय था। आश्चर्य अज्ञान का सखा है। 'प्रसादजी' ने मनु द्वारा मनुष्य की आरम्भिक भावनाओं का बहुत ही सुन्दर चित्र 'कामायनी' में दिया है मनु प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं को देख कर आश्चर्य मग्न हो जाते हैं वे वस्तुयें उनके हृदय में गुदगुदी पैदा करती हैं। उनके मस्तिष्क को भी सजग करती हैं किन्तु विश्लेषण की असामर्थ्य उनके आश्चर्य को भावोच्छ्वासों में व्यक्त करती है। मनु आश्चर्य करते हैं—

—"महानील इस परम व्योम में,
अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान
ग्रह नक्षत्र और विद्युतकण
किसका करते से संधान।
छिप जाते हैं और निकलते,
आकर्षण में खिंचे हुए;
तृण वीरुध लहलहे हो रहे,
किसके रस से सिंचे हुए ?"

किन्तु धीरे-धीरे मनुष्य का मस्तिष्क सजग हुआ। प्रकृति के प...

उसके चिरसहचर हो गये और उसका तद्विषयक आश्चर्य धीरे-धीरे कम हुआ किन्तु एक बात उसकी समझ में फिर भी न आई कि उचित समय पर उदित और अस्त होने वाले सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों का नियमन और संचालन कौन करता है ? संसार के मूल में, उसकी गति में एक निश्चित क्रम है उसका नियन्त्रण कौन कर रहा है ?

—"सिर नीचा कर किसकी सत्ता,
सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?"

इस चराचर विश्व के पार किसी अज्ञात सत्ता या शक्ति का आभास तो उसे हुआ किन्तु वह सत्ता कौन है, क्या है? इसका रहस्य वह नहीं समझ सका और वह आज तक उसके लिये रहस्य का विषय है। अज्ञान के तट पर खड़ा मानव दिग्भूव्यापी असीम, अव्यक्त सत्ता के आभास से आश्चर्य विजड़ित होकर अपने कण्ठ स्वरों में जिज्ञासा का भाव भर कर पुकारने लगा—

—"हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता,
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो,
भार विचार न सह सकता ।
हे विराट, हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान
मन्द गम्भीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान ।"

इस प्रकार रहस्य की भावना का मूल है जिज्ञासा और वह सृष्टि के आदि में ही पाई जाती है। किन्तु रहस्य की भावना और रहस्यवाद में अन्तर है। कोई सहज भावना जब सजग प्रवृत्ति बन जाती है या विचारों को व्यक्त करने की एक विशेष पद्धति बन जाती है तब वह 'वाद' बनती है।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होता है प्राप्ति के पश्चात् वह वस्तु उसके लिये इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाती, जितनी कि वह प्रयत्नावाथा में थी।

ऐसी कोई वस्तु विश्व के इतिहास में दिखाई नहीं देती कि जिसके लिये मनुष्य ने प्रयत्न किया हो और वह उसकी सफलता की परिधि के बाहर रह गई हो; हाँ एक वस्तु अवश्य है और वह है ब्रह्म। सृष्टि के आदि से आज तक ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये मानव साधनारत है किन्तु उसकी प्राप्ति का गर्व करने योग्य वह आज भी नहीं हुआ है। मानव के हृदय और मस्तिष्क अपनी अजेयशक्ति को यदि कहीं कुण्ठित पाते हैं तो यहीं। किसी कवि ने इसी भाव को यों व्यक्त किया है —

—"पाना अलभ्य को जग की यह कैसी है अभिलाषा।
है ब्रह्म अप्राप्य इसी से सब करते उसकी आशा॥"

किन्तु सिद्धि के इस अनिश्चित एवं दीर्घकालीन बिलम्ब ने मानव को उसके साधना-पथ से अभी तक विचलित नहीं किया। मनुष्य ने अपने मस्तिष्क और हृदय के मार्ग से अपनी इस अनन्त यात्रा में अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है। दर्शन मनुष्य के मस्तिष्क पथ की यात्रा का और काव्य हृदय-पथ की यात्रा का क्रमिक इतिहास है।

शुक्लजी ने लिखा है कि साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है काव्य में वही रहस्यवाद है। वास्तव में मनुष्य मस्तिष्क के द्वारा जिस लक्ष्य तक पहुँचता है, वहाँ रहस्य सम्भव ही नहीं है। ब्रह्म के निराकार रूप का अनुसंधान मानव ने इसी मार्ग से किया। इसलिये दर्शन विश्लेषण प्रधान है, रहस्यमय नहीं। उसके साकार रूप को मानव ने अपने हृदय का विषय बनाया इसलिये आकारयुक्त होने के कारण रहस्य की भावना से वह भी रहित है। भक्ति के क्षेत्र में रहस्य की भावना (रहस्यवाद) का सूत्रपात हुआ तब, जब मनुष्य ने निराकार ब्रह्म को—जो मस्तिष्क के चिन्तन का विषय था—हृदय का या प्रेम का विषय बनाया। निराकार के प्रति प्रणयानुभूति रहस्यवाद का मूल तन्तु है और निराकार के प्रति काल्पनिक प्रणयानुभूति की साहित्यिक अभिव्यक्ति रहस्यवादी काव्य का मूल है। अर्थात् निराकार ईश्वर के प्रति प्रेम की काल्पनिक भावना को जब काव्य के द्वारा प्रकट करते हैं तो उसी को रहस्यवाद का नाम दिया जाता है।

रहस्यवाद का इतिहास—

हिन्दी में रहस्यवाद का इतिहास पर्याप्त प्राचीन है। सर्वप्रथम

रहस्यवाद की भावना नाथपंथी योगियों में पाई जाती है। परन्तु काव्य में कबीर ही इसके आदि कवि ठहरते हैं। राम, कबीर के उपास्य हैं, किन्तु वे दशरथ पुत्र राम नहीं "दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।" उनके राम तो "त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत विलक्षण, भावाभाव विनुर्मुक्त, अलख, अगोचर, अगम्य-प्रेमपारावार" तथा ब्रह्म हैं। इन्हीं राम को कबीर निर्गुण राम कहते हैं।

"निर्गुण राम जपहु रे भाई, अविगत की गति लखी न जाई।" वह अभिव्यक्ति के परे है केवल अनुभव की वस्तु—

—"गूँगे केरी सर्करा, बैठे मुसकाई।"

किन्तु इस निर्गुण ब्रह्म को भी कबीर ने अपने हृदय के माध्यम से भक्ति का विषय बनाया। मस्तिष्क के मध्यम से चिन्तन का नहीं और इसी कारण उनकी रचनायें रहस्य से युक्त हैं। माधुर्य-भाव की भक्ति-रहस्य की भावना के लिये आवश्यक है। कबीर तो अपने को राम की 'बहुरिया' ही मानते हैं—

—"राम मोर पीउ हौं राम की बहुरिया"

इतना ही नहीं राम उनके पाहुने बन कर आते हैं और कबीर के साथ उनकी भाँवरें भी पड़ती हैं—

—"सजनी गाबहु मंगलाचार
तन रत कर मैं मन रत करिहौं पंचतत्व बाराती।
राम देव मोरे पाहुने आए हौ जोबन में माती।।"

लेकिन एक बार संयोग होने के पश्चात् फिर जो वियोग होता है, तो वह तो यावज्जीवन रोते रहने की एक लम्बी कहानी है। कबीर कितना ही अपने प्रेम का वर्णन करें, कितना ही विरह में रोयें, किन्तु उनके आराध्य रहते सदैव निर्गुण ही हैं। प्रियतम से मिलने की उद्दाम लालसा है किन्तु स्वयं उनके यहाँ जाने में लज्जा लगती है। मार्ग भी तो कितना कठिन है और साधक कितना अनाड़ी, फिर साधना की ये सीढ़ियाँ वह किस प्रकार चढ़े। कबीर की वियोगी आत्मा उसे 'अंग लगाकर' भेंटना चाहती है, इसीलिए तो उसने शरीर धारण किया है—

—"प्रिया मिलन की आस रहौं कवलौं खरी,
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी।
पाँव नहीं ठहराइ चढ़ूँ गिरि गिरि परूँ,
फिर चढ़ूँ सँभारि चरण आगे धरूँ,
अंग अंग थहिराइ तौ बहु विधि डरि रहूँ,
करम कपट मग घेरि तो भ्रम में पड़ि रहूँ।
बारी निपट अनारि ये तो झीनी गैल है,
अटपट चाल तुम्हार मिलन कैसे होइ है ?"

राम के प्रति प्रेमलीला का विस्तृत वर्णन कबीर ने किया है किन्तु साध्य के निराकार होने के कारण वह रहस्यमय हो गया है।

कबीर में प्रेम की तीव्रता और मधुरता सगुणोपासक कवियों से कम नहीं है। अपने प्रियतम के विरह में रोते-रोते उनकी आँखें प्रकाशहीन हो चली हैं, जीभ में छाले पड़ गए हैं, लेकिन बिना रोए प्रियतम से भेंट जो नहीं होती—हँसने से अपने प्रिय से भेंट नहीं होती—

—"आँखड़ियाँ झाँई पड़ी पन्थ निहारि निहारि,
जीभड़ियाँ छाला पड़्या राम पुकारि पुकारि।
हँसि हँसि कन्थ न पाइये जिनि पाया तिन रोइ,
जो हाँसे ही हरि मिले तो न दुहागिनि कोइ।"

विरहिणी अपने प्रियतम के शुभागमन की आशा में मार्ग, पर जाकर खड़ी हो गई है और प्रत्येक पथिक से पूंछती है, तुमने उन्हें देखा है ? "कब तक आ जायेंगे वे" ?

—"विरहिनि ऊभी पंथ सिर पूछे पंथी धाइ
एक सबद कहि पीउ कौ कबरे मिलेंगे आइ।"

निराकार के प्रति इस प्रेम में भी कितनी तल्लीनता है प्रियतम ने प्रेम का एक बाण अपने भक्त के अन्तर को लक्ष्य करके मारा है। वह बाण ही अब भक्त के जीवन का आधार है। उसके बिना उसका जीवन सम्भव ही नहीं।

—"जबहु मारा खींचि करि तब में पाई जाणि।
लागी चोट मरम्म की गई कलेजा छाँड़ि।
जिस सर मारी काल्हि सो सर मेरे मन बसा।
तिहि सर अबहु मारि, सर बिनु सचु पाऊँ नहीं ॥"

कबीर का रहस्यवाद बहुत कुछ साधनात्मक लगता है और शुक्लजी इसीलिये उसे साम्प्रदायिक तक कहते हैं क्योंकि उनकी रचनाओं में हठयोगी प्रतीकों का ही समावेश है। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रेम उनकी भी भक्ति का आधार था जैसा कि सगुणोपासक भक्तों में होता है। इसका कारण भी था, वास्तव में निर्गुण सम्प्रदाय और सगुण सम्प्रदाय एक महान् भक्ति आंदोलन के ही दो भाग थे। इस वेदान्त भक्ति आंदोलन का सूत्रपात दक्षिण से हुआ था, इसके दो रूप थे :—

१—पौराणिक अवतारों को जिसने अपना केन्द्र बनाया अर्थात् सगुणोपासना।

२—निर्गुण ब्रह्म को जिसने अपना केन्द्र बनाया अर्थात् निर्गुणोपासना।

किन्तु भक्ति की इन दोनों पद्धतियों में प्रेम समान रूप से ग्राह्य था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस विषय में लिखते हैं— "प्रेम दोनों का मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनों को अप्रिय था, अहैतुक भक्ति दोनों को काम्य थी। बिना शर्त भगवान के प्रति आत्मसमर्पण दोनों को प्रिय साधन थे। इन बातों में दोनों एक थे।"

इसमें तो संदेह नहीं कि कबीर पर हठयोग का प्रभाव है। इसीलिये हठयोग के प्रतीकों का कबीर में बाहुल्य है किन्तु यह कहना ठीक न होगा कि वे और प्रभावों से बिलकुल मुक्त थे। कबीर का रहस्यवाद कितनी ही विचित्र वस्तुओं का मिश्रण है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के अनुसार कबीर के रहस्यवाद पर, हठयोग, सूफियों के प्रेम तत्व तथा भारतीय अद्वैतवाद का प्रभाव स्पष्ट है।

कबीर की विरहिणी आत्मा का अपने प्रियतम से सम्मिलन हुआ था। वे राम से अलग थे ही नहीं इसीलिये तो उन्होंने कहा था कि अब राम नहीं मरेंगे तो मैं कैसे मरूँगा —

—"राम न मरिहैं तो हमहु न मरिहैं।"

डॉ० हजारीप्रसाद के मतानुसार कबीर साधनात्मक योग से सहजयोग की ओर बढ़े हैं। हो सकता है, रामनन्दजी से साक्षात्कार होने के पहले वे हठयोग के समर्थक हों और उनके प्रभाव से बाद में सहजयोग को अधिक महत्त्व देने लगे हों—इसके प्रमाण उनकी रचनाओं से बराबर मिलते हैं। हो सकता है, रामनन्द से भेंट होने से पूर्व

के विचार अस्पष्ट हों किन्तु उनसे मिलने पर उनके (कबीर के) भ्र
दूर होगये ऐसा वे स्वीकार करते हैं—

—"सद्गुरु के परतापतें मिट गयौ सब दुःख दन्द,
कह कबीर दुविधा मिटी गुरु मिल्या रामानन्द ॥"

हो सकता है, आरम्भ में कबीर का विश्वास हठमार्ग में दृढ़ हो,
शृंगी, मुद्रा, आसन, नाद आदि को अधिक महत्त्व देते हों, किन्तु अन्त
में तो वे ये मानने लगे थे कि बिना भक्ति के सब कुछ व्यर्थ है और
भक्ति बिना प्रेम के सम्भव नहीं।

—"भाग बिना नहिं पाइये, प्रेम प्रीति की भक्त।
बिना प्रेम नहिं भक्ति कछु भक्ति परयौ सब जक्त॥"

काया का योग (हठयोग) बिलकुल व्यर्थ हैं मन का योग ही स
कुछ है। शृंगी, मुद्रा आदि तो मन के अन्दर ही देखी ज
सकती है —

—"तन कौ जोगी सब करें मन का बिरला कोइ।
सहजैं सब बिधि पाइये जो मन जोगी होइ॥" तथा

—"सो जोगी जाके मन में मुद्रा राति दिवस ना करई निद्रा
मन में आसणमन में रहना, मन का जप तप मनसूँ कहणा
मन में खपरा मन में सींगी, अनहद देव न बजावै रंगी
पंच पर जारि भसमकरि भूका, कहै कबीर सो लहसै लंका।"

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर में रामानन्द की भेंट के पश्चा
जो परिवर्तन हुआ उसके विषय में लिखते हैं—"सो जिस दिन महागु
रामानन्द ने कबीर को भक्ति रूपी रसायन दी, उस दिन से उन्हों
सहज समाधि की दीक्षा ली। आँख मूँदने और कान रूँधने के टन्टे
प्रणाम किया। मुद्रा और आसन की गुलामी को सलामी दे दी। उन
चलना ही परिक्रमा हो गया, काम काज ही सेवा हो गए, सोना
प्रणाम बन गया, बोलना ही नाम जप हो गया और खाने-पीने ने
पूजा का स्थान ले लिया। हठयोग के टन्टे दूर हो गए। खुली आँखों
ही उन्होंने भगवान के मधुर मादक रूप को देखा, खुले कानों से
अनहदनाद सुना, उठते-बैठते सब समय समाधि का आनन्द पा
और अत्यन्त उल्लास के आवेग में उन्होंने घोषित किया—

"—साधो सहज समाधि भली।
गुरु-प्रताप जा दिन ते उपजी दिन-दिन अधिक चली॥
जहँ-तहँ डोलों सोइ परिकरमा जो कुछ करों सो सेवा।
जब सोवौं तौ करौं दण्डवत पूजौं और न देवा॥
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमरिन, खाव पियों सो पूजा।
गिरह (गृह) उजाड़ एक सम लेखौं भाव न राखौं दूजा॥
आँख न मूँदों कान न रुँधों तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि-हँसि सुन्दर रूप निहारौं॥"

सगुण-मार्गी भक्त-कवियों एवं कबीर के प्रेम-विषयक दृष्टिकोण में एक मौलिक अन्तर यह है कि सगुण भक्ति में 'द्वैत' की भावना होती है। भक्त भगवान (साकार) का नैकट्य प्राप्त करना चाहता है। उसमें लीन नहीं होना चाहता। इसलिये वह संसार को सच्चा समझता है और भगवान को संसार में देखता है—

"—सियाराम मय सब जग जानी" तथा
पैज परे प्रह्लादहुँ कौ प्रकटे प्रभु पाहनतें नहियें तें। —'तुलसी'

किन्तु निर्गुणोपासक कवि होने के नाते कबीर अद्वैतवादी हैं। वे अपना अस्तित्व भगवान से अलग नहीं रखना चाहते उसमें मिल जाना चाहते हैं, उसमें एकाकार हो जाना चाहते हैं जैसे—

"—जल में कुंभ, कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटौ कुम्भ जल जलहिं समाना यह तथ कथौ गयानी॥"

लेकिन वह उस निराकार ब्रह्म से एकाकार होने में विश्व की सभी वस्तुओं को बाधक पाता है, अतः उन्हें वह माया जान कर त्याज्य मानता है। कबीर का भी दृष्टिकोण यही है। किन्तु समय-समय पर हुए आध्यात्मिक अनुभवों को कबीर प्रकट करना चाहते हैं। वाणी उनका साथ नहीं देती, "गूँगे केरी सर्करा, खाये और मुसकाइ"। इसलिये वे भावाभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों का सहारा लेते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीर के कुछ प्रतीक हैं:—

सुषुम्ना—शून्यपदवी (शून्यमार्ग) राजपथ, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, ब्रह्मनाड़ी, मध्यमार्ग, सरस्वती।

इड़ा—उलटी गंगा, ब्रह्माण्ड में चढ़ाई, श्वासा, संसार मुखी रागरूपी गंगा का ब्रह्ममुखी होना।

संसार—समुद्र।
मन—भौंरा, चकवा, शश।
धरती—जड़माया, ब्रह्मण्ड।
पारधी—पार्थिव परम पुरुष, मन।

इसी प्रकार उनके काव्य में 'चदरिया शरीर की', 'पंच चोर'—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह के पंच रंग, पंचतत्व के प्रतीक हैं कबीर ताने-बाने के प्रतीकों से भी शरीर एवं आत्मा के रहस्यों को व्यक्त करने में सफल हुए हैं। प्रकृति के प्रति कबीर का दृष्टिकोण अन्य कवियों से भिन्न है क्योंकि उसे वे माया समझते हैं, अतः वह मिथ्या है।

सम्भवतः कुछ विशेष प्रतीकों को ही ध्यान में रखकर शुक्लजी ने कबीर के रहस्यवाद को शुष्क तथा साम्प्रदायिक कहा है। किन्तु डा० हजारीप्रसादजी के कबीर की साधना तथा भक्ति-विषयक निष्कर्ष अधिक तथ्यपूर्ण तथा युक्तियुक्त है। शुक्लजी के इस साम्प्रदायवाद का उत्तर देते हुए श्री विश्वनाथसिंह अपने छायावाद-रहस्यवाद नाम के लेख में लिखते हैं—

"—यदि संकीर्ण दृष्टि से देखा जाय तो किसी भी 'वाद' विशेष के अन्तर्गत आने वाली कविता को साम्प्रदायिक कहा जा सकता है। राम और कृष्ण सम्बन्धी ईश्वरत्व भावना की व्याप्ति एक समुदाय विशेष में होने के कारण हम तुलसी और सूर की भक्ति-भावना पर या उनके काव्यों के वैसे स्थलों पर जहाँ उन्होंने अपने-अपने उपास्यों को ब्रह्म कहा है, बड़ी आसानी से साम्प्रदायिकता का आरोप कर सकते हैं। यदि काव्य के मूल विषय पर विचार करें तो निर्गुणब्रह्म, सगुणब्रह्म से हर हालत में अधिक व्यापक है, हृदय के साथ-साथ बुद्धि को भी सन्तुष्ट करने वाला है, अवतारवाद और रहस्यवाद में व्यापकता की दृष्टि से कोई तुलना नहीं हो सकती। ब्रह्म का जो स्वरूप रहस्यवाद का आधार है वह दार्शनिक उड़ान की चरम सीमा है।"

शुक्लजी हिन्दी में जायसी के रहस्यवाद को मधुरतम तथा सर्वश्रेष्ठ मानते हैं किन्तु कबीर की रचनाओं में से पर्याप्त ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो अगर भावुकता-मधुरता में जायसी से अधिक नहीं तो कम तो किसी भी दशा में नहीं हैं।

"—नयनन की करि कोठरी, पुतरी पलँग बिछाइ
पलकन की चिक डारि कै पिउ कौ लेंउ बिठाइ।

× × × ×

चकवी बिछुरी रैनि की आइ मिली परभाति
जे जन बिछुरे राम से ते दिन मिले न राति,
बासरि सुख ना रैन सुख ना सुख सपंने माहिं
कबीर बिछुटया रामसूँ ना सुख धूप न छाँह
आँखड़िया झाईं पड़ी पन्थ निहारि-निहारि
जीभड़ियाँ छाला पड़ा राम पुकारि-पुकारि

× × × ×

रामवियोगी ना जिए जिए तौ वौरा होइ।

× × × ×

सुखिया सब संसार है खावै और सोवै,
दुखिया दास कबीर है जागै और रोवै।"

कबीर का रहस्यवाद वास्तव में न साम्प्रदायिक है न शुष्क। ब्रह्म के विरह में दिन-रात तड़पनेवाले कबीर की वाणी में साधना की गहराई है, प्रेम की तीव्रता है और जीवात्मा-परमात्मा के सम्मिलन का मधुर रहस्य है।

जायसी का रहस्यवाद—

जायसी का रहस्यवाद तत्वतः कबीर से भिन्न है। कबीर का रहस्यवाद तो भारतीय अद्वैतवाद के अनुकूल है और जायसी का इस्लामी एकेश्वरवाद के अनुकूल। इसलिए कबीर जहाँ इस नाम रूपात्मक संसार को मिथ्या मानते हैं, वहाँ जायसी ऐसा नहीं मानते। मायावाद के कारण ही प्रकृति कबीर के काव्य में बिलकुल उपेक्षित है, किन्तु जायसी प्रकृति के प्रति सहृदय हैं। वे अपने प्रियतम की आभा प्रकृति के अणु-अणु में देखते हैं। सूफी मत में 'मायावाद' जैसी कोई वस्तु नहीं है। जायसी ने अपने प्रसिद्ध काव्य 'पद्मावत' में 'रत्नसिंह' को एक साधक के रूप में चित्रित किया है। जायसी यह मानते हैं कि जब जीवात्मा इस संसार में शरीर ग्रहण करती है, तब से उसका विरह आरम्भ हो जाता है और वह परमात्मा के पास लौट जाना

चाहती है इसलिए परमात्मा के प्रति जिस व्यक्ति के हृदय में जितनी ही प्रचण्ड विरहाग्नि होगी, भक्त उतना ही सिद्ध और पहुँचा हुआ माना जायगा। लेकिन हर व्यक्ति अज्ञान के कारण ईश्वर के प्रति विरह का अनुभव नहीं करता, यह गुरु का उत्तरदायित्व है कि शिष्य शिष्य के हृदय में विरह की एक चिनगारी लगादे और शिष्य के शिष्यत्व की सार्थकता तब है जब वह उस चिनगारी को प्रेम-साधना के द्वारा विरहाग्नि में परिणत करले। जायसी एक स्थान पर कहते हैं—

"—गुरू विरह चिनगी धरि मेला,
जो सुलगाइ लेइ सो चेला।"

सूफी मत में भी साधना की कुछ सीढ़ियाँ हैं, जिनको चढ़कर उस प्रियतम तक पहुँचा जा सकता है।

१—शरीयत—धर्म ग्रन्थों के विधि-निषेध का सम्यक-पालन इसके अन्तर्गत आता है।

२—तरकित—बाह्य क्रिया-कलाप से परे केवल हृदय की शुद्धता द्वारा भगवान का ध्यान का विधान इसके अन्तर्गत है। इसे उपासना काण्ड भी कह सकते हैं।

३—हक़ीकत—भक्ति और उपासना के प्रभाव से सत्य का सम्यक-बोध जिसे साधक त्रिकालज्ञ हो जाता है, इसके अन्तर्गत है। इसे ज्ञानकाण्ड भी कह सकते हैं।

४—मारफत—सिद्धावस्था, जब साधना द्वारा साधक की आत्मा परमात्मा में लीन हो जाता है।

जायसी ने अपनी पुस्तक 'अखरावट' में इन सबका वर्णन भी किया है—

"—कहौं सरीयत चिस्ती पीरु; उधरति असरफ औं जहँगीरु,
राह हक़ीकत परै न चूकी, पैठि मारफत मारि बड़ूकी।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भारतीय साधना-पद्धति से इसका साम्य बताते हुए लिखते हैं—

"—परगट लोकचार कहुबाता, गुपुत भाव मन जासौं राता। खिलवत दर अंजुमन (लोकाचार करते हुए उपासना) कहते हैं इसे नफ़्स (विषयभोग-वृत्ति या इन्द्रियाँ) से युद्ध करते हुए भगवान तक

पहुँचने के मार्ग को 'तरीक़ा' कहते हैं। इसके मार्ग के पड़ावों को 'मुक़ामात' कहते हैं। जायसी ने चार बसेरे कहे हैं वे या तो चार अवस्थायें हैं या ये ही चार मुक़ामात हैं।

"—चार बसेरे सौं चढ़ै सत सौं उतरै पार।"

"—ये अवस्थायें 'अहवाल' कहलाती हैं। 'अहवाल' अवस्था का प्राप्त होना 'हालआना' कहलाता है। यही मधुमती भूमिका की अवस्था है।"

जायसी की भाँति साधना की इसी प्रकार की सीढ़ियों का वर्णन कबीर में भी मिलता है:—

१–यम, २–नियम, ३–आसन, ४–प्राणायाम, ५–प्रत्याहार, ६–धारणा, ७–ध्यान, ८–समाधि।

जिस प्रकार हठयोग का प्रभाव कबीर पर स्पष्ट है, उसी प्रकार जायसी पर भी उसका प्रभाव लक्षित होता है। सिंहलगढ़ और शरीर का संश्लिष्ट वर्णन जायसी करते हैं—

"—नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा, औ तहँ फिरहि पाँच कोतवारा।
दसँव दुआर गुपुत इक ताका, अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका।
भेदै जाइ कोइ ओहि घाटी, जो लाहि भेद चढ़ै होइ चाँटी।
गढ़तर कुण्ड सुरंग तेहि माँहा, तहँ वह पन्थ कहौं तिहिं पाँहा।
दसवँ दुआर ताल कै लेखा, उलट दिष्टि जो लाव सो देखा।"

(नौ पौरी = नाक, कान, मुँह आदि नव द्वार। दशमद्वार = ब्रह्मरन्ध्र। पाँचकोतवार = काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह। गढ़तरकुण्ड = नाभिकुण्ड जहाँ कुण्डलिनी है। सुरंग = सुष्मना नाड़ी, यह नाभिकुण्ड से होकर जाती है और ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शुष्कता का दोष केवल कबीर के सिर पर ही नहीं थोपा जा सकता, जहाँ हठयोग सम्बन्धी स्थल आये हैं वहाँ जायसी में भी शुष्कता है। किन्तु सहज प्रेम की उच्च आध्यात्मिक भूमि पर कबीर ने जो काव्य सृजन किया है, वह उतना ही मधुर है जितना उसी भूमि पर किया गया जायसी का काव्य। किन्तु एक अन्तर अत्यन्त प्रत्यक्ष है; कबीर की अनुभूति व्यक्तिगत है, वे प्रिय का दर्शन अपने हृदय में करते हैं, विश्व में नहीं। इसलिए उनकी जीवात्मा के विश्वात्मा से मिलने के प्रसंग रहस्यगर्भित हैं। किन्तु जायसी का प्रेम इतना व्यक्तिगत नहीं है,

जायसी अपने प्रिय के दर्शन प्रकृति के माध्यम से करते हैं इसलिये जायसी का रहस्यवाद रहस्य का आभास मात्र है इसलिए जहाँ वह अस्पष्ट है, मधुर भी अधिक है। कबीर में यदि साधना की गहराई है तो जायसी में दृष्टि का विस्तार, कबीर में यदि रहस्यवाद की स्पष्टता अधिक है तो जायसी में रहस्यवादी मधुरता, कबीर के रहस्यवाद का आधार विश्व के प्रति विरक्ति है—विश्व से निवृत्ति है, किन्तु जायसी के रहस्यवाद का मार्ग विश्व के हृदय में होकर गया है उनमें प्रवृत्ति भी है।

जायसी के 'पद्मावत' में जो रहस्यवादी स्थल आते हैं वे उस परमात्मा की ओर मधुर इंगित कर जाते हैं 'जायसी' ने 'कबीर' की भाँति जीवात्मा परमात्मा के मिलन का आध्यात्मिक और रहस्यात्मक वर्णन नहीं किया। पद्मिनी और रत्नसिंह के प्रथम मिलन का वर्णन भौतिक अधिक है, आध्यात्मिक कम। जायसी के वे स्थल उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा जहाँ रहस्य का आभास मात्र मिलता है। यह आभास, इसमें सन्देह नहीं, बड़ा ही मार्मिक, भावुकतामय तथा हृदयग्राही होता है—

जायसी का हृदय एक साधक का हृदय है जो कि प्रियतम के विरह में सदा ही दुःखी रहता है, किन्तु जायसी उस दुःख का व्यक्तिगत वर्णन न करके उसका विश्वव्यापी प्रभाव चित्रित करते हैं। वे अकेले ही व्यथित नहीं हैं, अपितु प्रकृति के सभी तत्व 'उससे' मिलने के लिये व्याकुल हैं। लेकिन बिना कठिन साधना के मिलना सम्भव नहीं। वायु, आग, जल सभी तो उससे मिलने के लिए आकुल-व्याकुल हैं लेकिन असफलता और निराशा में अपना सिर पीट लेते हैं"—

"—पवन जाइ तँह पहुँचै चहा, मारा तैस लोटि भुँइ रहा।
अगिनि जरी जरि उठी नियाना, धुवाँ उठा उठ बीच बिलाना।
पानि उठा उठि जाइ न छूआ, बहुरा रोइ आइ भुइ चूआ।"

केवल जायसी ही नहीं प्रकृति का अणु-परमाणु उसके विरह में व्यथित है। क्या पृथ्वी, क्या आकाश, सब ही 'उसके' विरह शरों से विद्ध हैं—

"—उन बानन अस को जो न मारा, बेधि रह्यौ सिगरौ संसारा।
गगन नखत जो जाँहि नगने, वै सब बान ओहि के हने।
धरती बान बेधि सब राखी, साखी ठाढ़ देहि सब साखी।

बरुनि बरुनि अस ओपहँ बेधे रन बन ढाँख।
सौंजहिं तन सब रोवां पंखहिं तन सब पाँव॥"

विश्व की जिन-जिन वस्तुओं में जो विशेषतायें हैं सो भी मानो वे उसी को प्रसन्नता या स्वागत सत्कार के लिये हैं—

"—पहुप सुगंध करहिं एहि आसा, मुकु हिरकाइ लेइ हम पासा।"

"—पद्मावती की प्राप्ति के लिये रत्नसिंह द्वारा की गई यात्रा बाधाओं से भरपूर है। वास्तव में प्रियतम से मिलने के लिये प्रेमी को जिस साधना मार्ग से चलना पड़ता है वह भी अनेकों बाधाओं से युक्त हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि सफलता मिलेगी ही नहीं। अपने साथियों के निराश होने पर रत्नसिंह कहता है—

"—हौं रे पथिक परवेस, जेहि बन मोर निवाहु।
खेलि चला तेहि बन कहँ, तुम अपने घर जाहु॥"

अन्त में साधना सफल होती है; साधक आराध्य के नैकट्य का अनुभव करता है, हृदय की सारी निराशा सवकल्मष धुल जाता है और उसके शरीर का रोम प्रति रोम हर्ष पुलकित हो उठता है—

"—देखि मानसर रूप सुहावा, हिय हुलास पुरइन होइ छावा,
गा अँधियार रैन मसि छूटी, भा भिनसार किरन रवि फूटी,
अस्ति-अस्ति सब साथी बोले, अंध जो अहे नैन विधि खोले।"

इसी प्रकार का एक आध्यात्मिक संकेत वहाँ भी है जहाँ कवि पद्मावती की विदाई का वर्णन करता है। स्त्री का अन्तिम स्थान तो पति का घर ही है, वह अपने पितृगृह में तो तभी तक ठहरती है, जब तक वह अविवाहित है। यह जीवात्मा और परमात्मा का रूपक भी है। कबीर ने भी इस रूपक का उपयोग किया है। संसार पितृगृह है, जीवात्मा का अन्तिम ध्येय परमात्मा है। जीवात्मा उससे मिलने को व्याकुल भी है किन्तु इस संसार के प्रति मोह भी अत्यन्त स्वाभाविक है। जायसी पद्मावती के विवाहोपरान्त विदा का बड़ा ही मार्मिक और आध्यात्मपूर्ण चित्र देते हैं—

"—रोवहिं माता पिता औ' भाई, कोइ न टेक जो कंत चलाई।
भरी सखी सब भेंटत फेरा, अंत कंत सौं भयउ गुरेरा।

कोउ काहुकर नाहिं निआना, मयामोह बाँधा अरुझाना।
जब पहुँचाइ फिरा सब कोऊ, चला साथ गुन अवगुन दोऊ।

जायसी कभी भी ऐसा अवसर नहीं छोड़ते जहाँ रहस्य का संकेत किया जा सकता हो। हाट का वर्णन करते समय भी उनके पारमार्थिक संकेत स्पष्ट हैं—

"जे जिन्ह ऐहि हाट न लीन विसाहा, ताकहँ आन हाट कित लाहा।
\+ \+ \+ \+
—"कोई करै बिसाहनी, काहू करे विकाय।
कोई चलै लाभ सों कोई मूर गवाइ॥"

रत्नसिंह दिल्ली में बन्दी हैं। प्रेमातुरा पद्मिनी विलाप करती है। कवि पारमार्थिक संकेत के द्वारा उसके विलाप को आध्यात्म-प्रधान बना देता है—

—"सो दिल्ली अस निबहुर देसू, केहि पूछहुँ कौ कहइ सँदेसू।
जो कोइ जाइ तहाँ कर होई, जो आवै किछु जान न सोई।
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा, जोरे गयउ सो बहुरि न आवा।"

दो प्रसंग और ऐसे हैं जहाँ कवि ने लौकिक वस्तुओं के माध्यम से अलौकिक तत्व की व्यंजना की है। एक तो है पद्मिनी के रूप वर्णन का प्रसंग, दूसरा नागमती का विरह-वर्णन। नागमती का विरह साधारण नहीं है, उसमें सारी सृष्टि डूबी हुई है। वास्तव में तो सृष्टि स्वयमेव उस व्यापक विरह का अनुभव प्रतिक्षण करती है; जायसी द्वारा चित्रित वियोग केवल नागमती का ही नहीं है वह तो प्रकृतिव्यापी है—

—"सूरज बूढ़ि उठा होइ ताता, औ मँजीठ टेसू बनराता।
भा वसंत राती बनसपती, औ राते सब जोगी जती।
भूमि जो भींजि भयउ सब गेरू, औ राते सब पंख पखेरू।
राती सती आँगिनि सब काया गगन मेघ राते तेहि छाया।"

जायसी ने पद्मिनी को साध्य या आराध्य के रूप में चित्रित किया है। रत्नसिंह साधक है और इन दोनों के मिलन में बाधक नागमती सांसारिकता का प्रतीक है। अन्त में इस रहस्य को खोलकर जायसी ने पूरी कथा को ही आध्यात्मिक रंग में रंग दिया है।

—"तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंहल बुद्धि पद्मिमनि चीन्हा।
गुरू सुआ जेहि पन्थ दिखावा, बिन गुरु जगत को निर्गुन पावा।

नागमती यह दुनिया धंधा, बाँचा सोइ न ऐहि चित बन्धा।
राधव दूत सोई सैतान्, माया अलाद्दीन सुल्तान्।।"

इसलिए कवि ने जहाँ भी पद्मिनी का रूप चित्रण किया है वहाँ उसमें उसने सदैव अलौकिकता का समावेश किया है। पद्मिनी का रूप केवल साधक रत्नसिंह के लिये ही सीमिति नहीं है, वह तो विश्वव्यापी है। पद्मावती स्नान करके आती है, स्नान से पहले जब वह अपनी केशराशि को बन्धन मुक्त करती है तो जैसे सारा विश्व अंधकारमय हो जाता है—

"—सरवर तीर पद्मिनी आई, खोंपा छोरि केस मुकुलाई।
आनेई घटा परी जग छाँहा .... ।
बेनी छोरि झार जौ बारा, सरग-पतार होइ अंधियारा।"

पद्मावती के भ्रकुटि संचालन से जैसे सारा विश्व ही संचालित है।

"—जग डोलै डोलत नैना हाँ, उलटि अड़ार जाँहि पल माँहा।
जबहिं फिराहिं गगन गहि बोरा, अस वै भवरचक्र कै जोरा।
पवन झकोरहिं देइ हिलोरा सरग लाइ भुँइ लाइ बहोरा।"

संसार स्वयं शोभाहीन है, उसमें जो शोभा दृष्टिगोचर होती है वह उसकी अपनी नहीं अपितु पद्मिनी की शोभा का प्रतिबिम्ब मात्र है। भौतिक पदार्थ उससे शोभा ग्रहण करके शोभाशाली होते हैं—

"—विगसा कुमुद देखि ससिरेखा, भइ तहँ ओप जहाँ जो देखा।
पावा रूप रूप जस चहा, ससि मुख सहुँ दरपन होइ रहा।
नयन जो देखा कमल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा दसन जोति नगहीर।"

इस विश्व के प्रकाश का मूल ब्रह्म है। विश्व का अणु-परमाणु उसी की ज्योति से ज्योतिर्मय है। पद्मिनी (ईश्वर का प्रतीक) भी सारे विश्व की ज्योति का मूल है—उद्‌गम है—उसके उज्ज्वल दाँत ही विश्व के प्रकाश के जनक हैं। सारे विश्व ने प्रकाश वहीं से ग्रहण किया है—

"—जेहि दिन दसन जोति निरमई बहुतै जोति जोति ओहि भई।
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती, रतन पदारथ, मानिक मोती।
जहँ-जहँ विहँसि सुभावहिं हँसी, तहँ-तहँ छिटकि जोति परगसी।"

जायसी की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने साधना की सीढ़ियों एवं हठयोग की शुष्क-पद्धति का वर्णन नहीं किया अपितु लौकिक बातों से ही अलौकिकता का आभास दिया। प्रकृति का सुन्दर चित्रण और उसके द्वारा उस 'निराकार प्रियतम' का आभास उन्होंने दिया। जायसी ने पद्मिनी को सूफी धर्म के अनुसार ही ब्रह्म माना है सूफी धर्म ईश्वर को माशूक़ मानता है। कबीर ईश्वर को सदैव पुरुष मान कर चले हैं, उनका प्रेम भारतीय है। जायसी का सूफी धर्म के अनुसार। कबीर अपने को दुलहिन मानते हैं, राम को दूल्हा। अद्वैतवाद से प्रभावित होने के कारण वे विश्व को प्रपंच तथा मिथ्या मानते हैं। जायसी विश्व के माध्यम से उसका आभास देते हैं। जायसी मिलन का सीधा वर्णन न करके यथास्थान उसका आभास देते चलते हैं। कबीर अपने व्यक्तिगत मिलन का सीधा वर्णन करते हैं। शुक्लजी जायसी को अधिक भावुक तथा मधुर मानते हैं—"कबीर में वाकचातुर्य था, प्रतिभा थी पर सहृदयता और भावुकता न थी। अतः इनका रहस्यवाद शुष्क है मर्मस्पर्शी नहीं। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में।" शुक्लजी की इस बात से हम सहमत हैं कि जायसी का रहस्यवाद मर्मस्पर्शी है, पर इस बात से नहीं कि कबीर का रहस्यवाद शुष्क है। कबीर के रहस्यवाद को स्पष्ट करते समय ऊपर जो उद्धरण कबीर रचनाओं से दिये गए हैं, वे इस बात को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। कबीर उतने ही मधुर, भावुक और हृदयग्राही हैं जितने जायसी। कबीर प्रेम को खाला का घर नहीं समझते थे "सीस उतारै भुँइ रखै तापै राखै पाँव—" ऐसे व्यक्ति को वे सच्चा प्रेमी समझते थे। जायसी भी कुछ ऐसा ही विचार रखते हैं, वे प्रेम को दुर्गम पर्वत के सदृश बताते हैं, जहाँ हर कोई नहीं जा सकता।

"—प्रेम पहार कठिन विधि गढ़ा, सोपै चढ़ै जो सिर सौं चढ़ा
पन्थ सूर करि उठा अँकूरु, चोर चढ़ै की चढ़ मंसूरू।"

जायसी का रहस्यवाद 'प्रबन्धगत है' इसलिये वह सरल और मधुर, जान पड़ता है। कबीर का रहस्यवाद उनके मुक्तक पदों में व्यक्त है। इसलिये कथा का आनन्द जन 'साधारण के लिये' वहाँ नहीं किन्तु उनके पद जितने तन्मय कर देने वाले अनुभूतिपूर्ण और ब्रह्म के प्रति विरह वेदना से भरे हैं। हिन्दी-साहित्य में कदाचित मीरा को छोड़ कर और कवि उनसे टक्कर लेने योग्य नहीं। मीरा—गिरधर गोपाल के

साथ मिलन के रहस्यमय वर्णन के कारण मीरा के भी कुछ पद रहस्य-भावना से युक्त हैं 'किन्तु मीरा का रहस्यवाद विशुद्ध इसलिये नहीं है क्योंकि वे सगुण रूप की ही उपासना करती थीं।

आधुनिक रहस्यवाद और उसकी परिभाषायें—

ऊपर कबीर और जायसी के रहस्यवाद का विश्लेषण किया जा चुका है। प्राचीन काल के रहस्यवादी कवियों के विषय में एक बात स्पष्ट है कि वे साधक पहले थे और कवि बाद में। भाषा तो उनके लिये एक माध्यम थी जिसके द्वारा वे अपने हृदयोद्गारों को व्यक्त किया करते थे। कविता उनका चरम लक्ष्य नहीं थी। किन्तु आजकल के रहस्यवादी कवि पहले हैं और साधक बाद में भी नहीं। उनका रहस्यवाद काल्पनिक अधिक है—बौद्धिक अधिक है अनुभूतिपूर्ण या साधनापरक कम। आज तो हम रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं। जीवात्मा और परमात्मा (निराकार) के मिलन की काल्पनिक अनुभूति और उस काल्पनिक अनुभूति की साहित्याभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है। इस रहस्यवाद में एक विचित्र तत्व यह भी है कि इसमें शेष सृष्टि के प्रति कवियों का दृष्टिकोण निवृत्तिमूलक न होकर प्रवृत्तिमूलक ही अधिक है। आज के कवि जायसी की भाँति ही विश्वात्म का प्रतिविम्ब प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं में देखते हैं। प्रकृति के प्रति इस दृष्टिकोण विशेष ने आधुनिक रहस्यवाद को छायावाद का ही एक विकसित रूप बना दिया है। महादेवी वर्मा के शब्दों में वह छायावाद का दूसरा सोपान है। कवि ने प्रकृति को चेतना अनुप्राणित देखा किन्तु यही पर्याप्त नहीं था। महादेवी लिखती हैं—

"जब प्रकृति की अनेक रूपता में परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया है जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा"।

"परन्तु इस सम्बन्ध से मानव 'हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुरागजनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं धुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती, तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुर व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना

इस काव्य (छायावाद) का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमयरूप के कारण ही 'रहस्यवाद' का नाम दिया गया है।"

रहस्यवाद के विषय में विभिन्न विद्वानों के विचार जान लेना उचित होगा। रहस्यवाद की परिभाषा करते हुये डा० रामकुमार वर्मा लिखते हैं—

"रहस्यवाद आत्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध अन्त में यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर शेष नहीं रह जाता।"

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का विचार है कि—

"किसी परम परोक्ष सत्ता की अनुभूति उससे मिलने की भावना रहस्यवाद है अतः परोक्ष (परम) की रहस्यपूर्ण अनुभूति (अथवा उससे मिलने की भावना) के गीत रहस्यवादी (गीत) हैं।

गंगाप्रसाद पाण्डेय के इस विषय में विचार हैं कि—

रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने असीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं अपार्थिव महाअस्तित्व के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लग जाता है।"

प्रसादजी के विचार भी इस विषय में महात्वपूर्ण हैं। प्रसादजी के कथन की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि वे रहस्यवाद को वाह्य-प्रभाव-प्रसूत नहीं मानते अपितु उसे भारतीय भावना के अनुकूल तथा भारतीय काव्य परम्परा का स्वाभाविक विकसित रूप मानते हैं:—

"वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना होने लगी है। वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष सहानुभूति, सम-रसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहम् का इदम् से सम्बन्ध करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी सम्पति है इसमें संदेह नहीं।"

"काव्य की आत्मा की संकलपात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।"

"वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वयरस में हुआ था और यह साहित्यरस दार्शनिक रहस्वाद से अनुप्राणित है।"

सारांश रहस्य की भावना निराकार के प्रति प्रणयानुभूति के मूल में रहती है और जब उस भावना को एक निश्चित पद्धति द्वारा साहित्यक अभिव्यक्ति दी जाती है तो वही रहस्यवादी काव्य कहलाता है।

छायावाद रहस्यवाद—

आरम्भ में छायावाद और रहस्यवाद एक ही वस्तु के दो नाम-मात्र समझे जाते थे अर्थात् छायावाद रहस्यवाद का एक ही अर्थ' लिया जाता था। स्वयं शुक्लजी ने छायावाद को दो अर्थों में स्वीकार किया (१) "रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम अनेक प्रकार से व्यंजन करता है।"

(२) काव्य-शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में।

वास्तव में इस भ्रम का एक मुख्य कारण यह भी था कि छायावाद के मुख्य कवि ही रहस्यवाद के भी मुख्य कवि थे। किन्तु बाद में यह अन्तर धीरे-धीरे अधिक स्पष्ट होगया। छायावाद तो प्रकृति में एक मानवीय-चेतना के दर्शन करना मात्र है अर्थात् प्रकृति की वस्तुओं में मानवीय दुख-सुख की भावना का आरोपमात्र है, किन्तु रहस्यवाद में प्रकृति में मानवीय-भावनाओं का आरोप न होकर उस असीम सत्ता का आरोप होता है। जहाँ कविप्रकृति में भौतिक-माँसलता देखता है वहाँ छायावाद और जहाँ निराकार परमात्मा का रहस्यमय आभास पाता है वहाँ रहस्यवाद माना जाना चाहिये। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। छायावादी कविता के उदाहरण इस बात को प्रकट करेंगे कि उनमें प्रकृति के उपादानों के प्रति एक आत्मीय भाव है। रहस्यवाद के उदाहरण इस बात को व्यक्त करेंगे कि उनमें प्रकृति के माध्यम से उसी एक परमात्मा के दर्शन किये गये हैं।

छायावादी कविता—

कुंज में पड़ी हुई ज्योत्सना के प्रति—

"—कहो कौन तुम दमयती सी हो तरु के नीचे सोई।
हाय ! तुम्हें भी छोड़ गया क्या अलि नल सा निष्ठुर कोई॥"

संध्या वर्णन—

"—दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे, धीरे, धीरे।"

जुही की कली—

"—विजन-वन-वल्लीरी पर
सोती थी सुहाग भरी, स्नेह स्वप्न मग्न
अमल-कोमल-तनु तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में"

शेफाली—

"—बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
योवन उभार ने
पल्लव पर्यंक पर सोई शेफाली के"

रहस्यवादी कविता—

"—शून्य नभ में उमड़ जब दुख भार-सी
नैश तम में सघन छा जाती घटा।
विखर जाती जुगनुओं की पाँति भी
जब सुनहले आँसुओं के हार-सी।
तब चमक जो लोचनों को मूदँता
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है?
कह जाते नक्षत्र पड़ी हम पर माया की झाँई।
कह जाते ये मेघ हमीं करुणा की उनकी परछाई॥

+ + +

वे मंथर सी लोल हिलोर फैला अपने अंचल छोर।
कह जातीं-' उस पार बुलाता है हमको तेरा चित चोर,॥

+ + +

किसी निर्मम कर का आघात
छेड़ता जब वीणा के तार।
अनिल से चल पंखों के साथ
दूर जो उड़ जाता झंकार।
जन्म ही जिसे विरह की रात
सुनावे क्या वह मिलन प्रभात।"

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि रहस्यवादी काव्य की शैली तो छायावादी है। हाँ, उसकी भाव-भूमि छायावाद से अधिक ऊँची और अधिक सूक्ष्म है। छायावादी और रहस्यवादी कविताओं में प्रकृति के विभिन्न पदार्थ, मेघ, लहर, उदधि, ज्योत्सना, पुष्प, निर्झर, तन्त्री, तार, लय आदि समान रूप से व्यवहृत होते हैं किन्तु दोनों प्रकार की कविताओं के दृष्टिकोण में महान् अन्तर हैं। छायावादी कविता में प्रकृति की ये उपरोक्त वस्तुयें स्वयं वर्णन का स्वतन्त्र विषय होती हैं, किन्तु रहस्यवादी कविता में ये वर्ण्य विषय न होकर किसी भाव को घनीभूत करने में सहायक या किसी अज्ञात सत्ता के अव्यक्त इंगितों का संदेश देने वाली होती है। छायावाद में प्रकृति की वस्तुयें कवि का अन्तिम लक्ष्य होती हैं और रहस्यवाद में किसी अज्ञात सत्ता की ओर इंगित करने का माध्यम, उस अज्ञातसत्ता (परमात्मा) को आभासित करने का माध्यममात्र।

रहस्यवाद और शृंगारिकता—

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि निराकार के प्रति प्रेम का अनुभव करना ही रहस्यवाद की मूल भावना है। निराकार ईश्वर की भक्ति करना ही रहस्यवाद है किन्तु यह भक्ति होनी चाहिये माधुर्यभाव की। निराकार ईश्वर को पति मानकर—प्रियतम मानकर—जो साहित्य रचा गया है वह रहस्यवादी साहित्य के अन्तर्गत आता है। भक्त या साधक उस असीम सत्ता के प्रति प्रेम का और उसकी अनुपस्थिति में विरह का अनुभव करता है। इसलिए वियोग शृंगार तो रहस्यवादी काव्य आधारभूमि ही है। कवि को कभी अपने उस प्रिय की उपस्थिति का आभास इस प्रकृति में मिला था किन्तु आज तक वह उसे ही खोज रहा है। उसका जीवन अश्रुमय और निश्वासें व्यथामय हो गईं हैं। उसके हृदय में जो भयंकर विरहाग्नि प्रज्वलित है, आकाश के नक्षत्र उसकी चिनगारियाँमात्र हैं। कवि का विरह प्रकृति-

व्यापी है (कुछ ऐसा ही विरह जायसी का है)। प्रसादजी अपने 'आँसू' नामक विरहग्रन्थ में अपने विरह को काव्य का रूप देते हैं—

"—ये सब स्फुलिंग हैं मेरी इस ज्वालामयी जलन के।
कुछ शेष चिन्ह है केवल मेरे उस महामिलन के॥"

अब तो रात जागते-जागते और रोते-रोते ही बीत जाती है। विरह की पीड़ा ही ऐसी है जो अग्नि से अधिक दाहक है और हिम से अधिक शीतल। अगर यह अग्नि समाप्त हो जाय तो साधक की साधना व्यर्थ गई। वह तो इस अग्नि को प्राणों का धन समझकर अपने अन्तर में सहेज कर रखता है। विरह की यही शीतल ज्वाला उसे असीम प्रिय के प्रति प्रेमोन्मुख बनाये रखती है।"

"—शीतल ज्वाला जलती है
ईंधन होता दृग जल का
क्यों व्यर्थ श्वाँस चल चल कर
करती है काम अनिल का।"

—'प्रसाद'

जब प्रियतम की स्मृति सजग हो गई तो फिर नींद कैसी?

"—अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलकों का लगना।"

वह निष्ठुर, असीम प्रियतम इतने पर भी नहीं आया लेकिन अब तो साधक की जीवन संध्या आगई है—उसका इस संसार से चलने का समय आ गया है। क्या अब भी वह नहीं आयगा? अवश्य आयगा और वह आया भी लेकिन आकारहीन प्रभु को काव्य के बन्धन के बन्धन में कैसे बाँधा जाय—उसका वर्णन किस प्रकार किया जाय। वह स्वयं रहस्यावृत होकर आया है—सौंदर्य और रहस्य दोनों साथ-साथ! प्रसाद जी लिखते हैं—

"—शशि मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाए।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आए।"

वियोग शृंगार-प्रधान होने के कारण प्रायः सभी रहस्यवादी काव्य-साहित्य आँसुओं से गीला है। वह विरह-प्रधान है इसलिये

वेदना-प्रधान है । हिन्दी के आधुनिक रहस्यवादी कवियों में भी महादेवी वर्मा में वेदना अपने प्रखरतम रूप में मिलती है। वे तो चाहती हैं कि प्रियतम उनके हृदय में दुःख आवरण के बीच रहे जिससे उसका हृदय सदैव दुःखपूर्ण रहे और उस असीम को वे संसार में ढूँढती फिरे—

"—तुम मानस में बस जाओ
छिप दुःख के अवगुण्ठन में
मैं तुम्हें ढूँढने के मिस
परिचित हो लूँ कण-कण से।"

वे तो यावज्जीवन अपने प्रिय के प्रेम की प्यासी रहना चाहती हैं क्योंकि वे जानती हैं "बुझते ही प्यास हमारी पल में विरक्ति जाती बन"। इसलिये वे जीवन में तृप्ति नहीं चाहतीं—जीवन भर रोते रहना चाहती हैं—

"—मेरे छोटे जीवन में,
देना न तृप्ति का कण भर।
रहने दो प्यासी आँखें,
भरती आँसू के सागर।"

महादेवी का विश्वास है कि दुःख जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जायगा—जब वह सीमाहीन हो जायगा-तो सुख में बदल जायगा। इसलिये वे जीवन भर जलती रहना चाहती हैं—

"—चिर ध्येय यही जलने का,
ठण्डी विभूति बन जाना।
है पीड़ा की सीमा यह,
दुःख का चिरसुख होजाना।

साधक जिस मार्ग से साध्य तक पहुँचता है, दीर्घ सहवास के कारण उसे उस मार्ग के प्रति भी मोह हो जाता है। महादेवी 'प्रेमपीर' को प्रिय के समान ही मादक समझने लगीं हैं—

"—प्रिय से कम मादक पीर नहीं"।

इतना ही नहीं वे कहती हैं—"तुमको पीड़ा में ढूँढा, तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा।" वे जानती हैं कि प्रियतम से जिस दिन भेंट होगी, पीड़ा की इतनी

लम्बी कहानी 'कठिन साधना का इतना ज्वलंत इतिहास' अनायास समाप्त होजायगा। वेदना से उन्हें मोह है, प्रिय सम्मिलन की इच्छा भी उनके हृदय में है। मिलन और विरह दोनों एक साथ रहें ? पर महादेवी तो यही चाहतीं हैं कि सरिता जैसे अपने किनारों को छू कर चलती है, मेरा जीवन भी विरह और मिलन को छूता हुआ चले—

—"चिर विरह-मिलन पुलिनों की सरिता हो मेरा जीवन।
प्रतिपल होता रहता हो युग कूलों का आलिङ्गन॥"

"विरह प्रेम की अग्नि परीक्षा है, सच्चे प्रेमी का प्रेम इसमें त स्वर्ण की भाँति चमकता ही जाता है और झूँठे प्रेम की कल कठोर अग्नि में तुरन्त खुल जाती है। महादेवी इस विरहाग्नि अपने प्रेम को तपा-तपा कर स्वर्ण की भाँति निखार रहीं हैं—

"—पीड़ा ही पीड़ा संज्ञाहीन,
साधना में डूबा उद्गार।
ज्वाला में बैठा हो निस्तब्ध,
स्वर्ण बनता जाता है प्यार।"

महादेवी जानती हैं कि विरह की आकुलता ही वह व जिसकी तन्मयता में साधक प्रपंचात्मक संसार को भूल कर, प्रिय से सकता है। परमात्मा के प्रति जितना उत्कट प्रेम होगा उतनी ही विरह और उतनी ही तीव्र व्याकुलता—

"—व्याकुलता ही आज बन गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा ?"

महादेवी पीड़ा का मानों एक साक्षात विश्व हैं। उनके अस्ति ही ईश्वर का आस्तित्व है। जब वे नहीं रहेगीं तो ईश्वर का पीड़ राज्य समाप्त हो जायगा, अर्थात् विश्व में फिर पीड़ा आयेगी कहाँ

"—चिन्ता क्या है रे निर्मम ! बुझ जाये दीपक मेरा,
हो जायेगा तेरा ही पीड़ा का राज्य अंधेरा।"

हिन्दी में आधुनिक कवियों में विरह का उत्कट रूप और स की गहराई, यदि किसी में है तो महादेवी में, इसीलिये सच्चे अर्थों आज की वे ही एकमात्र रहस्यवादिनी कवियित्री हैं। 'पन्त' और 'नि बौद्धिक अधिक हैं-भावुक कम। इसीलिये उनके काव्य में विरह उत्कृष्ट रूप नहीं मिलता जो महादेवी में। यों रहस्यमय

'प्रसाद,' 'पन्त' और 'निराला' में भी मिल ही जाती हैं। 'प्रसादजी' का रहस्यवाद—जिज्ञासा-प्रधान अधिक है। किसी अज्ञात रहस्य-मय लोक में जाने की इच्छा तो प्रायः इन सब कवियों की रही है। रामकुमार वर्मा एक स्थान पर लिखते हैं—

"—मैं जाता हूँ बहुत दूर, रह गई दिशायें इसी पार।
श्वासों के पथ पर बार-बार कोई कर उठता है पुकार।"

महादेवी वर्मा भी इस नश्वर विश्व की परिधि में नहीं रहना चाहतीं, वे भी उस रहस्यमय प्रदेश को देखने को उत्सुक हैं—

"तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देखलूँ उस पार क्या है?
जा रहे जिस पथ से युग-कल्प उसका सार क्या है?
क्यों मुझे प्राचीर बन कर आज मेरे स्वास घेरे
फिर विकल हैं प्राण मेरे।"

'प्रसादजी' भी इस संघर्ष और कोलाहल भरे संसार को छोड़ कर उसी अज्ञात और रहस्यमय देश में जाने को इच्छुक हैं, जहाँ न इस संसार के छल हैं और न भयंकर कोलाहल—

"—'ले चल मुझे भुलावा देकर'
मेरे नाविक धीरे-धीरे!
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेमकथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।"

'पन्त'—

'पन्त' में जहाँ कहीं आध्यात्मिक संकेत अवश्य है, परन्तु वास्तव में 'पन्त' न कभी रहस्यवादी रहे और न हैं। यों यदि भावों की अस्पष्टता और भाषा की क्लिष्टता को काव्य का रहस्य माना जाय तो 'पन्त' अवश्य बड़े रहस्यवादी ठहरेंगे। परन्तु निराकार के प्रति प्रणय की अनुभूति जो रहस्यवाद को जन्म देती है, विरह की वह उत्कट तीव्रता जो रहस्यवादी-काव्य को भावों की मधुरता और अश्रुओं की सजलता प्रदान करती है, उनमें नहीं है। 'पन्तजी' किसी भाव-धारा में डूबते नहीं हैं, वे तटस्थ दर्शक बने रहते हैं। वे विश्व के सब पदार्थों से अधिक अपने आप को ही महत्त्व देते हैं। इसलिये

उनके काव्य में रहस्यवाद का अभाव है। 'पन्तजी' छायावादी अवश्य हैं। प्रकृति के प्रति उनका ममतामय दृष्टिकोण तथा भाषा की लाक्षणिकता उनको निस्सन्देह छायावादी कवियों में शीर्ष स्थान पर रखती हैं। किन्तु इधर 'पन्तजी' आध्यात्मवादी हुए अवश्य हैं किन्तु उनके काव्य में दार्शनिकता की अधिकता और बुद्धि-प्रामुख्य से शुष्कता ही अधिक आई है। 'पन्तजी' में जहाँ कहीं रहस्य की भावना मिलती है। 'मौन निमन्त्रण' उनकी ऐसी कतिपय कविताओं में एक हैं—

"—स्तब्ध ज्योत्सना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान
न जाने नक्षत्रों से कौन,
निमन्त्रण देता मुझको मौन।"

'निराला'—

छायावादी काव्य के लौह-पुरुष 'निराला' भावुक इतने नहीं हैं जितने बुद्धि-प्रधान। महादेवी की भाँति विरह का एक सूत्र उनकी रचनाओं में अन्तर्व्याप्त नहीं है, किन्तु इस जग के पार जाने की इच्छा तो उनकी भी है जहाँ रूप की ज्योति सहस्रशः रूपों में खिली है तथा जहाँ सदैव आनन्द की धारा प्रवाहित रहती है—

—"हमें जाना है जग के पार
जहाँ नयनों से नयन खिले
ज्योति के रूप सहस्र खिले
सदा ही बहती नव-रस-धार
वहीं जाना इस जग के पार।"

और वे 'उस असीम' के अंचल में एक दिन अपने चिर रुदन को छिपा देना चाहते हैं—

"—एक दिन छिप जायगा रोदन तुम्हारे अंचल में।"

रामकुमार वर्मा—

कुछ लोग रामकुमार वर्मा को भी रहस्यवादी कवि मानते हैं किन्तु उनमें उस अनुभूति की गहराई के दर्शन नहीं होते जो महादेवी वर्मा में है वे शुद्ध कल्पना के कवि हैं।

रहस्यवाद और प्रकृति—

छायावादी काव्य में प्रकृति का जो स्थान है उससे कम महत्त्वपूर्ण स्थान रहस्यवाद में नहीं हैं। कवि प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं में उसी 'असीम सत्ता' का आभास पाते हैं प्रकृति उन्हें अपने साथ 'उसके' विरह में अश्रुमुखी दिखाई देती है। महादेवी प्रिय से निवेदन करती हैं कि हे, निष्ठुर देखो सारी सृष्टि ही मिटी जा रही है, अकेली मैं ही तुम्हारे वियोग में नहीं मिट रही हूँ—

"—हँस देता नव इन्द्र धनुष की स्मिति घन मिटता-मिटता,
रँग जाता है विश्वराग से निष्फल दिन ढलता-ढलता,
कर जाता संसार सुरभिमय एक सुमन झरता-झरता,
भर जाता आलोक तिमिर में, लघु दीपक बुझता-बुझता,
मिटने वालों की हे निष्ठुर,
बेसुध रँगरलियाँ देखो।"

महादेवी अपने प्रिय से कहती हैं कि मैं ही अकेली बन्धनों में नहीं बँध रही हूँ; अपितु यह सारी सृष्टि ही कड़ियों में बँधी हैं। यहाँ का अणु-परमाणु अपने विकास के लिये समाप्त हो जाता है और इस प्रकार वह विकसित और विकसिततर अवस्था की कड़ी बन जाता है। सारा विश्व इन्हीं कड़ियों में बँधा है—

"—गल जाता लघु बीज असंख्यक नश्वर बीज बनने को,
तजता पल्लव वृन्त पतन के हेतु नये विकसाने को,
मिटता लघु पल प्रिय देखो कितने युग कल्प मिटाने को,
भूल गया जग भूल विपुल भूलोंमय सृष्टि रचाने को,
मेरे बन्धन आज नहीं प्रिय
संसृति की कड़ियाँ देखो।"

महादेवी अपने प्रिय से कहती है कि मेरा जीवन बिल्कुल 'सान्ध्य गगन' जैसा है और इस प्रकार अपनी दशा के वर्णन के साथ-साथ सान्ध्य गगन का एक उत्कृष्ट चित्र प्रस्तुत करती हैं—

"—प्रिय सान्ध्य गगन, मेरा जीवन,
यह क्षितिज बना धुँधला विराग
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग

छाया सी काया वीतराग
सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन !
साधों का आज सुनहलापन,
घिरता विषाद का तिमिर सघन,
सन्ध्या का नभ से मूक मिलन,
यह अश्रुमती हँसती चितवन !

× × ×

इच्छाओं के सोने से शर
किरणों से द्रु त झीने सुन्दर
सूने असीम नभ में चुपकर......
बन बन आते नक्षत्र सुमन !
घर लौट चले सुख दुख विहग,
तम पोंछ रहा मेरा अग जग
छिप चला आज वह चित्रित पग
, उतरो अब पलकों में पाहुन !"

उपरोक्त कविता के अक्षर-अक्षर में जैसे सूक्ष्म-प्रकृति-निरीक्षण स्पष्ट बोल रहा है। मानवीय मनोभावों एवं प्रकृति के ऐसे सुन्दर सश्लिष्ट चित्र हिन्दी-साहित्य में अधिक नहीं मिलेंगे। उपरोक्त कविता वास्तव में छायावादी शैली के चरम विकास के साथ, रहस्यवाद के चरम विकास की भी रेखायें खीचती है। प्रकृति लगती है जैसे जीवन के साथ अन्न-जल के समान मिल गई है। वह अपने से बाहर कुछ नहीं है। छायावाद में प्रकृति का जो शृंगार हुआ है रहस्यवाद ने उसको सम्पूर्णता की सीमा तक तो पहुँचाया ही है, इसके साथ-साथ उसे साधक की अनन्त यात्रा के मार्ग का चिर सहचर भी बना दिया है। हिन्दी के आज तक के काव्य-साहित्य में प्रकृति रहस्यवादी-काव्य में अपने सुन्दरतम रूप में मिलती है।

वास्तव में साधक के हृदय में जब वह 'असीम' अपने शशि-मुख को घूँघट में छिपाए, रहस्यमय रूप में पदार्पण करता है तो साधक को प्रकृति का अणु अणु उसी ज्योति से ज्योतिर्मय और उसी चेतना से अनुप्राणित लगता है। फिर संसार में जड़ और चेतन नामक दो तत्व ही नहीं रह जाते। जड़ कहलाने वाली प्रकृति उस अखण्ड आनन्द से चेतन हो उठती है। 'प्रसादजी' ने 'कामायनी' के अन्त में अखण्ड आनन्द में

सजीव दिखती प्रकृति का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। निस्सन्देह रहस्यवाद में प्रकृति के सुन्दर चित्रण का यह उत्कृष्ट उदाहरण है—

"—हिम खण्ड रश्मिमंडित हो
मणि दीप प्रकाश दिखाता;
जिनसे समीर टकरा कर
अति मधुर मृदंग बजाता।

× × ×

रश्मियाँ बनी अप्सरियाँ
अतंरिक्ष में नचती थीं;
परिमल का कनकन लेकर
निज रंगमंच रचती थीं।

माँसल सी आज हुई थी
हिमवती प्रकृति पाषाणी
उस लास रास में विह्वल'
थी हँसती सी कल्याणी।

वह चन्द्र किरीट रजत नग
स्पन्दित सा पुरुष पुरातन;
देखता मानसी गौरी
लहरों का कोमल नर्तन

+ + + + + +

सम-रस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।"

रहस्यवाद का कलापक्ष—

छायावाद के कलापक्ष की जो विशेषतायें हैं वे रहस्यवाद के कलापक्ष की भी हैं। वास्तव में रहस्यवादी काव्य की शैली छायावादी ही है। छन्दों का जहाँ तक सम्बन्ध है, रहस्यवादी काव्य में 'गीतों' का ही प्रयोग अधिक हुआ है। हिन्दी के सब कालों में सभी रहस्यवादी कवियों ने अपनी आत्माभिव्यक्ति पदों (गीतों) में ही की है। आज का रहस्यवादी काव्य भी उसका अपवाद नहीं।

: : ८ : :

प्रगतिवाद

भूमिका —

साहित्य भावों की क्रीड़ाभूमि है। भावों के अनजान शिशु साहित्य की रज में ही लोट कर पुष्ट होते हैं। कवि भावों का जनक है। वही अव्यक्त भावनाओं को शब्दों में साकार करता है। कवि समाज का प्रतिनिधि है, अपने युग का उद्घोषक। वह अपने समाज से प्रभावित होता है–आंदोलित होता है। हृदय और मस्तिष्क की हलचल ही शब्दों का शरीर प्राप्त कर साहित्य बन जाती है किन्तु हलचल गति का ही दूसरा नाम है और गति ही जीवन है इसलिये यदि कहें कि साहित्य जीवन की शब्दरूप अभिव्यक्ति है तो असंगत न होगा। किन्तु जीवन क्या है? गति या परिवर्तन ही जीवन है। अतः साहित्य में गति या जीवन के गुण होना अनिवार्य है। सृष्टि के आदि काल से लेकर आज तक प्रत्येक युग का साहित्य अपना व्यक्तित्व रखता है, अपनी विशिष्टताओं से युक्त है। उसमें यह अन्तर क्यों? केवल इसलिये कि विश्व गतिशील है और इसलिये साहित्य भी गतिशील होना ही चाहिये! प्रश्न उठता है कि 'साहित्य' युग-युग का होना चाहिये कि युग का? उत्तर स्पष्ट है 'साहित्य' आगत का दर्पण और अनागत का प्रदीप होता है। जो बीत चुका है वह तो उसमें हम देखते ही हैं किन्तु वर्तमान की भी तो झांकी हमारा साहित्य ही देगा एवं भविष्य के लिये संदेश भी वही देगा। जो साहित्य युग का नहीं होगा, वह युग-युग का कैसे हो सकता है? प्रत्येक युग का साहित्य तत्कालीन, राजनैतिक, धार्मिक, एवं सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम होता है। उन परिस्थितियों से अलग करके न तो हम उस साहित्य का उचित अध्ययन कर सकते हैं और न उचित मूल्यांकन। अतः यह स्पष्ट है कि युग और साहित्य एक दूसरे में प्रतिबिंबित होते

हैं। युग परिवर्तनों के समुच्चय का प्रतीक है इसलिये प्रत्येक युग का साहित्य भी अपने युग के परिवर्तनों के लिये वाणीस्वरूप होता है।

पृष्ठ भूमि —

द्विवेदी काल की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रियास्वरूप छायावाद का युग हिन्दी-साहित्य में आया। उसके आने के और भी सामाजिक, राजनैतिक एवं अन्य कारण थे। उसी प्रकार छायावाद की सूक्ष्मता की प्रतिक्रियास्वरूप प्रगतिवाद का आविर्भाव हिन्दी-साहित्य में हुआ। युग की पुकार पर छायावाद को अपने साहित्यिक आसन का परित्याग प्रगतिवाद के पक्ष में करना पड़ा और इस प्रकार साहित्य से उसे निर्वासित कर दिया गया क्योंकि छायावाद अपने युग की आवश्यकताओं के अनुरूप आचरण करने में असफल रहा। युग के विरुद्ध वह टिक नहीं सका, विश्व में आज तक कोई भी युग-विरोधी होकर नहीं टिक सका। छायावाद में क्या कमियाँ थीं जिसके कारण वह श्रीहत होकर निर्वासित हुआ? प्रसिद्ध छायावादी कवि 'पन्त' उसे उचित रूप से व्यक्त कर सके हैं —

"छायावाद इसलिये अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिये उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलंकृत संगीत बन गया था। वह नये युग की सामाजिकता और विचार-धारा का समावेश नहीं कर सकता था। उसमें व्यावसायिक क्रान्ति और विकासवाद के बाद का भावना-वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की अन्न-वस्त्र की धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी। छायावाद जीवन की वास्तविकता से पलायन का काव्य था, वह आकाशवासी कल्पना की श्वासों पर जीवित था। विश्व के नग्न, दुःखानलदग्ध रूप से उसे विरक्ति थी। अतः वह केवल 'सुन्दरम्' का ही प्रतीक रह गया था, सत्य उसमें बहुत दूर छूट गया था। इस समय ऐसे काव्य की आवश्यकता थी जिसका दृष्टिकोण यथार्थ एवं ऐतिहासिक हो तथा जो अपने युग की सभी समस्याओं को वाणी दे सके। ये सभी विशेषतायें प्रगतिवाद में थीं।" 'पन्तजी' इसी बात को और भी स्पष्ट रूप में कहते हैं—"ऐतिहासिक विचार-धारा से मैं अधिक प्रभावित इसलिये भी हुआ हूँ कि उसमें कल्पना के

स्रोत को विशद और वास्तविक पथ मिलता है। छायावाद के दिशा-हीन शून्य-सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरनेवाली अथवा रहस्यवाद के निर्जन अदृश्य शिखर पर कालहीन विराम करने वाली कल्पना को एक हरी-भरी ठोस, जनपूर्ण धरती मिल जाती है।"

अतः यह स्पष्ट हो गया कि प्रगतिवाद के हिन्दी-साहित्य में आविर्भाव के दो कारण मुख्य हैं :—

१—छायावाद की प्रतिक्रिया।
२—युग की पुकार।

प्रगतिवाद का आरम्भ तथा परिस्थितियाँ—

इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि प्रगतिवाद अपने अस्तित्व के लिए पाश्चात्य विचार-धारा या पश्चिम का ऋणी है। भारत के बंगाल प्रान्त की उर्वरा एवं शस्यश्यामला भूमि विदेशी विचार-बीज के लिए भी कभी विरुद्ध-प्रकृति नहीं हुई। पूर्वी और पश्चिमी विचार धारायें उस भूमि में समानरूप से अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होती रहीं हैं। रोमान्टिक साहित्य का सबसे प्रथम प्रभाव पड़ा बंगाल पर। छायावाद की मौलिक जन्मभूमि होने का श्रेय भी भारत में उसी को प्राप्त है। प्रगति तथा 'प्रगतिवाद' के दर्शन को भी उसी ने भारत के अन्य प्रान्तों को दिया। 'प्रगति' की विचार-धारा बंगाल में सर्वप्रथम १९२७ के लगभग प्रकाश में आई। श्री बुद्धदेव वसु और श्री अजितदत्त ने 'प्रगति' नामक मासिक पत्रिका ढाका से निकाली। हिन्दी में इसका आरम्भ सन् १९३६ के लगभग मानना चाहिए। यहाँ 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना नवम्बर सन् १९३५ में हुई। सज्जाद ज़हीर तथा डा० मुल्कराज आनन्द इसके मूल संस्थापकों में हैं। एप्रिल सन् १९३६ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की प्रथम बैठक लखनऊ में उपन्यास सम्राट प्रेमचन्दजी की अध्यक्षता में हुई तथा इसके लगभग २ वर्ष पश्चात् इसकी दूसरी बैठक सन् १९३८ में रवीन्द्रनाथ के सभापतित्व में कलकत्ते में हुई।

'प्रगतिवाद' के आरम्भ की परिस्थितियों पर ध्यान देना आवश्यक है। इस समय तक भारतीय जनता राजनैतिक रूप से प्रबुद्ध हो उठी थी। अंग्रेजों के अत्याचार ने उसे और भी क्रुद्ध बना

दिया था। असंतोष और क्रोध की भयंकर ज्वाला देश के अन्तर में व्यापकरूप से धधक रही थी। भारत विस्फोट-आसन्न ज्वालामुखी बना हुआ था। गांधीजी की अहिंसा और प्रेम का जादू लोगों को मन्त्रमुग्ध नहीं कर पा रहा था। धधकती घृणा क्रुद्ध लावे के रूप में फूट पड़ना चाहती थी चाहे फिर उसका परिणाम कुछ भी क्यों न हो! नेताजी सुभाषचन्द्रबोस उस विस्फोट के समर्थक थे, वे 'प्रतीक्षा करो' के समर्थक नहीं थे, वे तो 'करो या मरो', 'अब या कभी नहीं' (Now or never) का नारा लगा रहे थे। जनता की सहानुभूति सुभाष के साथ थी। गांधीजी उस समय संघर्ष आरम्भ करने के विरोधी थे। जनता 'कुछ करने के लिए' उत्कंठित थी। उसे छायावादी, हालावादी कविताओं के प्रति कुछ भी आकर्षण नहीं था। राष्ट्रीय कविताओं (विशेष रूप से उग्र) बड़ी रुचि से पढ़ी और सुनी जाती थी। साहित्य-जगत में ऐसे समय 'प्रगतिवाद' शब्द को लोगों ने सहर्ष ग्रहण किया और जन जीवन का काव्य होने के नाते समाज में उसे लोकप्रियता भी शीघ्र ही मिली। यही कारण है कि प्रसिद्ध छायावादी कवि शीघ्र ही प्रगतिवादी हो गये क्योंकि जनता की रुचि वे पहचानते थे। 'प्रगतिवाद' हिन्दी-साहित्य में युग की पुकार या आवश्यकता के रूप में आया। उसका प्रचार-प्रसार इसलिए और भी शीघ्र हुआ कि छायावाद के काल्पनिक गानों से 'अन्न-वस्त्र पीड़ित' जनता ऊब गई थी और अब वह वास्तविकता के गाने सुनना चाहती थी। द्विवेदीकाल की इतिवृत्तात्मकता ने छायावाद के प्रचार-प्रसार के लिए मार्ग साफ किया था और छायावाद की सूक्ष्मता (अतीन्द्रियता) ने प्रगतिवाद के प्रचार-प्रसार के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

प्रगतिशील काव्य और प्रगतिवाद—

सन् १६३५ से पूर्व प्रगतिवाद शब्द हिन्दी-साहित्य में अपरिचित था। किन्तु क्या इससे पूर्व प्रगतिशील काव्य या प्रगतिशील कवियों का नितान्त अभाव था? बात ऐसी नहीं है। अन्याय न सहने की भावना अन्याय के प्रति क्रोध की भावना मनुष्य जाति में चिरन्तन है। वास्तव में प्रगति शब्द सापेक्षिक है उसका अलग न कोई अर्थ है और न महत्व। वह तुलनात्मकता का प्रतीक है। वीरगाथा काल से लेकर आज तक जिन महान कवियों ने अपने-अपने समय में फैली रूढ़ियों का विरोध किया है वे सब प्रगतिशील कवि कहे जायेंगे और उनका काव्य 'प्रगतिशील काव्य।'

लेकिन प्रगतिशील काव्य की कोई कसौटी तो रखनी ही पड़ेगी जिस पर किसी साहित्य को कसा जा सके। जन-कल्याण की भावना ही ऐसी कसौटी हो सकती है।

वीरगाथा काल को लिया जाय, उसमें कुछ प्रगतिशील काव्य है या नहीं ? प्रगतिशील कवि हैं या नहीं ? युद्ध का तांडवनृत्य वीरगाथा-कालीन साहित्य में मिलता है जो खड़गों की खटाखट, हाथियों की चिंघाड़, घोड़ों की टाप, वीरों के सिंहनाद, तथा कायरों के अर्न्तनाद के संगीत से पूर्ण है। तत्कालीन कवियों के युद्धोत्तेजक कविता-स्वर जिनमें युद्ध में कट मरने के लिये वीरों का आह्वान है—आज भी साहित्य में अमिट हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि वे युद्ध क्यों लड़े गये थे उनका परिणाम क्या हुआ, तत्कालीन कवियों का उन युद्धों में क्या महत्त्व है? वीरगाथा काल में छोटे-छोटे राज्यों में समस्त भारत विभक्त था ये सामन्त अपने को सार्वभौम राजा समझते थे और युद्ध का कारण जनता की भलाई नहीं वरन् शतप्रतिशत उनकी कामलिप्सा थी।

आलखण्ड के इन शब्दों में जैसे आज भी उस काल का सौभाग्य रो रहा है।

"—जिहि की बिटिया सुन्दर देखी तिहि पर जाइ धरे हथियार।"

इन चारणों या कवियों का महत्त्व क्या था ? वे राजाओं के कुकृत्यों के कारण उदासीन जनता में जननी के दूध, पत्नी के सिंदूर तथा मातृभूमि की लज्जा के नाम पर आपस में ही कट मरने का युद्धोन्माद भरा करते थे। इतिहास के विद्यार्थी के लिये यह बात अस्पष्ट नहीं है कि ये चारण कवि अपने आश्रयदाता सामन्तों की चापलूसी करके उनको ब्रह्मा, विष्णु और महेश का अवतार बताकर भोली जनता को पथ-भ्रष्ट कर रहे थे। किसी एक लोकनायक के अभाव में जनशक्ति का अपव्यय हो रहा था। युद्ध-क्षेत्र रक्त-माँस से पट जाने पर उसका परिणाम निकलता था 'राजकुमारी हरली गई।' अनैतिकता के पोषक राजन्य वर्ग के लिये जनता अपना सर कटा रही थी। राष्ट्र की जीवनी शक्ति जैसे-जैसे धीरे-धीरे रिस रही हो। परिणाम यह हुआ कि जब विदेशी आक्रांताओं ने भारत को पददलित किया तब तक जनता की शक्ति अपने नरेशों के विलास-यज्ञ की अन्तिम आहुति बन चुकी थी, जो कुछ शक्ति शेष भी थी उसको भी एक सूत्र में पिरोकर उसे सुव्यवस्थित करने की बात न तो तत्कालीन दम्भी नरेशों ने सोची, न

उनके चाटुकार चारणों ने वह बात उन्हें सोचने ही दी। किसी व्यक्ति विशेष के मनोरंजन के लिये जन-शीशों के बलिदान की कहानी वीर काव्य नहीं है, वह तो वास्तव में करुण काव्य है। (अपने कथन के प्रमाण के लिये मैं वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा 'मृगनयनी' में चित्रित एक चारण का चरित्र या उन्हीं के द्वारा 'पूर्व की ओर में' चित्रित एक कवि के चरित्र का उदाहरण दूंगा)। देश के पराभव की वह कहानी 'वीर छन्दों' में लिखी जाने से न तो वीरकाव्य बनेगी न प्रगतिशील काव्य। फल यह हुआ कि विदेशी आततायियों को भारत-भूमि पर अधिकार करने में कुछ समय नहीं लगा। गुप्तजी ने जैसा लिखा है—"हम हों समष्टि के लिये व्यष्टि बलिदानी"। वीरगाथा काल में उसके विपरीत हुआ वहाँ तो व्यष्टि के लिये समष्टि को बलि देनी पड़ी, वह भी तुच्छ उद्देश्यों के लिये।

भक्ति काल के काव्य और कवियों को जब इसी कसौटी पर कसते हैं तो कितने ही कविरत्न भक्ति के उस अगाध समुद्र में हमें मिलते हैं जिन्होंने अपने प्राणों के प्रकाश से दूसरों का पथ आलोकित किया। सबसे प्रथम कबीर को लें। कार्मकाण्ड की व्यर्थ की अधिकता से कबीर का मन मर्माहत हुआ। वाह्याडम्बरों का महत्त्व उन्होंने ठीक-ठीक आंका। मनुष्य का निरादर और पत्थर का आदर करनेवाले मनुष्य पर उन्हें दया आई, उन्हें दुख हुआ—

> "मनुआ कैसे बावरे रे पाथर पूजन जाँय
> घर की चकिया कोई न पूजै जाको पीसौ खाँय।"

नेम, व्रत, योग, रोज़ा, नमाज़, तीर्थ, पवित्रता का ढोंग, अस्पृश्यता आदि की उन्होंने तीव्र स्वर में निन्दा की। सामन्तशाही के द्वारा मनुष्य-मनुष्य में पैदा किए अन्तर के विरुद्ध कबीर जीवन भर लड़े। वे समाज में मनुष्यमात्र की प्रतिष्ठा चाहते थे व्यक्ति की नहीं। अतः प्रतिक्रियावादी पण्डितों के ज्ञान-दर्शन को उन्होंने उसके नग्नरूप में जनता के समक्ष रख दिया—

> "—मैं कहता हूँ जग की लेखी, तू कहता पत्रा की देखी
> तू पण्डित हों काशीक जुलाहा............।
> सो ज्ञानी आप बिचारै।"

यह कबीर के अहं का विस्फोट नहीं है अपितु पण्डितवर्ग के दम्भ का उग्र भाषा में विरोध है।

कबीर की दो महान् विशेषतायें भुलाई नहीं जा सकतीं।

१–वे किसी राजा के आश्रित कवि नहीं थे।

२—उन्होंने अपने लिये कुछ नहीं किया। समाज को प्रबुद्ध बनाने में अपना जीवन लगा दिया।

"सब आपस में भाई-भाई हो। छूआछूत छोड़ो। तुम सब का निर्माण एक ही रक्त से हुआ है। हिन्दू, मुसलमान धर्म की कल्पित प्राचीरें तुम्हारे मार्ग में बाधक हैं। प्रेम करने वाले जाँति-पाँति नहीं मानते। इस संसार में सोचकर देख लो—अपने समान नीच कोई नहीं है। तिलक, व्रत, गेरुआ वस्त्र, वेद-शास्त्रों के पाखण्ड को छोड़ो, रोज़ा, नमाज़, हज्ज के चक्कर में मत पड़ो। तुम सब आपस में भाई भाई हो, उस राम की संतान हो।" इस उपदेश के देने वाले का कोई नाम न बताए और किसी से पूछे बताओ तो ये किसके वाक्य लगते हैं; तो सुनने वाला झट से कहेगा कि गांधीजी के। पर शब्द हैं ये कबीर के, उस व्यक्ति की महानता इसी से समझी जा सकती है कि इतनी शताब्दियों पूर्व उसने जिस शुभ कार्य को आरम्भ किया उसी को थोड़ा दुहराकर बीसवीं शताब्दी में 'मोहनदास करमचन्द गांधी' 'महात्मा' बन गए। महान् बन गये। किन्तु समय और परिस्थितियों को देखते हुए कौन अधिक प्रगतिशील है यह निर्णय करना अधिक कठिन नहीं है?

"—कबीर के महान् व्यक्तित्व के विषय में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—

"—कबीर का रास्ता उल्टा था। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं वे प्रायः सभी उनके लिये बन्द थे। वे मुसलमान होकर भी वास्तव में मुसलमान नहीं थे, हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर साधु (अगृहस्थ) नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे, वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बना कर भेजे गये थे। वे भगवान के नृसिंहवतार की मानव प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भाँति वे नाना असम्भव समझी जाने वाली परिस्थितियों के 'मिलन'

बिन्दु' पर अवतीर्ण हुए थे ।........ .... नृसिंह ने इसीलिए नाना कोटियों के 'मिलन-बिन्दु' को चुना था । असम्भव व्यापार के लिये शायद ऐसी ही परस्पर विरोधी कोटियों का 'मिलन-बिन्दु' भगवान को अभीष्ट होता है। कबीरदास ऐसे ही 'मिलन-बिन्दु' पर खड़े थे जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ पर एक ओर योगमार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवतदत्त सौभाग्य था। उन्होंने उसका खूब उपयोग भी किया।"

परन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि कबीर के युग की अपनी सीमायें थीं और कबीर भी उन्हीं सीमाओं की परिधि में आते हैं। आज की प्रगतिशीलता की कसौटी पर उनको कसना असंगत होगा।

कबीर के पश्चात तुलसी को लिया जाय।

तुलसी की निम्नांकित विशेषतायें द्रष्टव्य हैं—

१—किसी के आश्रित कवि नहीं थे। "कीन्हे प्राकृत गुन गन गाना, सिर धुन गिरा लगने पछताना" में विश्वास रखते थे।

२—कहीं भी मर्यादा का अतिक्रम अपने काव्य में नहीं किया क्योंकि वे जानते थे कि समाज पर उसका असर अच्छा नहीं पड़ेगा। इसलिये सीता को राम के दर्शन तक 'कंकन के नग की परछाई" में कराये।

३—संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी 'भाषा' में रामायण की रचना की।

४—जाँति-पाँति पूछै नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।

५—हठयोग आदि का विरोध करके साकार ईश्वर (राम) का शील-शक्ति समन्वित रूप जनता के समक्ष रखा।

६—"सियाराम मय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोर जुग पानी" संसार को तुच्छ नहीं समझा।

७—जनता के हृदय को तुलसी ने जितना समझा तथा महत्त्व दिया उतना सम्भवतः अन्य तत्कालीन कवियों ने नहीं।

८—'रामचरित मानस' में ऐसे कितने ही स्थलों की उद्भावना जो जन-कल्याण के पक्ष में पड़ते हैं। राम और सीता का प्रथम दृष्टि में प्रेम, निषाद से भेंट आदि।

९—कविता की भाषा का सरल तथा बोधगम्य होना।

१०—ऐसे छन्दों का प्रयोग जो जनता में अधिक प्रचलित थे अर्थात् दोहा और चौपाई।

११—अदम्य प्रतिभा और अगाध पाण्डित्य।

तुलसी की भावुकता तथा महत्त्व के विषय में शुक्लजी की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं।

"कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का 'रामचरित' से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है? जीवन-स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं? इस क्षेत्र में कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है। उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता। जो केवल दाम्पत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सकें वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द-शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें। हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वाङ्गपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामीजी में ही है जिसके प्रभाव से 'रामचरित मानस' उत्तरी भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है।"

रीति काल का युग तो साहित्य के अंधकार का युग है। राज्याश्रित कवियों के मुख से निकली कविता धाराओं के संगम से विलास-सरिता में जो बाढ़ उस काल में आई उसमें न तो धर्म का पता लगा न, रीतिनीति का। सदाचार और नैतिकता भी तिनके की भाँति उस प्रभाव में बही फिरी। 'गोरस लिप्सु नरेशों ने भयंकर मगरों की भाँति उस सरिता को आद्यान्त मथा और जन-जीवन को अपना भक्ष बनाया। उस काव्य-सरिता में दुर्गति-प्राप्त क्षत-विक्षत नारीत्व आज भी समाज के ऊपर अभिशाप की ज्वालायें उगल रहा है। इसलिये प्रगतिशील काव्य और कवि का यदि उस युग में अभाव रहा तो यह स्वाभाविक ही है।

प्रगतिवाद और उसका दर्शन—

यह आज संदेह का विषय नहीं है कि हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद के नाम से प्रख्यात काव्य-युग अपने पूर्व युगों का सहज परिणाम नहीं है अपितु विश्व-संघर्ष के मंथन से प्राप्त पश्चिम से आया हुआ अमृत है। जर्मनी का कार्ल मार्क्स इसका जन्मदाता है। कार्ल मार्क्स ने संसार और उसके आर्थिक चक्र का आँखें खोल कर अध्ययन किया और उसने देखा कि विश्व की व्यापक भुखमरी, कराल अकाल, कुरुपता, अनाचार, अत्याचार, किसी अव्यक्त ईश्वर की देन नहीं अपितु उसके कुछ भक्तों की कृति है। अपने क्रान्तिकारी ग्रन्थ 'कैपीटल' में कार्ल मार्क्स ने विश्व के आर्थिक षडयंत्र का भण्डा-फोड़ किया। उसने बताया कि धन की असंख्य राशि किस प्रकार चक्कर काट कर कुछ व्यक्तियों के हाथ में पहुँच जाती है और वे कुछ व्यक्ति ही फिर उस धनराशि के बल पर संसार को अपने संकेतों पर नचाते हैं। आधुनिक प्रगतिवाद ने मार्क्सवाद को अपना प्रेरणा स्रोत बनाया और विश्व की अशांति, युद्ध, भुखमरी, बेरोजगारी आदि का कारण पूँजीवाद को ठहराया। पूँजीवाद, श्रम और अधिकार शोषण का ही दूसरा नाम है। श्रम कोई करे और उससे लाभ कोई उठाये। वस्तु का उत्पादन कोई करे, उसका उपभोग बिना उचित मूल्य दिये कोई करे। मोटे रूप में पूँजीवाद के यही वे दो दृढ़ खम्भे हैं जिन पर बैठकर भी वह इन्द्र की भाँति हमेशा अपनी जीवन रक्षा के विषय में शंकालु एवं चंचल है। किन्तु केवल आर्थिक दृष्टिकोण ही प्रगतिवाद हो यह बात नहीं है। भौतिकवादी आधार उसकी दूसरी विशेषता है।

द्वन्दात्मक भौतिकवाद या ऐतिहासिक भौतिकवाद—

मार्क्स के अनुसार सृष्टि में मूलतः दो तत्व हैं:—Positive (स्वीकारात्मक) तथा Negative (नकारात्मक)। इन्हीं दोनों तत्वों के संघर्ष का नाम जीवन है। ये दोनों तत्व Matter (वस्तु) चेतना नहीं किन्तु दोनों के संयोग से चेतना उत्पन्न होती है (Development is the struggle of opposite—Lenin)। मार्क्सवाद भूतों (Matter) को ही चेतना को आधार मानता है। वह चेतना की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास नहीं रखता। चेतना को द्वन्द्व का अनिवार्य परिणाम

मानता है; इसीलिये इसे द्वन्दात्मक (द्वन्द के कारण) भौतिकवाद (भूत ही सृष्टि का आधार है) कहते हैं। इसी द्वन्दात्मक भौतिकवाद को ऐतिहासिक क्रम में प्रतिफलित देखना ऐतिहासिक भौतिकवाद है। लेनिन, मार्क्स के भौतिकवादी-दर्शन की व्याख्या करता हुआ कहता है।

"Materialism in general recognises objectivity real being (Matter) as independent of consciousness, sensation, experience..........Consciousness is only the reflection of being, at best an approximately true (adequate, ideally exact) reflection of it."

इस कथन के अनुसार फिर भूतों के मूल में न तो किसी चेतन-तत्व के मानने की आवश्यकता रहती है और न विश्व के नियामकरूप में किसी अदृश्य सत्ता (ईश्वर) के मानने की।

ईश्वर में विश्वास रखने वाले दर्शन ह्रासवादी होने के लिये बाध्य हैं। उनके अनुसार विश्व का विकसितम ज्ञान ईश्वर (अल्लाह, खुदा) ने सृष्टि के आरम्भ में स्वयं ही वेद, इञ्जील या कुरान के रूप में कह दिया है अतः अब तो विश्व में ज्ञान धीरे-धीरे कम हो रहा है और विश्व तेजी से प्रलय (कयामत) की ओर बढ़ रहा है।

प्रगतिवादी दृष्टिकोण—

मार्क्सवाद एक विज्ञान है। अतः उसका विश्वास बिल्कुल उल्टा है। वह मानता है कि सृष्टि जिस क्षण से अस्तित्व में आई, उसी क्षण से वह निरन्तर विकासमान है। सृष्टि के मूल में व्याप्त प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी तत्व निरन्तर संघर्ष कर रहे हैं और प्रगतिवादी तत्वों की विजय के साथ-साथ विश्व का विकास निरन्तर हो रहा है (यद्यपि अबाध नहीं)।

प्रगतिवादी काव्य का दृष्टिकोण मार्क्सवादी है। मार्क्सवादी प्राचीन संस्कृति को सामन्तशाही एवं पूँजीवादी व्यवस्था का दुष्परिणाम समझता है। संसार को देखने का उसका अपना दृष्टिकोण है। उसके समक्ष दो बाते हैं:—

१—पुरानी सड़ी-गली संस्कृति (सामंतवादी पूँजीवादी) का मूलोच्छेदन।

२—कला का जीवन के लिये उपयोग—

मार्क्सवादी साहित्य का उपयोग अस्त्र के रूप में ही करते हैं। वे साहित्य के द्वारा जनता पर नए विचारों की छाप डालना चाहते हैं तो दूसरी तरफ जन-मन में व्याप्त सामन्तवादी पूँजीवादी संस्कारों को समाप्त करना चाहते हैं। स्पष्ट ही मार्क्सवादी कला का एक विशिष्ट उद्देश्य मानते हैं। वे उसे शाश्वत, नियमों से परे और अलौकिक नहीं मानते। मार्क्सवाद के दो मोर्चे हैं, जो पूँजीवाद को जड़ से नष्ट करने के लिये बने हैं।

१—राजनैतिक मोर्चा—रूस एवं उसके मित्र मार्क्सवादी समाजवादी अवस्था में ही विश्व का कल्याण देखते हैं। अतः उन्होंने राजनैतिक रूप से इस अवस्था एवं व्यवस्था को स्वीकार कर लिया। अब तो चीन का विस्तृत भूभाग भी इसी मार्क्सवादी व्यवस्था का समर्थक बन गया है। विश्व के अन्यान्य देशों में भी मार्क्सवादी पार्टियाँ अपने निश्चित मार्क्सवादी उद्देश्य की प्राप्ति की ओर राजनैतिक रूप से सक्रिय हैं।

२—सांस्कृतिक मोर्चा—यहाँ मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को साहित्य के आवरण में प्रतिष्ठित कर उसे जनमत के निकट पहुँचाया जाता है। उनके साहित्य का एक निश्चित उद्देश्य रहता है। वे अपने साहित्य को देश और समाज से निरपेक्ष रखना उचित नहीं समझते। उनके साहित्य में पूँजीवाद सामन्तवाद के कारण समा में उत्पन्न हुई असंगतियों एवं विकृतियों का तर्कपूर्ण वर्णन एवं खण्डन रहता है और मार्क्सवादी (साम्यवादी) समाज की सुख शान्ति का तर्क-संगत चित्र। विश्व के पाठक इस विचारधारा से प्रभावित हुए हैं और प्रभावित हो रहे हैं। बिना युद्ध के, बिना रक्तपात के यह मार्क्सवादी सांस्कृतिक मोर्चा पूँजीवादी व्यवस्था के लिये एक भयंकर आसन्न-संकट बन गया है।

प्रगतिवाद तथा यथार्थवाद—

कुछ लोगों ने यथार्थवाद को ठीक तरह समझने की चेष्टा नहीं की है और उसका अर्थ लिया है कि समाज में जो जैसा होता है या हृदय में जो जैसी बातें उठती हैं, बिना समाज के कल्याण की चिंता के उन्हें यथावत् व्यक्त कर दिया जाय। यह तो मार्क्सवादी सांस्कृतिक मोर्चे के विपरीत पड़ता है। वास्तव में मार्क्सवादी साहित्य

को यथार्थवादी इसलिये कहा जाता है कि उसका आधार यथार्थ (भूत, Matter) है, कल्पना (Idea) नहीं। न कि इसलिये कि उसमें व्यक्तभाव यथार्थ हों जो कि नैतिकता-अनैतिकता का बन्धन स्वीकार नहीं करते। बात वास्तव में यह है कि प्रेम की नियन्त्रणहीन अभिव्यक्ति प्रगतिवाद के नाम पर हुई है जिससे समाज और प्रगतिवाद दोनों का अकल्याण हुआ है। मार्क्सवादी दर्शन का सर्वोपरि नारा है 'कला जीवन के लिए है, कला कला के लिए नहीं।' व्यक्तिगत आत्मसन्तोष सामाजिक सन्तोष के विपरीत होना ही नहीं चाहिये। यदि वह हो तो हमें उसका बलिदान समाज के कल्याण के लिये करना ही पड़ेगा। गुप्तजी ने लिखा है—

"हम हौं समष्टि के लिये व्यष्टि बलिदानी।"

प्रगतिवाद फ्रॉयडवाद—

जिस प्रकार मार्क्स का मूल सिद्धान्त आर्थिक है और विश्व के परिवर्तन के कारण—रूप में वह अर्थ को देखता है उसी प्रकार फ्रॉयड विश्वपरिवर्तन के मूल में काम-भावना को देखता है। काम-भावना चूँकि भौतिक भावना है अतः कुछ मनचले कवियों ने उसे मार्क्स-वाद का सहायक समझा। फ्रॉयडवाद, एक व्यक्तिवादी दर्शन है और उसमें भी उसमें बहुत कुछ कल्पना पर निर्भर करता है। अतः दो कठिनाइयाँ हैं जिनसे मार्क्सवाद से वह दूर जा पड़ता है :—

१—व्यक्तिवादी दर्शन है।
२—वह काल्पनिक अधिक है, विज्ञान नहीं है।

मार्क्सवाद एक विज्ञान है। अतः कल्पित सिद्धान्तों की संगति उसके साथ बैठती नहीं है। लेखकों ने प्रगतिवाद के नाम पर अपनी रुद्ध काम-वासना का अबाध-स्रोत साहित्य में प्रगतिवादी कविता के नाम से बहाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने समझा कि साम्यवादी समाज वर्गहीन होता है। इसलिये शायद भावों पर भी कोई प्रतिबन्ध न हो। हमारा समाज अनेक प्रकार की कुरीतियों एवं सदियों से जर्जर हो गया है। इसलिये स्वस्थ प्रेम या प्रेम का समुचित विकास भी यहाँ सम्भव कैसे हो सकता है ? अनेकों युवक-युवतियाँ प्रतिदिन संकीर्ण समाज में अपने-अपने जीवन विकास का समुचित अवकाश न देख स्वमेव अपनी जीवन-लीला समाप्त कर लेते हैं। विश्व में प्रेम

से अधिक प्रगतिशील भावना दूसरी नहीं हो सकती। प्रेम तो विश्व में व्यवस्था तथा मधुरता का जनक है फिर वह प्रगतिविरोधी नहीं हो सकता। किन्तु प्रेम को महिमान्वित किया जाना चाहिये उसके सामाजिक रूप में, न कि व्यक्तिगत रूप में। प्रगतिशील लेखकों को अपनी कृतियों द्वारा स्वस्थ प्रेम का चित्रण व्यापकरूप से करना चाहिये जिससे समाज का कल्याण हो सके। पूँजीवादी संस्कृति में प्रेम अर्थहीन शब्दमात्र है। एक गरीब पिता को अपनी पुत्री की शादी धनाभाव में एक अवांछनीय व्यक्ति से करनी पड़ती है। वृद्ध धनिकों को भी षोड़सी पत्नियों का अभाव नहीं। जहाँ धन से जन-क्रय किये जा सकते हों वहाँ प्रेम जीवित रह सके तो यही आश्चर्य की बात है। हमारे देश का वेश्या समाज पूँजीवादी संस्कृति की ही देन है। रूस और चीन या वे देश जहाँ आज साम्यवादी व्यवस्था है समाज के मुख का यह कलंक सदैव के लिए पुछ गया है किन्तु विश्व के सभी पूँजीवाद देशों में वेश्याओं का वर्ग सदैव सतत् वर्द्धमान है। पूँजीवादी व्यवस्था ने समाज को जीर्ण-शीर्ण कर दिया है। उसका प्रत्येक जोड़ खुल गया है और पूँजीवादी समाज का ढाँचा आज चरमरा रहा है। जहाँ भूख है वहाँ क्या नैतिकता होगी? जहाँ गरीबी है वहाँ सदाचार कहाँ से आयेगा? प्रेम के इस भाव को लेखकों ने ठीक से न समझ सकने के कारण अपनी व्यक्तिगत प्रेम-कुण्ठाओं को साहित्यिक अभिव्यक्ति देना आरम्भ कर दिया। एक बात यह थी कि छायावादी काल में वासना को स्थूलरूप से अभिव्यक्त करने की सुविधा नहीं थी जो कि यथार्थवाद के नाम पर यहाँ उन्होंने उस सुविधा की प्राप्ति को स्वयं सिद्धि समझ लिया। वासना की उस अतृप्त आकांक्षा का अकल्याणकारी विस्फोट छायावादी युग के पश्चात हुआ। प्रगति विरोधी लोगों ने उसी को प्रगतिशील काव्य बताकर प्रगतिवाद को बदनाम करने का प्रयत्न किया और इसमें उन्हें यत्किंचित सफलता भी मिली। प्रश्न यह है कि वे कवि जिन्होंने अश्लील कवितायें लिखी हैं, क्या माने हुए प्रगतिवादी कवि हैं? या गंदी रचनाओं को इकट्ठी कर उन्हें प्रगतिवादी घोषित कर दिया गया है और उनके लेखकों को प्रगतिवादी कवि। यहाँ कुछ उन अप्रगतिशील रचनाओं के उद्धरण दिये जाते हैं जिनको अनायास ही प्रगतिवादी रचना घोषित कर दिया गया है—

"—और वह दृढ़ पैर मेरा है,

गुरु, स्थिर, स्थाणुसा गड़ा हुआ
तेरी प्राण-पीठिका पै लिंगसा खड़ा हुआ ।" —'अज्ञेय'

× × ×

"—घिर गया नभ उमड़ आए मेघ काले ।
भूमि के कल्पित उरोजों पर झुकासा.......
आह मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आयी है लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त—
तुम कहाँ हो नारी ? —'अज्ञेय'

× × ×

"—वह आयेगी
मेरा ढाँप लेगी नङ्ग
अपनी देह से
वहते स्नेह से । —'अज्ञेय'

कच्चे दूध-सरीखी गोरी-गोरी नग्न भुजायें
जिनकी मोम मृदुलता
स्निग्ध गठित मांसलता
रूपसि इनमें कसलो मुझको, उर धड़कन रुक जाए ।
—'गुलाब'

हाथ मटर के दानों पर जा
जगा देते हैं एक सनसनी,
बिजली दौड़ जाती है
एक झनझनी ।
शरीर में—
शरीर के रोम-रोम में
एक कनकनी । —'रमण'

× × ×

"—इसीलिए तो पुरुष से
होता है सम्बन्ध नारी का
अपने एकाकीपन से—
नहीं पूर्ण होनेवाले अनन्द को,
पूरा करे नारी किसी पुरुष के संग हो । —'रमण'

उपरोक्त कवि माने हुए प्रगतिशील कवि नहीं हैं। यों अपने आप तो संसार के सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी लोग भी प्रगतिशील बनते हैं। वे कवि अपने आपको क्या समझते हैं—यह एक बात है और दूसरे उन्हें क्या समझते हैं यह दूसरी। लोक-कल्याण, सामाजिकता जिस काव्य का आधार नहीं वह प्रगतिशील काव्य नहीं हो सकता फिर चाहे कुछ भी हो। वैयक्तिक काम-प्रलापों को प्रगतिवादी काव्य की संज्ञा देना प्रगतिवाद का नहीं अपना ही अपमान है।

प्रगतिवाद और त्रात्स्कीवाद—

आजकल प्रगतिवाद के साथ त्रात्स्कीवाद का नाम अधिक सुनाई पड़ता है। जिस वस्तु का वाह्याकार मात्र देखकर लोग उसे प्रगतिवादी वना देते हैं और उसकी विषय-वस्तु की परीक्षा नहीं करते, वे वास्तव में त्रात्स्कीवाद के शिकार होते हैं। डा० रा० वि० शर्मा के शब्दों में त्रात्स्कीवाद की परिभाषा है—जिसमें वामपक्षी लफ्फाज़ी हो और भावभूमि प्रतिक्रियावादी हो। अर्थात् त्रात्स्कीवादी रचना में भाषा तो उग्र मिलेगी लेकिन वह रचना पाठक को क्रान्ति से विरत करने वाली होगी, उसमें सहयोग की प्रेरणा देने वाली नहीं। बामपक्षी भाषा में शेखचिल्ली के स्वप्न होंगे। उसकी भावभूमि या तो क्रान्ति-विरोधी होगी या क्रान्ति में वाधा डालनेवाली, विलम्ब करनेवाली होगी। प्रगतिवादी लेखक को सैद्धान्तिक रूप से इन बातों से बचते रहना होगा और विशुद्ध मार्क्सवादी विचार-धारा को सुन्दरम् में आवेष्ठित करके रखना होगा। डा० रामविलास शर्मा इसीलिये प्रगतिवादी काव्य के निश्चित सैद्धान्तिक आधार के पक्ष में है। वे लिखते हैं—"जो लेखक पूँजीवादी व्यवस्था से लोहा लेने लगे हैं और शोषण व्यापार खत्म करके समाजवाद लाना चाहते हैं; अगर वे साहित्य की तरफ अराजनैतिक और सिद्धान्तहीन दृष्टिकोण अपनाते हैं, यानी अपनी कला पर राजनैतिक सिद्धान्तों का अंकुश नहीं मानते तो वे शुद्ध प्रतिक्रियावादी की हिमायत नहीं करते तो और क्या करते हैं।"

प्रगतिवाद—एक अवस्था—

सृष्टिके इतिहास में मानव-संस्कृति का आरम्भ लगभग पशुचारण काल से माना जाता है। उसके पश्चात् मनुष्य ने प्रगति की

और उसने खेती करना प्रारम्भ कर दिया। उसने पालित पशुओं से अपने कार्य में सहायता ली और वह एक जगह बसकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कृतप्रयत्न हुआ। इसे इतिहास कृषि युग के नाम से पुकारता है। कृषि युग में जनसंख्या कुछ विशिष्ट स्थानों पर केन्द्रित होने लगी थी और व्यवसाय की उन्नति बड़े-बड़े नगरों को जन्म देरही थी। कुछ लुटेरे व्यक्तियों ने अपना गिरोह बनाकर लोगों को आतंकित करना प्रारम्भ किया और उनका नेता एक दिन राजा बन बैठा। निरंकुश शासन का धीरे-धीरे विकास हुआ (कुछ विद्वानों का मत है कि कृषियुग और निरंकुश शासन के बीच में प्रजातन्त्रवाद का काल रह चुका है किन्तु इतिहास का विकासक्रम देखते हुए यह अस्वाभाविक प्रतीत होता है) इसके पश्चात् सामंतवाद का युग आया और देश अनेक छोटे-छोटे राजाओं में बँटे, तत्पश्चात पूँजीवाद का युग आया और श्रम के विस्तार के कारण एकसा व्यवसाय करने वाले लोग एक ही स्थानपर केन्द्रित होने लगे और उनकी समान समस्यायें तथा हित बन गये, इस प्रकार वर्गों का उदय हुआ। यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिये कि ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार प्रत्येक परवर्तितवाद अपने पूर्ववर्तीवाद से अधिक प्रगतिशील था पूँजीवाद अपने सभी पूर्ववर्ती अवस्थाओं में अधिक प्रगतिशील अवस्था है किन्तु आज विश्व में समाजवादी अवस्था पूँजीवाद की समाप्ति की दुंदुभी बजा चुकी है और निश्चित रूप से आनेवाले समय में पूँजीवाद एक अतीत की वस्तुमात्र ऐतिहासिक वस्तु रह जायगा। समाजवाद सृष्टि की—मानव संस्कृति की विकसिततम अवस्था है। अतः वह अपनी पूर्ववर्ती अवस्थाओं से सबसे अधिक प्रगतिशील और युगानुकूल है। प्रगतिवादी साहित्य उसी समाजवादी अवस्था की साहित्यिक वाणी है।

प्रगतिवादी कलाकार कौन ?

समाज में परिवर्तन अवश्य होता है, किन्तु समाज में दो प्रकार के तत्व सदैव रहते हैं १—प्रगतिवादी २—प्रतिक्रियावादी (ये दोनों तत्व मार्क्सवाद के अनुसार सृष्टि के मूल में भी रहते हैं) कुछ व्यक्ति होते हैं जिनका दृष्टिकोण अतीत के प्रति—अतीत की सभी वस्तुओं के प्रति—ममतामय होता है कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनका दृष्टिकोण अतीत की उन वस्तुओं के प्रति जो युगानुकूल नहीं होती

निर्ममतायुक्त होता है। प्राचीनता—प्राचीन व्यवस्थाओं—से बिना सोच विचार के मोह रखनेवाले व्यक्ति प्रतिक्रियावादी होते हैं और नवीन युग की माँग पर प्राचीनता की बलि देने को तत्पर तथा युगानुकूल तथ्यों का स्वागत करने वाले व्यक्ति प्रगतिवादी कहलाते हैं।

प्रतिक्रियावादी व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं—

१—वे व्यक्ति जो अज्ञान के कारण नवीन चेतना का विरोध करते हैं। प्राचीनता का अन्ध मोह उन्हें ऐसा करने के लिये विवश करता है।

२—वे व्यक्ति जो जानबूझ कर प्राचीनता के उन तत्वों का प्रचार छद्मरूप में करते हैं जिनसे उनके स्वार्थों, हितों-का पोषण होता है; चाहे वे तत्व लोक कल्याण में कितने ही बाधक हों।

जब दो प्रकार की विचार-धारा ही समाज में होती है तो कलाकारों में भी उसका अस्तित्व स्वाभाविक है। उदाहरण के लिये पूँजीवादी संस्कृति आज एक मरणोन्मुख संस्कृति है। आज का सजग कलाकार उसका विरोधी है किन्तु कुछ कलाकार आज भी ऐसे हैं जो शाश्वत कला, शाश्वत विचार, विचारों का स्वतन्त्र अस्तित्व, आदर्श (Ideal) मनुष्य से बड़ा है। कला—कला के लिये आदि का असंयत प्रचार करते हैं और इस प्रकार प्रगतिवादी धारा का विरोध कभी तो अनजाने करते हैं और कभी जानबूझ कर (जैसे जैनेन्द्रजी)।

मार्क्सवादी चिन्तन पुरातन का अन्ध विनाश नहीं चाहता उसके अनुसार तो प्राचीनता नवीनता में संरक्षण—पाती है और नवीनता का जन्म भी प्राचीनता में से ही होता है। अपने 'प्रगतिवाद—एक दर्शन' लेख में श्रीयुत शशिभूषण शर्मा ने इस भाव को बड़ी स्पष्टता से व्यक्त किया है वे लिखते हैं—

"आज के तथाकथित प्रगतिशील साहित्य को पढ़ कर साधारण लोगों के मन में यह धारणा बँध गई है कि विप्लवी साहित्यिक केवल जलती मशाल, हड़ताल, किसान मज़दूर, लाल झण्डा, बाढ़, दुर्भिक्ष आदि वस्तुओं को लक्ष्य करके ही साहित्य-निर्माण करते हैं तथा प्रेम, प्रकृति आदि सनातन विषयों को जहर की तरह छोड़ देते हैं। प्रगति के अर्थ को नहीं जानने के कारण ही ऐसी ग़लत धारणा फैली हुई है। प्रगतिवादी दर्शन राजनीति के बीच ही सीमित नहीं बल्कि सम्पूर्ण

मानवता को घेर कर छा जाने वाली एक सकल गर्भित दृष्टि है। इसलिये प्रगतिवादी दर्शन के साथ यदि कलाकार का आन्तरिक योग होगा तो जिस विषय को वह छू देगा वही प्रगतिवादी हो जायगा। प्रतिक्रियागामी कलाकृति से उसकी रचना का मौलिक पार्थक्य सहज ही झलक जायगा।"

× × ×

"—प्रगतिवादी दर्शन का कहना है कि नूतन ही पुरातन की रक्षा कर सकता है। नूतन के बीच पुरातन बचा रहता है और पुरातन के बीच नूतन साँसें लेता है। पुरातन वृक्ष जो प्रतिदिन नूतन पत्ते, फूल और डालें उत्पन्न करता है उसका कारण वृक्ष का जीवन है। जिस दिन नूतन, पुरातन को ग्रहण नहीं कर सकेगा उसी दिन उसकी मृत्यु हो जायगी। नूतन और पुरातन के बीच विच्छेद का अर्थ है—जीवन का अवसान। जिस दिन हम यह देखने लगें कि धरती पर नये कवि उत्पन्न नहीं हो रहे हैं, उसी दिन हमें समझ लेना चाहिये कि पुरातन कवियों की शायद पहले ही मृत्यु हो गयी है। प्राचीन कला की योग-रक्षा कौन कर रहा है? आज का कलाकार। यदि नई कविता सूख गई तो हम किस स्रोत में बह कर पुरातन के बीच पहुँच सकेंगे? आज की नई हिन्दी-कविता हमारे और सूर-तुलसी के बीच के दीर्घ व्यवधान को निरन्तर दूर कर रही है।"

प्रतिक्रियावादी लोगों का प्रगतिवादी दर्शन के विरुद्ध एक बड़ा मिथ्या प्रचार यह भी है कि प्रगतिवादी लोग देश की प्राचीन संस्कृति के शत्रु होते हैं। ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वास्तव में प्रगतिवादी दर्शन में ऐसी कोई बात नहीं है जो प्राचीनता या संस्कृति (यदि वह नवीन संस्कृति नवीन विचारों के मार्ग में बाधक नहीं है) के लिये भयावह हो।

अतः संक्षेप में प्रगतिवादी कलाकार की विशेषतायें निम्नांकित हैं:—

१—प्रगतिशील दर्शन को जिसने जीवन में रमा लिया हो और उसका प्रत्येक शब्द उसे अभिव्यक्त करता हो।

२—जो साहित्य में सामाजिक चेतना को वाणी देता हो—व्यक्तिगत धारणाओं को नहीं।

३—जन-कल्याण जिसके साहित्य की भावभूमि हो।

४—समाजवादी—समाज-व्यवस्था में जिसका साहित्य• योग देता हो।

५—सामन्तवादी, पूँजीवादी, आतंकीवादी, विचार-धारा की बुराइयों से जो परिचित हो और जिसके साहित्य की प्रत्येक पंक्ति उपरोक्त विचार-धाराओं के मूल पर कुठाराघात के सदृश हो।

६—जिसका साहित्य जनवादी शक्तियों को संयुक्त होने की प्रेरणा देता हो।

७—जिसका साहित्य प्रगतिशील एवं वैज्ञानिक मार्क्सवादी विचार-धारा से प्रेरणा ग्रहण करता हो।

८—जो कला को कला के लिये नहीं जीवन के लिये समझता हो और युग के अनुकूल साहित्य सृजन करता हो।

९—जो प्रतिक्रियावादी तथ्यों के समन्वय की बात न कह कर उनके विनाश की बात कहता हो।

१०—जो फ्रॉयडवादी आदि वैयक्तिक एवं कल्पित विचारों को असामाजिक समझता हो।

११—जो सर्वहारा वर्ग की समस्याओं को ही अपने काव्य का शृंगार समझता हो और पूँजीवादी जाल से बचने के लिये उनकी चेतना को प्रबुद्ध करता हो आदि।

हिन्दी का प्रगतिशील काव्य एवं कवि—

प्रगतिवाद के आरम्भ का काल राजनैतिक उथल-पुथल का काल था। विश्व के पराधीन देश, विदेशी शासकों के जुए को उतार कर फेंक देने के लिये बेचैन थे और विश्व का एकमात्र समाजवादी तथा जनवादी व्यवस्था का देश रूस किसी देश के लिये आकर्षण, किसी के लिये आश्चर्य और किसी के लिये प्रेरणा का विषय बना हुआ था। अंग्रेजों के विरुद्ध बात कहनेवाले को भारतवासी अपना भाई समझते थे। रूस भारत में अंग्रेज़ी प्रभुत्व के विरुद्ध था। अतः भारत के शिक्षित वर्ग में रूस की व्यवस्था के प्रति प्रशंसा और उस देश के लिये यदि आदर का दृष्टिकोण था तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। अपने देश को प्रेम करनेवाले कवियों का हृदय अंग्रेजों की दासता के अपमान से तिलमिला रहा था। अतः वे अपने काव्य में दो बातों की माँग कर रहे थे कि या तो हमारा देश स्वतन्त्र हो जाये (माखनलाल चतुर्वेदी)—

या फिर यह सारा संसार ही नष्ट हो जाय और रह जाए नाश! केवल महानाश !!

"—नियम और उपनियमों के बन्धन टूक-टूक हो जायें।
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जायें॥
नाश! नाश! हा महानाश !! की प्रलयकरी आँख खुल जाए।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ....... ....॥ —'नवीन'

इसलिये आरम्भिक काल के तथाकथित प्रगतिवाद की विशेषतायें समझ लेनी चाहिये:—

१—कवि किसी अलौकिक उपाय द्वारा पराधीनता से मुक्ति चाहता है।

२—नाश! और महानाश !! का आह्वान करते समय उसके समक्ष भ्रम एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ता अधिक है—कोई राजनैतिक कार्यक्रम कम।

३—इस काल के अधिकांश कवि मूलतः गांधीवादी हैं जो प्रगतिवाद को दर्शन के रूप में नहीं अपना पाए। गांधी के सत्य और अहिंसा उनके हृदय को आश्वस्त नहीं कर सके, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उन कवियों का विशृंखल काव्य चीत्कार है। जिस बात का वे राजनैतिक रूप से विरोध नहीं कर सके उसको अपने काव्य में उन्होंने अस्पष्ट किन्तु उग्र अभिव्यक्ति दी। क्रान्ति के आह्वान करनेवाले कवियों में प्रधान थे—

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, 'दिनकर' आदि। किन्तु यह स्मरणीय है कि इनमें से प्रत्येक कवि व्यक्तिगत रूप से गांधीवादी था। इन कवियों के समक्ष जीवन या राजनीति के प्रति कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं था, केवल भावात्मक दृष्टिकोण था जिसने लक्ष्य प्राप्ति में सहायता से अधिक भ्रम का सृजन किया। स्वयं गांधीजी का नेतृत्व इस भावात्मक एवं अवैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिये उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। गांधीजी का राजनीति के प्रति वही दृष्टिकोण था जो कि छायावादी कवियों का जीवन के प्रति था। एक ने राजनीति में लक्ष्य को कम महत्त्व दिया, साधन को अधिक, दूसरे ने जीवन को कम महत्त्व दिया, जीवन की छाया (भ्रम) को अधिक। इसीलिये राजनैतिक

असफलताओं ने गांधीजी को नियतिवादी होने के लिये विवश कर दिया और छायावादी कवियों को पलायनवादी होने के लिये। अपने "छायावाद जिन्दा है" नामक लेख में कामेश्वर शर्मा इस पर प्रकाश डालते हैं—

"जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण न तो गांधीवाद ने अपनाया था, न छायावाद ने; दोनों ही हृदय की भावना पर अधिक विश्वास रखते थे, मस्तिष्क के चिन्तन पर कम! दोनों में ही तर्क का अभाव था; दोनों ही उच्च मध्य वर्ग की छाया में पल रहे थे। एक की प्रतिनिधि संस्था ताता-बिड़ला के आश्रय में कार्य कर रही थी, दूसरे के प्रतिनिधि कवि कालाकाँकर के राजमहल और महादेवप्रसाद के प्रकाशन-गृह में जीवनयापन कर रहे थे।"

गांधीवादी भावना से ओतप्रोत ये क्रान्तिकारी कवितायें एक सीमा तक ही प्रगतिशील थीं। कुछ लोगों का कथन है कि "बहुत से लोग 'प्रगतिवाद' को फैशन समझ कर कविता करने लगे थे, हृदय के उद्रेक से नहीं।" फिर यह फैशन का आरोप किस युग पर नहीं लगाया जा सकता, एकसी कविताओं की जहाँ प्रचुरता दीखे वहीं यह आरोप लगाया जा सकता है—वीरगाथा काल, भक्ति काल, रीति काल सभी पर। परन्तु यह एक ग़लत तथ्य है—एक भ्रमपूर्ण निष्कर्ष है।

इस प्रकार की रचनाओं से केवल एक ही उचित निष्कर्ष निकलता है। कवि अपने युग की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह अपने युग का प्रतिनिधि होता है। प्रगतिवाद का काल राजनैतिक, सामाजिक, रूप से ऐसा काल था कि कोई भी कवि प्रगतिवाद के अतिरिक्त असामयिक विषयों पर लेखनी चला कर अपने आपको समाज के समक्ष हीनचेतना के रूप में उद्घाटित नहीं करना चाहता था। यह ठीक है कि कुछ कवि प्रगतिवाद से पलायन कर गये किन्तु यह प्रगतिवाद का दोष न होकर उन्हीं का अपना बुद्धि-चांचल्य है। राजनीति में भी ऐसे अवसरवादी व्यक्तियों की कमी नहीं है किन्तु अवसरवादिता के लिए व्यक्ति विशेष ही दोषी ठहराये जाते हैं—विचार-धारा नहीं। गाँधी की प्रतिमा को हृदय में धारण कर जो कवि युग व 'प्रगति' के संघर्ष क्षेत्र में उतरे थे उनको दो टूक हो जाने से झुक जाना अच्छा लगता था, वे समन्वयवाद के समर्थक रहे। गाँधीवाद समन्वयवाद है। 'पन्त' का नाम इस प्रसंग में लिया जा सकता है।

कवि 'पन्त—

इसमें संदेह नहीं प्रगतिवादी विचारधारा का 'पन्त' ने हिन्दी में सर्वप्रथम बौद्धिक स्पर्श किया। विश्व-व्यवस्था में चूड़ान्त परिवर्तन करने वाले इस वैज्ञानिक दर्शन ने 'पन्तजी' को विस्मय विक्षुब्ध कर लिया और इस महान् विचारधारा के वाहक कार्लमार्क्स शिवरूप में दर्शन कर वे कृतकृत्य हो उठे। उनका स्फुति-पटु कंठ उनके विराट रूप का स्तुतिगान करने लगा —

"—धन्य मार्क्स चिरतमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर।
तुम त्रिनेत्र के ज्ञानचक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर।"

और उन्हें लगा कि साम्यवाद के साथ तो इस दुखी संसार में स्वर्णयुग पदार्पण कर रहा है।

"—साम्यवाद के साथ स्वर्णयुग करता मधुर पदार्पण।
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन॥"

मार्क्सवादी विचार-धारा के पवित्र स्पर्श से उनकी सभी मान्यतायें भ्रमरहित हो गईं और वे मानने लगे कि सभ्यता, शिष्टता, संस्कृति धर्म और नीति सभी थोथे शब्द हैं यदि उनका आधार जनहित नहीं है।

"—सभ्य शिष्ट औ' संस्कृत लगते मन को केवल कुत्सित।
धर्म नीति औ' सदाचार का मूल्यांकन है जनहित॥"

इतना ही नहीं पन्तजी को मार्क्सवाद का भौतिकवादी आधार भी उचित जँचा और वे मान गये कि भौतिक परिवर्तन ही आत्मिक परिवर्तन के कारण हैं—

"—कहता भौतिकवाद वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण।
भौतिक भव ही एकमात्र मानव का अन्तर्दर्पण॥
स्थूल सत्य आधार सूक्ष्म आधेय हमारा जो मन।
वाह्य विवर्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्तन॥

मार्क्सवाद के पारस स्पर्श से उनके सभी जड़भाव जैसे स्वर्ण में परिणत हो गये। वे मानव को विश्व की सर्वश्रेष्ठ कृति समझने लगे—

"—सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव तुम सबसे सुन्दरतम्।

निर्मित सब की मधु-सुषमा से,
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम।"

अब तक की परम्परा के विरुद्ध उन्होंने 'ताज' नामक कविता लिखी और 'ताज' को एक सामंतवादी अवशेष के रूप में देखने का साहस भी किया।

"—संग सौध में श्रृङ्गार मरण का शोभन।
नग्न क्षुधातुर वासविहीन रहें जीवित जन॥
मानव ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति।
आत्मा का अपमान प्रेत औ' छाया से रति॥"

पन्तजी ने समाज में नारी की दयनीय स्थिति का बौद्धिक अनुभव किया और समाजवादी अवस्था के अनुकूल नारी-स्वातन्त्र्य की माँग भी उन्होंने अपने काव्य में की।

"—सदाचार की सीमा जिसके तन से है निर्धारित।
पूत योनि वह मूल्य चर्म पर जिसका केवल अंकित॥
योनि नहीं है रे नारी वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो वह रहे न नर पर अवसित॥"

मैथिलीशरणजी गुप्त के 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है"—की तुलना में गाँव की स्थिति का अधिक यथार्थ और सच्चा चित्र पन्तजी ने दिया। उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि सामन्तवादी-पूँजीवादी व्यवस्था ने मकड़ी की भाँति जाल में मक्षिकावत् फँसे इन ग्रामों का जीवन शोषण कर लिया है और आज वे निर्जीव शवमात्र रह गए हैं।

"—यह तो मानव लोक नहीं रे यह है नरक अपरिचित।
यह भारत का ग्राम सभ्यता-संस्कृति से निर्वासित।
मानव की दुर्गति की गाथा से ओतप्रोत मर्मांतक।
सदियों के अत्याचारों की यह सूची रोमांचक॥"

किन्तु कोमल तन, कोमल मन-पन्त इस उग्रतप्त प्रगतिवादी धारा को अधिक समय तक सहन नहीं कर पाये और वे शीघ्र ही इससे बाहर निकल आये। जन-जीवन, जन-संघर्ष से दूर रहस्यवादी होने में ही उनको अपने जीवन की परम सार्थकता दिखाई दी। राजनीति के पलायनवादी

सैनिक-धर्म या दर्शन क्षेत्र के सिद्ध (?) संत अरविन्द का जीवन उन्हें आदर्श लगा। वे पश्चिम के जीवन वैभव और पूर्व के जीवन दर्शन के समन्वय के स्वप्न लेने लगें। जो पन्त कभी कहते थे - "है नहीं यन्त्र जड़ मानवकृत"—वे ही पन्त फिर विज्ञान विरोधी हो गये। पश्चिम के जीवन वैभव की ईप्सा तथा विज्ञान-विरोध के द्वारा विरोधी वस्तुओं के विचित्र समन्वय के द्वारा उन्होंने अपनी मानसिक आरोग्यता प्रकट की। पन्तजी के विचित्र विचारों के कुछ उद्धरण अप्रासंगिक न होंगे—

"मैं मार्क्सवाद का जनतन्त्र (आर्थिक दृष्टि से वर्ग सन्तुलित जनतन्त्र) तथा भारतीय जीवन-दर्शन को विश्व-शान्ति तथा लोक-कल्याण के लिए आदर्श संयोग मानता हूँ।

× × ×

"मार्क्सवाद का आकर्षण उसके खोखले दर्शन-पक्ष में नहीं—उसके वैज्ञानिक (लोकतन्त्र के रूप में मूर्त्त) आदर्शवाद में है, जो जनहित अथवा सर्वहारा का पक्ष है किन्तु उसे वर्गक्रान्ति का रूप देना अनिवार्य नहीं।

× × ×

"ऐसा नहीं समझना चाहिए कि स्थूल के संगठन से सूक्ष्म अपने आप संगठित हो जायगा जैसा कि आज का भौतिक दर्शन या मार्क्सवादी कहता है; अथवा सूक्ष्म में सामंजस्य स्थापित कर लेने से स्थूल में अपने आप संतुलन आ जायगा जैसा मध्ययुगीन विचारक कहता आया है। ये दोनों दृष्टिकोण अति वैयक्तकिता और अति सामाजिकता के दुराग्रहमात्र है।"

× × ×

स्तुति पटुता—"मैंने अपने समकालीन लेखकों तथा विशिष्ट व्यक्तियों पर समय-समय पर स्तुति ज्ञान लिखने में सुख अनुभव किया है।"

× × ×

"इसमें संदेह नहीं कि अरविन्द के दिव्य जीवन-दर्शन से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ। श्री अरविन्द आश्रम के योगयुक्त (अंतः संगठित) वातावरण के प्रभाव से, ऊर्ध्वमान्यताओं सम्बन्धी मेरी अनेक शंकायें दूर हुई हैं।"

× × ×

"मैं अरविन्द को इस युग की अत्यन्त महान् तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ। उनके जीवन-दर्शन से मुझे पूर्ण संतोष प्राप्त हुआ। उनसे अधिक व्यापक, ऊर्ध्व तथा अतलस्पर्शी व्यक्तित्व—जिनके जीवन-दर्शन में आध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धि अग्राह्य सत्य, नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मण्डित हो उठा है—मुझे दूसरा कहीं देखने को नहीं मिला। विश्व-कल्याण के लिए मैं श्री अरविन्द की देन को इतिहास की सबसे बड़ी देन मानता हूँ। उसके सामने इस युग के वैज्ञानिकों की अणुशक्ति की देन भी अत्यन्त तुच्छ है।"

गाँधी स्तुति (साथ में यन्त्र युग का विरोध भी)—

"—तुम माँसहीन तुम रक्तहीन,
हे अस्थि शेष ! तुम अस्थिहीन।
तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण ! हे चिर नवीन !
तुम पूर्ण इकाई जीवन की
जिसमें आसार अब शून्य लीन।
"जड़वाद जर्जरित जग में तुम
अवतरित हुए आत्मा महान्।
यन्त्राभिभूत युग में करने
मानव जीवन का परित्राण ॥"

× ×

आये तुम मुक्त पुरुष कहने,
मिथ्या जड़ बन्धन सत्यराम।
नानृतं जयति सत्यं माभैः,
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम ॥"

× ×

यन्त्रों (विज्ञान) का समर्थन—

"—वन्हि बाढ़ उल्का झंझा की भीषण भू पर,
कैसे रह सकता है कोमल मनुज कलेवर।
निष्ठुर है जड़ प्रकृति सहज भंगुर जीवित जन,
मानव को चाहिए यहाँ मनुजोचित साधन।"

× × ×

"—मानव जीवन प्रकृति संचलन में विरोध है निश्चित,
विजित प्रकृति को कर मानव ने की विश्व सभ्यता स्थापित।"

× × ×

"—दर्शन बौद्धिक-आनन्द भले देता हो किन्तु चित्त को अस्थिर कर देता है। भारतीय दर्शन ने मेरे मन को अस्थिर कर दिया।"

× × ×

आने वाला युग मनुष्य-समाज का वैज्ञानिक ढंग से पुनर्निर्माण करना चाहता है। ज्ञान को सदैव विज्ञानने वास्तविकता प्रदान की है—

"—आओ हे दुर्घर्ष वर्ष लाओ विनाश के साथ सृजन,
विशं शताब्दी का महान् विज्ञान ज्ञान ले उत्तर यौवन।"

आश्चर्य अज्ञान का पुत्र है। पन्तजी आश्चर्यमय हैं। अतः वे रहस्यवादी हैं। अतः यदि असंगतियाँ उनके साहित्य का आधार हैं तो वे क्षम्य हैं। वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि वे अपनी किसी कृति से संतुष्ट नहीं हैं फिर दूसरों से तो वे आशा ही क्या कर सकते हैं।

'निराला'—

'निराला' अपने समय के सबसे अधिक विद्रोही कवियों में से हैं। वे कवि के रूप में भी विद्रोही हैं। व्यक्ति के रूप में भी उन्होंने छन्द,भाषा, भाव सभी के विरुद्ध क्रान्ति की और जन-साधारण की ओर भी उनकी दृष्टि जाने से रुकी नहीं। 'निराला' की 'भिखारी' कविता एक प्रगतिवादी कविता है—

"—वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट—पीठ दोनों मिलकर हैं एक।
चल रहा लुकटिया टेक।
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को।
मुँह फटी-पुरानी झोली को फैलाता।
वह आता दो टूट कलेजे के करता.......।

× × ×

चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए।
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।"

'निराला' का जीवन स्वयं शोषण की एक लम्बी और करुण

कहानी है। समाज की जो व्यवस्था इतनी महान् प्रतिभा के अन्न-वस्त्र का भी प्रबंध नहीं कर सकी—जिसके कारण वह महान् कलाकार विक्षिप्त हो गया—ऐसी व्यवस्था का अस्तित्व किसी भी देश की संस्कृति के मुख पर एक बड़ा कलंक है।

इसके पश्चात् प्रगतिशील कवियों का वह दल आता है जिसने प्रगतिवाद को एक दर्शन के रूप में अपनाया और उसे अपनी कृतियों का सैद्धान्तिक आधार बनाया। इनमें प्रधान लेखक हैं—शंकर, शैलेन्द्र, केदारनाथ, नागार्जुन, अलीसरदार जाफरी आदि। इन सभी कवियों की कविता के उद्धरण देना यहाँ स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है।

आज प्रगतिशील साहित्य का सृजन उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध तथा आलोचना आदि सभी रूपों में हो रहा है।

प्रमुख उपन्यासकार—राहुल सांकृत्यायन, 'निराला', डा० रांगेय राघव, यशपाल, कृष्णचन्द्र।

प्रमुख आलोचक डा० रामविलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान, चन्द्रबलिसिंह

प्रमुख कहानीकार—डा० रांगेय राघव, यशपाल, कृष्णचन्द्र, गिरीश अस्थाना, राजेन्द्र यादव,

प्रमुख निबन्धकार—डा० रामविलास शर्मा, डा० रांगेय राघव, यशपाल, भगवतशरण उपाध्याय।

————

: : ६ : :

लोकनायक तुलसी

"विश्व की महान विभूतियाँ काल प्रसूत होती हैं"—यह एक विश्वविश्रुत सत्य है। जब थोथी रूढ़ियाँ, व्यर्थ के वाह्याडम्बर तथा समाज विरोधी तत्व अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं तब समाज की सुख, शान्ति, और व्यवस्था की रक्षा करने किसी न किसी महापुरुष का आविर्भाव होता है। यह ऐतिहासिक सत्य भी है। भगवान बुद्ध तथा शंकराचार्य ऐसे ही काल-पुरुष हैं उनके आविर्भाव का कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ ही थीं। कर्मकाण्ड अपनी चरम सीमा को पहुँच गया था; समाज भीत, त्रस्त तथा विक्षुब्ध था। वह अपने किसी अज्ञात उद्धारक की बाट जोह रहा था। इसी समय भगवान बुद्ध अपनी करुणा की पताका फहराते हुए आये और सारा देश उनके पीछे हो लिया। विश्व में महात्मा बुद्ध के सदृश लोकप्रिय व्यक्ति सम्भवतः दूसरा नहीं हुआ। उनके समय में ब्राह्मणों के पारमार्थिक नियम एवं धर्म की क्लिष्ट तथा अव्यावहारिक साधनायें जन-जीवन से दूर जारही थीं। भगवान बुद्ध ने धर्म का सम्बन्ध जीवन से जोड़ा और प्राणिमात्र के लिये अपने धर्म के द्वार उन्मुक्त कर दिये। 'सर्वभूतों को आत्मवत्' देखने के सिद्धान्त को शताब्दियों बाद व्यावहारिक रूप देने वाले वे प्रथम महान् पुरुष थे। भगवान बुद्ध के उपदेशों में एक ओर तो ब्राह्मणवाद की कटु आलोचना है, दूसरी ओर समाज हित के लिये समयानुकूल नवीन कार्यक्रम। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है:—"लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनायें, जातियाँ, आचार-निष्ठा और विचारपद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।" यह सत्य है कि समाज अपने संस्कारों को बिलकुल ही तो नहीं छोड़ सकता। लोक-

नायक सदैव जनता के प्राचीन संस्कारों का अधिकतम तथा उचिततम उपयोग करता है और नवीन बातों का सम्मिश्रण इस प्रकार करता है कि समाज उसे विदेशी या संस्कार-वाह्य न समझें। समाज का मनोविज्ञान ठीक-ठीक समझे बिना कोई व्यक्ति लोकनायक नहीं हो सकता, लोकशासक भले ही हो जाय। तलवार के बल पर विश्व-शासन की कल्पना करनेवाले—दम्भ भरनेवाले—लोकशासक कभी लोकनायक नहीं रहे। वे तो घृणा की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित रहते हैं, जनता उन्हें अपने हृदय में स्थान कदापि नहीं देती और उचित अवसर मिलने पर वह ऐसे भारस्वरूप शासकों को अपने ही पैरों से कुचल देती है। लोकशासक होने में बाहुबल तथा भौतिक-शक्ति-संचय प्राथमिक आवश्यकता हैं किन्तु लोकनायक होना इसके विरुद्ध है। लोकनायक तो अपने आप को समाज का तुच्छ सेवक समझता है किन्तु समाज उसके एक इंगित पर अपने प्राणों की आहुति देने सदैव तैय्यार रहता है। लोकनायक त्याग के द्वारा समाज के हृदय में स्थान प्राप्त करता है। समाज—प्रेम तथा श्रद्धा के सिद्धान्त पर उसे सादर बिठाता है। तैमूर, नादिरशाह आदि लोकशासक कहे जा सकते हैं लोकनायक नहीं। अकबर भी इन्हीं लोकशासकों की परम्परा में था। अकबर जिस काल का महान् लकशासक था, तुलसी उस काल के महानतर लोकनायक थे। भारतीय इतिहास ने बुद्ध के पश्चात सम्भवतः इतना महान् लोकनायक नहीं देखा।

अब इस युग पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है—जिसमें तुलसी ने जन्म लिया। हिन्दी-साहित्य में वह काल भक्तिकाल के आरम्भ के काल के नाम से समझा जा सकता है। इस समय तक सम्पूर्ण देश ने विदेशियों के समक्ष पूर्णतः आत्मसम्पर्ण कर दिया था। अब तो पराजय की एक मादक तन्द्रा, नैराश्य तथा विस्मृति के अतलगर्भ में ले जाकर उसके विनाश का मार्ग प्रशस्त कर रही थी। परिस्थितियाँ जटिलतम थीं जब तुलसी ने अपने जीवन के रंगमंच पर पैर रखा। तुलसी के समय का समाज आदर्शहीन था। हिन्दू समाज तो बल-वैभवविहीन था और मुसलमान समाज विलास-जर्जरित। विलासिता का विष समाज की शिराओं में फैलकर उसे हतप्रभ तथा निर्जीव बना रहा था। समाज में श्मशान जैसी शान्ति थी जो कि मृत्यु का प्रतीक थी। समाज का अधिकांश दरिद्र और अशिक्षित था। समाज

को जैसे दिग्भ्रम हो गया था; मार्गदर्शक कोई था नहीं। निराशा चढ़ती नदी की भाँति समाज में बढ़ रही थी। आशा के कूल दृष्टि से ओझल थे। कष्ट, दरिद्रता तथा भुखमरी के उस भीषण प्रवाह में जन-जीवन ऊबडूब कर रहा था। उसका मन-मस्तिष्क अवसन्न था और शरीर निर्जीव। गृहस्थधर्म का पालन करना असम्भव देख लोग सिर मुँड़ा-मुँड़ा कर सन्यासी हो रहे थे और इन घुटमुंड सन्यासियों से देश एक बार भर उठा था। उनकी संख्या की अधिकता समाज के लिए एक चिन्ता का विषय बन गई थी।

महान् मूर्ख और निरक्षर व्यक्ति वेदशास्त्रों को चुनौती देने लगे। वेदशास्त्रों की बातों को विकृतरूप में रख कर वे समाज पर छा जाने की चेष्टा करने लगे। असंख्य मत बरसाती दादुरों की भाँति उत्पन्न होकर ऐसी टर्र-टर्र करने लगे कि जब कल्याण की बातें स्वप्न हो गई। समाज विश्रृंखल लक्षहीन तथा पतित हो रहा था किन्तु ऐसी-विषम परिस्थितियों में भी एक युवा साधक समाज की गतिविधि के निरीक्षण में व्यस्त था। वह एक योग्य चिकित्सक की भाँति रूग्ण समाज की नाड़ी-परीक्षा आशान्वित हृदय से कर रहा था। उसका स्वयं का हृदय कराह रहा था किन्तु उसकी आँखों में अश्रु न थे और न हृदय में निराशा। वह अपना सर्वस्व त्याग कर समाज की सांस्कृतिक सम्पत्ति की रक्षा करने निकल पड़ा था। यही युवक जनगण-भाग्य विधाता हिन्दी कविता का अमर और गौरवपूर्ण इतिहास तरुण लोकनायक कवि तुलसी था।

किन्तु कब समाज ने अपने ही उपकारी महापुरुषों को प्रथम दृष्टि में पहचाना है। उसने किस युगनिर्माता का विद्रूप नहीं किया, उसकी अग्नि परीक्षा नही ली? तुलसी भी उसके अपवाद नहीं थे।

रूढ़ियों के विरोधी प्रत्येक महापुरुष को मुग्धमति जनता का कोपभाजन बनना पड़ता है—बनना पड़ा है और अधिकांश की तो इस गर्वमूढ़ जनता ने बलि तक ले ली; कृष्ण, ईसा, महर्षि दयानन्द, महात्मा गांधी आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। तुलसीदास को भी अपने विरोधियों का सामना करना पड़ा था और विरोधियों के हाथों पर्याप्त शारीरिक और मानसिक कष्ट भी मिले थे। तुलसी ने एक ही धर्म के अन्दर विषवाहक स्नायुओं की भाँति फैले इस साम्प्रदायिक नाड़ी-

चक्र को देखा था—समझा था। शिव के भक्त राम के शत्रु और राम के भक्त शैवों के घोर शत्रु। तुलसी से अज्ञान का यह निर्मम खेल नहीं देखा गया। कबीर की वाणियों में भी यह शैव-वैष्णव संघर्ष उभर कर आया है। उन्होंने लिखा है—"वैष्णव का छपरी भली नासाकत का बड़ गाँव।" तथा "साकत काली कामरी भावै तहाँ बिछाइ।" इससे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि शक्त विशेष रूप से घोर असहिष्णु थे। तुलसी ने घबरा कर इस विषमता और संघर्ष से मुख नहीं फेर लिया—असमर्थ की भाँति पलायन नहीं कर गए अपितु मानसिक एवं शारीरिक कष्टों की लहाछेह वर्षा में भी जीवन का मोह त्याग कर सच्चे लोकनायक की भाँति वे इस चौड़ी साम्प्रदायिक खाई को पाटने का सतत् प्रयत्न करते रहे। अपने 'रामचरितमानस' में जो कि विभिन्न विरोधों का समन्वय ग्रन्थ है उन्होंने राम तथा शिव को निकट लाने का अभूतपूर्व प्रयत्न किया। उन्होंने दोनों शक्तियों में अभेद की स्थापना की—'शिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहु मोहि न भावा" लिख कर तुलसी ने कितना महान् आश्चर्यजनक काम किया। उसकी सहज ही कल्पना नहीं की जा सकती। राम के मुँह से शिव की प्रशंसा सुन कर असहिष्णु तथा घोर संकीर्ण हृदय शैवों के मस्तक भी लज्जा से एक बार झुक गए। अपने समय का महान्तम रामभक्त तुलसी राम के मुँह से शिवजी की प्रशंसा करा सकता है—बिना यह सोचे हुये कि राम इस प्रकार महत्त्वहीन हो जायेंगे—यह उन (शैवों) के लिये कल्पनातीत और अश्रुतपूर्व बात थी। केवल एक वाक्य ने—अक्षरों की एक छोटी सी धारा ने शतशः वर्ष पुरातन वैमनस्य की भयंकर अग्नि को क्षण भर में शान्त कर दिया। इस एक पक्ति का ही महत्त्व लाखों श्रेष्ठ ग्रन्थों से अधिक है और इसके लेखक का......। केवल एक पंक्ति ने ही दो विरोधी शक्तियों को मित्रता और प्रेम को मधुर पाश में बाँध दिया।

उसी तुलसी की लोक-कल्याणकारी कविता धारा को जब कुछ लोग केवल स्वान्तःसुखाय के संकीर्ण कूलों में बाँधना चाहते हैं तब पता नहीं वे करना क्या चाहते हैं। ऐसे ही कुछ उर्वर बुद्धि विद्वान 'कला-कला के लिये' को तुलसी काव्य प्रासाद का आधार बताते हैं। जिस भावना के विरोध के लिये तुलसी ने अपना जीवन लगा दिया उसी भावना को तुलसी काव्य का आधार बना कर वे तुलसी के साथ न्याय करने का ढोंग भी करते हैं। उनके भ्रम का आधार तुलसी का निम्नांकित वाक्य है—"स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा

निबन्ध मतियजुल मातनोति ।" किन्तु उपरोक्त वाक्य लिखने का तुलसी का वास्तविक उद्देश्य क्या था इस पर उन्होंने कभी विचार नहीं किया ।

तुलसी के समय में ऐसे कवियों की कमी नहीं थी जो अकमण्य, पापागार, नीच राजाओं की प्रशंसा में आकाश-पाताल एक किया करते थे । बदले में उन्हें मिलते थे चाँदी के कुछ टुकड़े और राजा साहब द्वारा प्रशंसा के दो शुष्क शब्द । तुलसी से यह सब कुछ नहीं सहा गया, उनकी स्वाभिमानी आत्मा तिलमिला उठी । जो सरस्वती को जनता की थाती समझता हो वह उसका दुरुपयोग उन नर्क कीटों की प्रशंसा करके कैसे करता ? इस क्रान्तिकारी कवि के हृदय पर अपने समकालीन तथाकथित कवियों के इस आचरण से जो ठेस लगी होगी होगी, उसकी कराह इस पंक्ति से आज भी फूट रही है—

"—कीन्हे प्राकृत जन गुणगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ।"

उपरोक्त पंक्ति तुलसी के इस विचार को स्पष्टरूप से व्यक्त कर रही है कि जनवाणी किसी व्यक्ति विशेष के गुणगान में नहीं लगती, वह तो जन समाज के लिये मंगल का विधान करती है । क्या तुलसी की वाणी ने यह नहीं किया ? स्वान्तःसुखाय से उनका स्पष्ट अभिप्रायहै— जो किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं लिखी गई बल्कि जो सब जनहिताय, सब जनसुखाय है । तुलसी का अपना व्यक्तिगत सुख क्या था ? वह क्या वस्तु थी जिसके लिये वह अपने व्यक्तिगत सुखों की होली जला आए थे ? क्या वह समाज से भिन्न और कोई वस्तु थी ? अगर भिन्न वस्तु थी तो उनकी कविता में लोक-कल्याण की भावना सजल मेघों की भाँति इतनी घनीभूत क्यों है ? अपने को तुच्छातितुच्छ माननेवाला यह निरभिमानी युगान्तरकारी लोककवि पूरी रामायण अपने मानसिक विलास के लिये लिखता ! इतना बड़ा पाखण्ड उससे कैसे बन पड़ता ?

यही नहीं तुलसी ने अपनी इस बात को आगे और भी स्पष्ट कर दिया है, उन्होंने कह दिया है कि कविता का न अपने आप में कोई महत्व है न मूल्य; वह तो समाज सापेक्ष्य है । समाज के अभाव में कविता की कल्पना नितान्त हास्यास्पद नहीं तो और क्या है ? कविता के उद्देश्य और उसके कार्य-क्षेत्र के विषय में तुलसी से भी अधिक ज्ञान किसका होगा जिसने लिखा है—

'—मणि माणिक मुकता छवि जैसी ।

अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ॥
नृप किरीट तरुणी तन पाई ।
लहइ सकल सोभा अधिकाई ॥
तैसेइ सुकवि कवित बुध कहईं ।
उपजहिं अनत अनत सुख लहईं ॥"

इतना ही नहीं वे स्पष्ट लिखते हैं—

"करिति भणिति भूति भल सोई ।
सुरसरि सम सब कर हित होई ।"

दम्भ और अहं से जो कवि कोसों दूर था, जनभाषा हिन्दी के लिये जिसने संस्कृत—पाण्डित्य प्रदर्शन की सुविधा को ठुकरा दिया–उस निराभिमानी, लोकसेवक कवि को व्यक्तिवादी बताना उसके साथ कठोर अन्याय करना है ।

तुलसी ने समाज के जर्जर ढाँचे के प्रत्येक जोड़ को बड़े ध्यान से देखा था, उन्हें विश्वास था कि वे इसमें यथेष्ट सुधार कर सकेंगे। समाज की समस्यायें बहुमुखी थीं उनका समाधान कविता में वे कैसे करें ? पता नहीं इस सोच विचार में उन्होंने कितने दिन बिता दिये होंगे ? अचानक उनके मन-मस्तिष्क में कौंधा—राम का आदर्श चरित्र—लोक-संग्रही चरित्र—जो जीवन की अधिकाधिक समस्याओं तथा विविधताओं कोअपने चरित्र-वृत्त की परिधि में सहज ही ढँक सकता था। तुलसी का हृदय हर्ष-विभोर हो उठा। तुलसी ने अपने-मन मस्तिष्क की विशदता से समाज को मर्यादित कर उसे अपने हृदय-रस से इतना सींचा कि वह धन्य हो गया। उनके हृदय की भावुकता की अजस्र-धारा में– जो जन-कल्याण के लिये प्रवाहित हुई थी—उनके मस्तिष्क-बाँध ने गंदा जल मिलने से बचा लिया। जो भावुकता अपनी स्वच्छँदता में सीमाहीन होकर कभी-कभी समाज को विलास मदिरा पिला कर जर्जर कर देती है उसीको बुद्धि और विवेक की आँच पर तपा कर तुलसी ने जो काव्य-रसायन तैयार किया, वह समाज की निर्जीव शिराओं में नवीन रक्त का संचार कर उसे स्वस्थ बनानेवाला था। तुलसी-साहित्य की एक भी पंक्ति जन-कल्याण से वेसुध और सिथिल नहीं मिलती।

तुलसी ने समाज की सर्वाङ्गीण परीक्षा करके उसके रोग का

उचित निदान किया। तुलसी ने कृष्णभक्त कवियों की भाँति कृष्ण के सुदर्शन का दर्शन-पक्ष ही नहीं लिया अपितु कोटि-कोटि कामदेवों को भी लज्जित करनेवाले कुसुमादपि कोमल राम के हाथों में समाज की रक्षा के लिये वज्र से भी कठोर धनुष दे दिया। तुलसी के राम इस प्रकार जहाँ कुसुमादपि कोमल हैं वहाँ वज्रादपि कठोर भी। किन्तु समाज के समक्ष आचरण की मर्यादा का उदाहरण कौन रखेगा? इसीलिये राम शील के भी अवतार हैं। राम का चरित तो स्वयं काव्य तो है किन्तु इसमें तुलसी के कवि-कर्म की कठोर परीक्षा हो गई है। एक पंक्ति भी व्यर्थ होने पर उनके काव्य में कुरूपता का कलंक उत्पन्न कर सकती थी किन्तु वे न तो समाज में कुरूपता देखना चाहते थे और न अपने काव्य में ही। शील, शक्ति, सौंदर्य समन्वित लोकसंग्रही राम का चरित्र उन्होंने मार्मिक कलापूर्ण भाषा में खींचा है। तुलसी की कल्पना ने राम के चरित्र को इतना सजीव और पूर्ण बना दिया है कि विश्वसाहित्य के श्रेष्ठतम चरित्र उसकी ओर ईर्ष्या भरी दृष्टि से देख सकते हैं।

तुलसी दार्शनिक थे, समाज सुधारक थे और इन सबसे अधिक एक मनुष्य थे। कबीर आदि कवियों ने समाज के रोगगलित अंगों की चीर-फाड़ तो निष्ठुर हाथों से की किन्तु वे उस पर मरहम नहीं लगा सके। तुलसी का काव्य-समाज को चिढ़ाता नहीं, उसे शान्ति देता है। यह तो ठीक है कि सन्त साहित्य में ऐसा दूसरा व्यक्ति कबीर को छोड़ कर नहीं है जिसका अनुभव इतना परिपक्व हो और अन्तर्दृष्टि इतनी गहरी। किन्तु कबीर के "ढाई आँखर" की ओट में कुछ दुरात्मा अपना स्वार्थ-साधन करना चाहते थे। "अलख, अलख" की बाँग लगाने वाले ये निरक्षर सबाधू संख्या में भी कम नहीं थे। इनके समाज विरोधीरूप को तुलसी ने कुछ ही शब्दों में स्पष्ट कर दिया है—

—"नारिमुई घर सम्पति नासी।
मूँड़ मुड़ाइ भए सन्यासी॥"

इन कनफटे जोगियों की समाज-विरोधी बातें सुनते-सुनते तुलसी का हृदय पक गया था। अधिक 'अलख', 'अलख' सुनना उनके लिये असह्य हो उठा। वे रोष में कह उठे—

—"हम लखि हमहिं हमार लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखै राम नाम जपु नीच॥"

अभी तक समाज में भक्ति-प्रधान, ज्ञान-प्रधान, कर्म-प्रधान आदि भक्ति पद्धतियाँ प्रचलित थीं, किन्तु सब में अलग-अलग एकांगिता थी। कोई भी मार्ग इतना विस्तृत नहीं था कि उसे लोकधर्म कहा जा सकता। तुलसी ने ज्ञानभक्ति, और कर्म के उचित सम्मिश्रण से कल्याण का एक ऐसा राजमार्ग तैयार किया कि जिस पर लोकधर्म का रथ सरलतापूर्वक चल सकता था। उन्होंने ज्ञान और भक्ति का उचित समन्वय करते हुए कहा—

—"ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कुछ भेदा।
उभय हरहिं भवसम्भव खेदा।"

तुलसी समाज-हित के सजग प्रहरी थे। वे जानते थे कि समाज पर किस बात का क्या प्रभाव पड़ता है? अतः उनक पूरे साहित्य में एक भी ऐसी पंक्ति नहीं मिलेगी जो लोकविरोधी हो। शृंगार का जितना मर्यादित और लोकहितकारी रूप तुलसी में मिलता है, सम्भवतः विश्व-साहित्य में वह अभूतपूर्व है। वे सीता को राम का दर्शन, अँगूठी के नग में कराते हैं—आमने-सामने नहीं। इसी प्रकार जब ग्राम-वधुयें सीता से पूछती हैं कि "साँवरे से सखि रावरे को हैं" क्योंकि ये "चितै तुम त्यौं हमरो मन मोहें," तब 'तुमतौं' ने एक घटना होने से बचा ली नहीं तो मर्यादा की सीमायें टूट जातीं और समाज पर एक संकट उपस्थित हो जाता। "हमतौं" अगर "तुमतौं" के स्थान पर होता तो अश्लीलता की गंध उसमें से आने लगती परन्तु तुलसी ऐसा करते कैसे? वे समाज हित के प्रति उदासीन तो थे नहीं, वे तो समाज के सुधारक थे—रक्षक थे। तुलसी से पूर्व कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण का जो रूप प्रस्तुत किया था उसमें कृष्ण के मात्र रूप की आराधना थी और न तो वह संयत ही था और न मर्यादित ही। सूर जैसे प्रसिद्ध कवि के कुछ पद तो घोर अश्लील तक मिलते हैं जैसे—

"—झूठे मोहि लगावति ग्वारी।"
खेलत ते मोहि बोलि लियो है दोनों भुज भरि दीनी अकबारी।
अपने कुच मेरे कर धारत आप ही चोली फारी॥"

तथा

"—नीवी ललित गही यदुराई
जबहिं सरोज धरयौ श्रीफल पर तब यशुमति तहँ आई।"

तुलसी ऐसी पंक्तियों को कब सहन कर सकते थे। वे जानते थे कि समाज में पहुँचते-पहुँचते इन पंक्तियों पर से भक्ति का आवरण हट जायगा, वे रह जाँयगी मात्र अश्लील—समाज के लिये घातक। तुलसी का काव्य मानस और मस्तिष्क के समन्वय का सुपरिणाम है; वह भावुकता से ओत-प्रोत भी है और मस्तिष्क से संयमित भी। इसीलिये तो वह समाज के लिये बौद्धिक तीर्थ बन गया है। तुलसी शृंगार से बचे हैं। यह कहना अपने ही अज्ञान का प्रदर्शन करना होगा। शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग-शृंगार एवं वियोग-शृंगार का जितना मार्मिक वर्णन तुलसी ने किया—उसे जितनी पूर्णता तक उन्होंने पहुँचाया है, पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि अन्य कवि इस दिशा में उनके समक्ष बौने जैसे लगते हैं। वास्तव में हिन्दी में तुलसी का आविर्भाव एक सुखद आश्चर्यमयी घटना है। उनके व्यक्तित्व के समक्ष, अतीत और वर्तमान के सभी कवि निष्प्रभ हो जाते हैं। तुलसी ने भाव और भावाभिव्यक्ति की कला निर्जीव पुस्तकों से ग्रहण नहीं की थी अपितु प्रकृति के विशाल प्रांगण में खड़े होकर जन-जीवन से ग्रहण की थी, इसीलिये तो तुलसी साहित्य की प्रत्येक पंक्ति पाठक के मर्म को स्पर्श करती है। सीता के वियोग में राम की विवेकहीनता, वन के वृक्ष और लताओं से तथा मधुकर श्रेणी से सीता का पता पूछने की भावना न तो राम की दुर्बलता है और न कोई काव्यात्मक अस्वाभाविकता ही। परन्तु उस मानवीय दुर्बलता के पारस स्पर्श ने रामचरित का अंग-प्रत्यंग स्वर्ण की तरह चमका दिया है—उसे जन-मन के निकट ला दिया है। अगर राम का चरित्र पूर्णतः एक दैवीशक्ति का प्रकाशमात्र होता तो वह जन-मन के लिये केवल आश्चर्य का विषय हो सकता था, प्रेम का नहीं, श्रद्धा का नहीं, भक्ति का नहीं, जैसा कि वह आज है। शृंगार के अतिरिक्त अन्य सब रसों को भी तुलसी ने पूर्णता तक पहुँचा दिया।

तुलसी ने राम के चरित्र का ऐसा पूर्णरूप समाज के समक्ष रखा कि वह लोक-धर्म का विधायक तो था ही, साथ ही समाज की कोमल वृत्तियों का भी सहज ही में आलम्बन हो सका। वह कृष्ण की रूप-ज्वाला की भाँति केवल उत्तेजक ही नहीं था अपितु अपने सौंदर्य की शीतलता से जन-मन को शीतल करने वाला और भावनाओं का परिष्कारक भी था।

—"तुलसी ने जिन परिस्थितियों में जन्म लिया था उनमें वे अपना कोई एक संदेश दे सकते—यह सम्भव नहीं था। ऐसी हठ-धर्मी उन्होंने की भी नहीं। उनका तो उद्देश्य था समाज में फैली असंख्य विरोधी बातों का सुन्दर समन्वय। तुलसी ने समाज की व्यवस्था पर प्रहार भी किया है किन्तु उनकी प्रहारक भुजा कबीर की भाँति निर्मम और केवल विध्वंसक नहीं है अपितु निर्माण का कठिन कार्य भी उसी ने किया है। विरोधी बातों का समन्वय कोई सरल काम नहीं है, उसमें व्यक्ति की प्रतिभा, व्यावहारिक बुद्धि और नैतिक शक्ति की अग्नि-परीक्षा एक साथ हो जाती है। दुर्बल स्नायुयों का व्यक्ति इतनी परस्पर विरोधी बातों का भार एक साथ वहन नहीं कर सकता किन्तु जन कल्याण के लिये उन्होंने उस पाप-पर्वत को अपने मस्तक पर धारण किया, लोक-कल्याण के लिये जीवन कष्टों के विष को वे शंकर की भाँति पान कर गए किन्तु समाज को उन्होंने बदले में अमृत ही दिया। कितनी विरोधी बातों का तुलसी ने समन्वय किया है—यह देख कर उनकी शक्ति पर आश्चर्य होता है। तुलसी का सम्पूर्ण जीवन और काव्य-समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, भाषा (हिन्दी) और संस्कृत का समन्वय, ज्ञान और भक्ति का समन्वय, प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय, इस प्रकार उनका 'रामचरित-मानस' आद्यांत एक समन्वय काव्य ही है। यही कारण है कि 'राम-चरितमानस' केवल काव्य ग्रन्थ ही नहीं अपितु धार्मिक ग्रंथ भी है। जनता का साधारण व्यक्ति भी जो साहित्य विशिष्टताओं—रस, छंद, अलंकार—आदि से अनभिज्ञ होता है इसका पाठ करता और काव्य के उच्चकोटि के प्रेमी तथा साहित्य-शास्त्र के दिग्गज विद्वान् भी इस अगाध मानस में आकंठ मग्न होते हैं और उसकी थाह नहीं पाते। इतना सरल—साथ ही इतना गंभीर ग्रंथ शायद ही विश्व-साहित्य में इसके जोड़ का कोई ग्रन्थ निकले। इसीलिये तो श्रद्धावनत समाज तुलसी की दैवी काव्य-शक्ति पर मुग्ध होकर उन्हें असाधारण ज्ञान-गुण-सम्पन्न लोकोत्तर-मानव या देवता समझता है। किन्तु जैसा प्रसादजी ने लिखा है कि देवत्व पूर्ण मनुष्यत्व ही है—इसके अनुसार तुलसी भी पूर्ण मनुष्य ही थे। तुलसी का 'रामचरितमानस' आज भी धर्म और युग के बीच की कड़ी है। तुलसी ने मानस में परिस्थितियों का सार्वदेशिक और सार्वकालिक हल रख दिया है। 'मानस'

भावुकता का अगाध सागर भी है और समाजिक समस्याओं का अद्भुत कोष भी।

कुछ शब्द तुलसी की भाषा के विषय में लिखना विषयान्तर न होगा। तुलसी भावों के अगाध सागर थे और भाषा के प्रकाण्ड पण्डित। अपने समय में प्रचलित ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं में उन्होंने काव्य प्रणयन किया और इस प्रकार दोनों भाषाओं का चरम उत्कर्ष प्रकट किया। तुलसी-साहित्य का यदि गंभीर अध्ययन किया जाय तो अनायास ही यह पता लग जायगा कि अवधी में 'रामचरितमानस' लिखने के लिये उन्हें कितने पाखण्ड पंडितों और रूढ़ि रोगग्रस्त जीर्णबुद्धि विद्वानों से लोहा लेना पड़ा था। युग की पुकार को तुलसी के कानों ने सुना था फिर युगवाणी में उसे मूर्तरूप देने से उन्हें कौन रोक सकता था? असंख्य बाधाओं और आपत्तियों की अवहेलना करते हुए तुलसी ने अपना संदेश युगवाणी में दिया। तुलसी का यह क्रान्तिकारी कार्य है। उनकी यह भावना जनता के प्रति उनके अदम्य प्रेम को प्रकाश में लाती है, नहीं तो कौन इस बात को अस्वीकार करेगा कि तुलसी अपना 'रामचरितमानस' संस्कृत में भी लिख सकते थे? परन्तु उन्होंने ऐसा किया नहीं, क्यों? उत्तर संक्षिप्त है जन-कल्याण और जन-प्रेमवश। तुलसी ने काव्यारम्भ से पूर्व बीस वर्ष भाषा की अविराम साधना में व्यतीत किये थे। सरस्वती को अपने कंठ में योग्य आसन देने के लिए उन्होंने कितनी कठिन तपस्या की होगी—आज हम इसकी केवल कल्पना कर सकते हैं परन्तु इतना सब जानते हैं कि इस विरक्त, सर्वत्यागी, लोकसंग्रही कवि की सरस्वती एक दिन प्रेमचेरी हो गई और तुलसी कवियों की उस अग्रणी पंक्ति में आ बैठे जिनके विषय में प्रसिद्ध है—

—"बचन बस जासु सरस्वती करत काज मनौ निज भामिनी।"

अपने समय में प्रचलित सभी काव्य पद्धतियों (१ वीरगाथा काल की छप्पय पद्धति, २—कबीर की दोहा पद्धति, ३—जायसी की दोहा-चौपाई पद्धति, ४—विद्यापति तथा सूरदास की गीत पद्धति, ५—गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया पद्धति) में सफलतापूर्वक रचना करके तुलसी ने अपने अद्वितीय भाषाधिकार का अपूर्व परिचय दिया। तुलसी उन महाकवियों में से हैं जिनके काव्यग्रन्थ लक्षणग्रन्थों के आधार बनते हैं। अतः लक्षणग्रन्थों के आधार पर उनके काव्य में गुण-दोष खोजना

कम हास्यास्पद नहीं है। भावानुकूल भाषा तो तुलसी-काव्य की आधार-भूमि ही है और उदात्त भावनाओं के अबाध नृत्य के लिए तुलसी-काव्य अपूर्व क्रीड़ाभूमि है। तुलसी-काव्य-कल्पतरु की छाया में श्रान्त और व्यथित हिन्दी भाषा-भाषियों को क्या नहीं मिला? यदि हिन्दी में केवल तुलसी होते और तुलसी का भी केवल 'रामचरितमानस' ही होता तब भी हिन्दी अन्य समृद्ध भाषाओं के लिए आशीर्वाद का हाथ ऊँचा कर सकती थी। वे तुलसी निश्चय ही कवि-समाज के भव्य किरीट हैं जिन्होंने हिन्दी के मस्तक को ऊँचा किया है।

'निराला' ने थोड़े से शब्दों में महान् कवि तुलसी के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—

"—देश काल के शर से विंध कर
यह जागा कवि अशेष छविधर
इसका स्वर भर भारती मुखर होएँगी;
निश्चेतन निज तन मिला विकल
छलका शत्-शत् कल्मष के छल
बहती जो, वे रागिनी सकल सोएँगी।"

हुआ भी ऐसा ही। इतिहास इस बात का साक्षी है कि तुलसी के कल्याण-राग के समक्ष उस समय की सम्पूर्ण कल्मष रागिनियाँ अचानक स्तब्ध हो गईं।

———

:: १० ::

कलाओं का वर्गीकरण

(कला का मूल—कला क्या है ? कलाओं के वर्गीकरण का आधार—वर्गीकरण के विभिन्न रूप—कलापक्ष—अनुभूतिपक्ष—कला की सफल अभिव्यंजना—असफल अभिव्यंजना—धार्मिक कला—लौकिक कला—प्राचीनकला — आधुनिककला — उपयोगीकला — ललितकला—दृश्य—श्रव्य)।

कला का मूल—

आदि मानव क्या जानता था कि जिस वस्तु से उसका परिचय तक न था, उसकी भावी संतति कालान्तर में उसी वस्तु को जीवन में प्राप्त सफलताओं की सूची में शीर्षस्थान देगी। आरम्भ में मनुष्य प्रकृति के सुरम्य वातावरण को देख कर आश्चर्य चकित हुआ होगा। "छाया और प्रकाश के नव रूप-रंग उसके मानसपटल पर भी अंकित होते रहे होंगे। मानव आरम्भ में प्रकृति के इन आश्चर्यमय व्यापारों को देख कर इनके विषय में सोचने के लिये भी विवश हुआ होगा और जाने किन अस्फुट शब्दों में, किस अस्पष्ट भाषा में उसने अपने उन आश्चर्यों को व्यक्त किया होगा ? मनुष्य की आदि भाषा चाहे आज उसकी संतति के लिये उतनी महत्त्वपूर्ण न हो किन्तु भाषा के क्रमिक विकास में उसका ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। सृष्टि में सर्वप्रथम भाषा का उद्भव कैसे हुआ विज्ञान इस विषय में लगभग मूक है। जो बातें कही जाती हैं वे तर्कपूर्ण कम हैं, विवादास्पद अधिक। मनुष्य ने हार कर भाषा को दैवी-वरदान मान लिया। सृष्टि के आरम्भ से आज तक मनुष्य भाषा की अनवरत साधना करता आ रहा है। आज तो वह सूक्ष्म, अव्यक्त एवं मानसिक भावनाओं को भी वह सफलतापूर्वक व्यक्त कर लेता है किन्तु एक समय था जब ये बातें उसके लिये स्वप्नवत् थीं। किन्तु मानव-हृदय के भाव-प्रभंजन ने एक दिन भाषा का मार्ग ग्रहण किया और

तब से आज तक वह इसी मार्ग से बह रहा है। मनुष्य इस व्यापक प्रकृति की गोद में दुःख-सुख आदि अनेक भावों का अनुभव करता है और उसे वह व्यक्त भी करना चाहता है। यह एक मनोवैज्ञानिक बात है कि मनुष्य जो कुछ अनुभव करता है उस पर मनन करता है और जो कुछ मनन करता है उसे वाणी का रूप देना चाहता है।

मनोभावों को व्यक्त करने की यही अदम्य भावना कलाओं की जननी है।

कुछ संस्कृत होने पर मनुष्य अपनी भावनाओं को विविध रूप में व्यक्त करने लगा, कभी गाकर, कभी चित्र बनाकर, कभी मनोरंजन के लिये मिट्टी या पत्थर को कोई विशिष्ट सार्थक रूप देकर। कालान्तर में भावों को व्यक्त करने के ये विविध प्रकार भिन्न-भिन्न कलाओं के नाम से अभिहित हुए।

कला क्या है?

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने कला की परिभाषा देते हुए लिखा है—"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही है कला"। वास्तव में कुशलतापूर्वक जो बात व्यक्त की जाती है वही कला है। जहाँ व्यक्त करने में कुशलता का जितना अभाव होगा कला का भी उतना अभाव होगा। मनुष्य प्रतिदिन जिस भाषा में बात करता है, जो बात करता है—वह सब कला नहीं कही जायगी क्योंकि अभिव्यक्ति की कुशलता का वहाँ सर्वथा अभाव रहता है। लकड़ी का एक लट्ठा, रंगों का एक ढ़ेर, अनगढ़ पत्थरों का एक समूह ये सब 'कला' नहीं है क्योंकि उपरोक्त वस्तुयें 'कौशलहीन' हैं। बढ़ई, लट्ठे को छाँटकर, साफकर तथा उसका निरन्तर परिष्कार कर अपनी कुशलता से उसे किसी भव्य एवं विचित्र वस्तु के रूप में बदल देता है। इसी प्रकार शिल्पकार अनगढ़ पत्थरों को अपने अथक परिश्रम और आश्चर्यजनक कौशल द्वारा विचित्र सुन्दर सार्थक रूपों में बदल देता है—ठीक इसी प्रकार मनुष्य की दैनिक व्यवहार की भाषा अक्षरों का एक अनगढ़ ढेर है कवि उन्हीं अक्षरों को परिष्कृत एवं संस्कृत करके तथा अपने कौशल द्वारा उन्हें विचित्र क्रम से सजा कर उन्हें विचित्र और आश्चर्यजनक भाव व्यक्त करने में समर्थ बना देता है—यही उसकी कला है। वास्तव में निरन्तर परिष्कार और सुन्दर संघटन का नाम ही कला है। अब प्रश्न उठ सकता है कि शब्दों में व्यक्त की गई

प्रत्येक बात, अक्षरों में लिखा गया प्रत्येक विषय कला है ? उत्तर स्पष्ट है; नहीं ! जहाँ परिष्कार और कौशलयुक्त संघटन नहीं वहाँ कला नहीं। इसी कसौटी पर कसने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन, विज्ञान, भूगोल, रेखागणित, गणित आदि कला के अन्तर्गत नहीं आते क्योंकि ये वस्तुयें विश्लेषण-प्रधान होती हैं। नियम निर्धारण या वस्तुओं का वर्गीकरण इनका लक्ष्य रहता है। उपरोक्त वस्तुयें बात तो कहना चाहतीं हैं पर बात कहने में कुशलता को महत्त्व नहीं देतीं अर्थात् कुशल अभिव्यक्ति इनका विषय नहीं होता। कला और विज्ञान में वही अन्तर है जो एक कलाकार और वैज्ञानिक में है। कलाकार अपने हृदय पर पड़े किसी वस्तु के सम्मिलित तथा समग्र प्रभाव को कुशलता से व्यक्त करता है जबकि वैज्ञानिक खण्ड-खण्ड करके उसका निरीक्षण करता है और इस प्रक्रिया का अंकन निश्चित संकेत बना कर अपने समझने के लिये कर लेता है। कुशलता का तो उसमें अभाव रहता ही है साथ ही वह समाज को ध्यान में रखकर समाज के हितार्थ भी उसे नहीं लिखता। जहाँ अभिव्यक्ति में कुशलता नहीं हैं वहाँ कला नहीं है। इसलिये अभिव्यक्ति मात्र अर्थात् अभिव्यंजना की सभी सम्भव प्रणालियाँ तो कला नहीं हैं, हाँ, अभिव्यंजना जहाँ 'कौशल' के आलिङ्गन में आबद्ध है—वहाँ वह 'कला' अवश्य है।

कलाओं के वर्गीकरण का आधार—

अब प्रश्न उठ सकता है कि जब अभिव्यंजना के विविध प्रकार हैं अर्थात् कला अनेकों रूपों में व्यक्त होती है तो क्या कला का वर्गीकरण सम्भव है ? क्या हम कला को अलग-अलग भागों में बाँट सकते हैं ?

वास्तव में कला तो एक अखंड अभिव्यक्ति है ! कलाकार के हृदय में जो भाव-लहरियाँ उठती हैं। उनका विभाजन असंभव है। इस लिये तात्विक दृष्टि से कला का विभाजन संभव ही नहीं है। प्रसिद्ध कलाशास्त्री क्रोचे का भी यही कथन है कि न तो दार्शनिक दृष्टि से, न तात्विक दृष्टि से और कला की दृष्टि से कला का विभाजन सम्भव है। कला का विभाजन करने का जो प्रयत्न किया गया है वह व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् अभिव्यंजना के विभिन्न प्रकारों के आधार पर। सभी कलाकार किसी भी वस्तु के प्रभाव को अपने हृदय में एक ही प्रकार से ग्रहण करते हैं अर्थात् प्रभाव पड़ने के तो

अनेक ढंग नहीं हैं। हाँ, हृदय पर पड़े प्रभाव को व्यक्त करने के विभिन्न ढंग हैं। उन व्यक्त करने के प्रकारों के आधार पर कलाओं का व्यावहारिक वर्गीकरण किया जा सकता है। कोई कलाकार अपने हृदयस्थ भाव को एक चित्र के रूप में व्यक्त करता है, कोई कविता के रूप में तो कोई गा कर, इत्यादि। कलाओं का वर्गीकरण लोगों ने विभिन्न प्रकार से करने का प्रयत्न किया है लेकिन इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि ये वर्गीकरण तात्विक नहीं है, केवल व्यावहारिक और इस प्रकार के वर्गीकरण का आधार है कला के वे अनिवार्य उपकरण (चित्र, काव्य, संगीत आदि) जिनके माध्यम से कलाकार अपने हृदयोद्गारों को मूर्तरूप देता है।

वर्गीकरण के विभिन्न रूप—

कुछ लोगों ने कला का विभाजन इस प्रकार किया है:—
१—कलापक्ष, २—अनुभूति पक्ष।

कलापक्ष के अन्तर्गत वे भौतिक उपकरण आते हैं जिनके द्वारा अनुभूति को मूर्तरूप देने का प्रयत्न किया गया है। इसे कला का रूप पक्ष भी कह सकते हैं।

अनुभूति पक्ष के अन्तर्गत वह अनुभूति या भाव आते हैं जिनको कलाकार ने अपने हृदय में अनुभव किया है और उन भावों को दर्शक या पाठकों को तद्वत (ठीक उसी तरह—जैसा उसने स्वयं अनुभव किया है) अनुभव कराना चाहता है और यहाँ वह कलापक्ष का या रूप पक्ष का सहारा लेता है अर्थात् अपने हृदयस्थ भावों को यथाशक्ति प्रभावात्मक रूप में व्यक्त करने के लिये सर्वाधिक उपयुक्त और श्रेष्ठतम मार्ग (श्रेष्ठतम भौतिक साधन या उपकरण) ढूँढता है।

दूसरे लोग इसी विभाजन को इस प्रकार रखते हैं:—

१—कला की सफल अभिव्यंजना, २—कला की असफल अभिव्यंजना।

अर्थात् कुछ कलाकृतियाँ तो ऐसी हैं जो कलाकार के हृदयस्थ भाव को तद्वत व्यक्त करने में और पाठक या द्रष्टा के हृदय पर वही प्रभाव उतना ही डालने में समर्थ हैं जैसा और जितना कलाकार ने अनुभव किया था। ऐसी कृतियाँ कला की सफल अभिव्यंजना के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं।

कुछ कलाकृतियाँ ऐसी हैं जो पाठक को या दर्शक को अभिभूत करने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् कलाकार अपने भावों को किसी कमी के कारण (चाहे वह कमी उसकी अनुभूति पक्ष की हो या रूप पक्ष की अर्थात् भौतिक उपकरण सम्बन्धी) तद्वत व्यक्त करने में समर्थ नहीं हुआ है। ऐसी कलाकृतियाँ कला की असफल अभिव्यंजना के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं (लेकिन यह स्पष्ट है कि यह वर्गीकरण भी कला का नहीं है बल्कि उसके भौतिक उपकरणों का है जिनके माध्यम से कला मूर्तरूप ग्रहण करती है)।

आरम्भ में मनुष्य के अन्तर में किसी वस्तु का अनुभव एक बार में होता था और मनुष्य उसको व्यक्त दूसरी बार में करता था अर्थात् अनुभव करने और व्यक्त करने की दो प्रक्रियायें अलग-अलग होती थीं किन्तु कालान्तर में मनुष्य इस विषय में इतना अधिक सिद्धहस्त हो गया कि उसने अनुभव करने और व्यक्त करने से सम्बन्धित दूरी को मिटा लिया और वह इन दोनों प्रक्रियाओं को अब अलग-अलग नहीं अनुभव करता। मनुष्य के किसी भाव को अनुभव करने और व्यक्त करने के सम्बन्ध में मनुष्य की यह कितनी महान् प्रगति है—यह आज ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। धीरे-धीरे मनुष्य ने अपनी अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति को चरम सीमा पर पहुँचा दिया और वह इस बात में समर्थ हो गया कि साधारण सी अनुभूति को भी वह असाधारण एवं चमत्कारयुक्त रूप में व्यक्त करने लगा और इस प्रकार कला में रूपपक्ष का असाधारण उत्कर्ष हुआ। हिन्दी-साहित्य इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। कुछ कवि तो एसे मिलते हैं जिनका अनुभूतिपक्ष (भावपक्ष) अत्यंत उत्कृष्ट तथा असाधारण है। किन्तु रूपपक्ष (कलापक्ष) अपेक्षाकृत निर्बल। कबीर और जायसी इसके अच्छे उदाहरण हैं, विशेष रूप से कबीर। वे आध्यात्मिक साधना की गहराइयों को वाणी देना चाहते हैं किन्तु उनकी 'बानी' अटपटी हो गई है। वे अपने भावावेश को भाषा के बन्धन में सफलतापूर्वक नहीं बाँध सके हैं और उन्होंने यह कह के संतोष कर लिया "गूँगे केरी सर्करा खाये और मुसकाई"। हिन्दी में कुछ कवि इसके विपरीत ऐसे भी मिलेंगे जिनका अनुभूतिपक्ष अत्यंत कमजोर था और अपनी इस कमी को ऐसे कवियों ने अपने रूप पक्ष के द्वारा छिपाने का प्रयत्न किया। महापण्डित केशव ऐसे कवियों में प्रधान हैं। आधुनिक युग में पन्त का नाम ऐसे कवियों में लिया जा सकता है; इन लोगों

के पास कहने को कुछ नहीं है किन्तु भाषा की असाधारण साधना में वे अपनी अनुभूतिपक्ष की कमी को छिपा लेते हैं। उदाहरणार्थ, पता नहीं पन्तजी निम्नांकित पंक्तियों में भाषा के आडम्बर में क्या उत्कृष्ट भाव व्यक्त करना चाहते हैं—

"—हों कर्म निरत जन राग विरत
रति विरति व्यतिक्रम भ्रम ममता
प्रतिक्रिया क्रिया साधन अवयव
है सत्यसिद्धि गति यति क्षमता"

यदि केवल पन्तजी ही इसका भाष्य कर सकें तो फिर इन पंक्तियों के लिखने का प्रयोजन ही क्या है ?

हिन्दी में कुछ ऐसे कवि भी हैं जिनका अनुभूतिपक्ष और कला-पक्ष समान रूप से पुष्ट हैं। तुलसी और सूर ऐसे ही महान् कवियों में से हैं। वे अपने हृदयोद्गारों को उत्कृष्ट और चमत्कारपूर्ण भाषा में व्यक्त कर सके हैं। रीतिकालीन (और कुछ छायावादी) कवियों की भाँति उन्होंने भाषा का खिलवाड़ अपना विषय नहीं बनाया। वे सूक्ष्म मानवीय भावनाओं को भाषा के धरातल पर मूर्तरूप देने में सफल हो सके। आधुनिक कवियों में 'प्रसाद' का नाम अविस्मरणीय है। अमूर्त मानवीय भावनाओं को असाधारण रूप से सशक्त भाषा के आवरण में वे मूर्त कर सके और उनका उत्कर्ष इस दृष्टि से मानव इतिहास में भाषा और भाव के चरम उत्कर्ष का सीमान्त चिन्ह है। अव्यक्त एवं अमूर्त चिन्ता की भावना को 'प्रसादजी' ने किस प्रकार भाषा के कोमल पाश में कस कर उसके रूप को सब के लिये सुलभ कर दिया है—

"—ओ चिन्ता की पहली रेखा
अरी विश्व वन की व्याली
ज्वालामुखी स्फोट भीषण
प्रथम कंप सी मतवाली
हे अभाव की चपल बालिके
री ललाट की खल लेखा !
हरी-भरी सी दौड़-धूप ओ !
जल-माया की चल रेखा !
इस ग्रह-कक्षा की हलचल री
तरल-गरल की लघु लहरी

जरा अमर जीवन की और न,
कुछ सुनने वाली बहरी !
अरी व्याधि की सूत्रधारिणी !
अरी आधि, मधुमय अभिशाप
हृदय गगन में धूमकेतु सी
पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप।"

इसी प्रकार काम तथा आशा आदि जैसी अमूर्त भावनाओं को वे अपनी भाषा द्वारा मूर्तरूप दे सके हैं ?

कुछ कलाकार ऐसे भी हैं जिनका न तो अनुभूति पक्ष पुष्ट है और न रूप पक्ष। ऐसे कलाकारों को कलाकार ही कैसे कहा जाय?

इस प्रकार कलाकृतियों के विभिन्न अंगों के पुष्ट-अपुष्ट होने की दृष्टि से उनको निम्नांकित भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१—अनुभूतिपक्ष पुष्ट पर रूपपक्ष अपुष्ट।
२—रूपपक्ष अपुष्ट अनुभूतिपक्ष पुष्ट।
३—अनुभूतिपक्ष, रूपपक्ष दोनों पुष्ट।
४—अनुभूतिपक्ष, रूपपक्ष दोनों दुर्बल।

इसी प्रकार कलाओं का वर्गीकरण (१) धार्मिक कला (२) तथा लौकिक कलाओं के रूप में भी किया जाता है। उस वर्गीकरण का समाज पर कोई स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ता। कला को धर्मिक रूप देने के कारण लोगों का दृष्टिकोण कला के प्रति श्रद्धा का हो जाता है। कलाकृतियाँ उनके लिये पूज्य हो जाती हैं। उदाहरण के लिये कुछ देवताओं की सुन्दर मूर्तियाँ ली जा सकती हैं। समाज-श्रद्धा या पूज्यभाव के कारण इस प्रकार की मूर्तियों के कलात्मक महत्त्व को हृदयंगम नहीं कर पाता। इसी प्रकार काव्य-कला की कुछ उत्कृष्ट पुस्तकें आज मात्रधार्मिक ग्रन्थों के रूप में बदल गई है। उदाहरणार्थ, रामायण तथा महाभारत। जो व्यक्ति रामायण तथा महाभारत की काव्य-कला से परिचित तक नहीं हैं वे उसका मनमाना भाष्य करके धर्मान्ध समाज से अपनी जीविका कमाते । इस प्रकार श्रद्धा या पूजा का भाव कृतियों के कलात्मक सौंदर्य पर एक आवरण डालकर उनके वास्तविक सौन्दर्य को कम ही करता है। भारतवर्ष में सामाजिक पर्वो पर अभी तक हर गृह में कुछ न कुछ चित्र बनाने का प्रचलन है। आरम्भ में इसका मूलरूप

चित्रकला का रहा होगा और सम्भव है कला प्रिय लोगों ने समाज में सामूहिक रूप से चित्रकला का स्तर अत्यन्त ऊँचा उठा दिया हो किन्तु हुआ अन्त में यह कि लोगों का दृष्टिकोण उन चित्रों के प्रति पूजा का होगया और उनका ध्यान उन चित्रों के कलात्मक सौंदर्य से हट कर उनकी धार्मिक महत्ता पर केन्द्रित हो गया। फल यह हुआ कि चित्रों में जो कभी कलात्मक सौंदर्य रहा होगा, वह धीरे-धीरे कम होने लगा और अन्त में उनके विकास की दुर्भाग्यपूर्ण समाप्ति हुई। भोंड़े-भोंड़े चित्रों के रूप में जो आज केवल पूजा या उपासना के प्रतीक भर रह गए हैं। कलात्मक वस्तुओं का प्रणयन सामाजिक स्तर पर हो—कलात्मक वस्तुयें पूरे समाज के लिये बोधगम्य हो और सहज सुलभ हों, यह तो अत्यन्त अच्छा है किन्तु कला में अलौकिकता के तत्व का मिश्रण करके कला के प्रति दृष्टिकोण को विकृत कर लिया जाय, यह शुभ नहीं।

इसी प्रकार कलाओं का एक वर्गीकरण प्राचीन कला तथा आधुनिक कला के रूप में भी किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी कलाओं का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया गया है परन्तु सच तो यह है कि ये सभी वर्गीकरण किसी भी दृष्टि से निर्दोष नहीं हैं। कलाओं का तात्विक वर्गीकरण तो सम्भव ही नहीं है। कारण, कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है। हाँ, उसकी अभिव्यक्ति के वाह्य उपकरणों के पारस्परिक अन्तर को लेकर भले ही उसका वर्गीकरण किया जाय।

इस दृष्टि से किये गये वर्गीकरणों में कलाओं का निम्नांकित वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक एवं उपयुक्त प्रतीत होता है—

१—उपयोगी कला।
२—ललित कला।

ललित कला पाँच भागों में विभक्त है:—

१—वास्तु कला, २—मूर्ति कला, ३—चित्रकला, ४—संगीत कला, ५—काव्य कला।

यह वर्गीकरण भी अनुभूति को आधार मान कर नहीं किया गया है अपितु वाह्य उपकरणों को ही आधार मानकर किया गया है।

ललित कलाओं को भी सुविधा के लिये दो वर्गों में बाँटा जा सकता है :—

१—दृश्य—अर्थात् वे कलाकृतियाँ जिनका सौन्दर्य दर्शक देखने के द्वारा ही हृदयंगम करता है। वास्तुकला, मूर्तिकला, तथा चित्रकला इसके अन्तर्गत रखी जा सकती हैं।

२—श्रव्य—जिन कलाकृतियों के चरम सौन्दर्य को सुनकर हृदयंगम किया जा सके। इसके अन्तर्गत संगीत कला तथा काव्य कला ली जा सकती हैं।

(विशेष—काव्य के जो दो भेद दृश्य और श्रव्य हैं, यहाँ उनसे प्रयोजन नहीं है)

उपयोगी कलायें वे कलायें हैं जिनका वास्तविक उद्देश्य सौन्दर्य की सृष्टि करना नहीं अपितु भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति भर है। परन्तु चूँकि आज मानव इतना संस्कृत एवं सभ्य हो चुका है कि वह प्रत्येक वस्तु सौन्दर्य के माध्यम से ही ग्रहण करना चाहता है। इस लिये वह अपने उपयोग की वस्तुओं जैसे मेज, कुर्सी, जूता, वस्त्र, तलवार, चाकू, चम्मच, सवारियाँ इन सभी को केवल उपयोगी ही नहीं अपितु यथेष्ट सुन्दर भी देखना चाहता है। किन्तु उपयोगी कलायें उस मानसिक एवं सूक्ष्म सौन्दर्य भावना से रहित हैं जो कि ललित कलाओं में पाई जाती हैं। यह वर्गीकरण भी व्यावहारिक ही है, तात्विक नहीं क्योंकि ललित कलायें भी उपयोगी हो सकती हैं और उपयोगी कलाओं को भी अधिकाधिक लालित्ययुक्त किया जा सकता है।

———

: : ११ : :

सर्वोत्कृष्ट कला—काव्य कला

(भूमिका, कलाओं के आधार, उत्कृष्टता की कसौटी, उपयोगी कलायें, ललित कलायें : वास्तु कला, मूर्ति कला, संगीत कला, काव्य कला, उपसंहार)।

भूमिका—

कला मनुष्य के संस्कृत मन-मस्तिष्क की उपज है। वे जातियाँ जो आज तक असभ्य हैं जिन्होंने समय के साथ प्रगति नहीं की है उनके लिए विश्व के लिए 'वरदान-स्वरूप' 'कला' शब्द आज तक अज्ञात है। जब कला मनुष्य के मानसिक एवं भौतिक वैभव को प्रकट करती है तो उसकी उत्कृष्टता तो स्वयं सिद्ध है। सभी कलायें इस दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। परन्तु प्रश्न उठ सकता है कि उत्कृष्ट कलाओं में भी सर्वोत्कृष्ट कला कौन-सी है ?

कलाओं के आधार—

मनोभावों को व्यक्त करने की अदम्य लालसा ही कलाओं की जननी है और जिन भौतिक उपकरणों के माध्यम से ये मनोभाव व्यक्त होते हैं, वे विशिष्टरूप में परिणित भौतिक उपकरण ही विभिन्न कलाओं के नाम से अभिहित होते हैं। प्रत्येक कला कुछ न कुछ भौतिक उपकरणों की अपेक्षा करती है। बिना भौतिक उपकरणों के कला मूर्तरूप ग्रहण नहीं कर सकती। वास्तव में ये भौतिक उपकरण ही जो कला के आधार हैं उसकी उत्कृष्टता अथवा सर्वोत्कृष्टता के निर्णय में सहायक होंगे।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है। कला का मूल, अनुभूति भी अखण्ड है। कलाकार अपनी कलाकृति द्वारा अपने मानसिक जगत् को प्रत्यक्ष—साकार—कर देना चाहता है।

लेकिन वह अपने मानसिक सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने के लिए स्थूल एवं भौतिक वस्तुओं की आवश्यकता का अनुभव करता है। जितने कम भौतिक उपकरणों से वह काम चला सके स्पष्ट है, उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही अधिक प्रभावशालिनी एवं मार्मिक होगी। जितने ही अधिक भौतिक उपकरणों का आश्रय कलाकार लेगा अधिक समय लगने के कारण उसकी मानसिक अनुभूति भी कुण्ठित हो जायगी परिणामस्वरूप उसकी कलाकृति भी इतनी प्रभावशालिनी एवं मार्मिक नहीं होगी जितनी उत्कट और तीव्र उसकी अनुभूति थी। वास्तव में संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि मानसिक अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति में जितना ही कम अन्तर होगा कलाकृति उतनी ही उत्कृष्ट होगी।

जहाँ भौतिक उपकरण कला के लिए अपरिहार्य (अनिवार्य) हैं, वहाँ उनकी न्यूनतम आवश्यकता ही कला को उत्कृष्ट बनाने का कारण बनती है। जिस कलाकृति में भौतिक उपकरणों की जितनी ही कम आवश्यकता होगी कलाकृति उतनी ही उत्कृष्ट होगी।

उत्कृष्टता की कसौटी —

विद्वानों ने कला की उत्कृष्टता के परीक्षण के लिये यही कसौटी दी है कि भौतिक उपकरण जिस कला में जितने कम हों वह कला उतनी ही उत्कृष्ट है। उसी कसौटी पर कलाओं को कस कर हम उनके उत्कृष्ट होने के निर्णय करेंगे।

एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिये कि मनुष्य ने आदि काल से लेकर आज तक जो उन्नति की है उसको 'पन्तजी' के शब्दों में कहा जा सकता है—

—"पशुता का पंकज बना दिया तुमने मानवता का सरोज।"

मनुष्य ने अपनी पाशविक भावनाओं पर विजय पाने का बराबर प्रयत्न किया है और अपने अन्तर में उदात्त मानसिक भावनाओं का निरन्तर विकास किया है। सौन्दर्य को समझने और उसकी प्रशंसा करने की योग्यता उसने प्राप्त की है। सौन्दर्यप्रियता की यह भावना मनुष्य को जहाँ पशुओं से प्रथक करती है, वहाँ सृष्टि में उसकी उच्चता का माप भी बताती है। सच तो यह है—सौन्दर्यप्रियता और सुविधा की दो मुख्य प्रवृत्तियों ने ही आदमी को पशुता की पंक से निकाल कर निरन्तर प्रवहमान मानवता की पवित्र गंगा के किनारे

लाकर खड़ा कर दिया है और आज वह मनुष्य है। कलायें मनुष्य के मानसिक सौन्दर्य को ही प्रत्यक्ष करती है। सुविधा के लिए सौन्दर्य को हम दो भागों में बाँट सकते है:—

१—भौतिक सौन्दर्य।

२—मानसिक सौन्दर्य।

मनुष्य के पारस स्पर्श ने विश्व की अनगढ़ और कुरूप धातुओं को सौन्दर्य के स्वर्ण में परिणत कर दिया है। सुन्दरता से रहित वस्तुयें मनुष्य को आज ग्राह्य नहीं इसलिए अपनी दैनिक उपयोग की वस्तुओं से भी मनुष्य आज असुन्दरता मिटाने के लिये तुल गया है। प्रकृति के इस महानप्राणी (मनुष्य) ने विश्व में असुन्दरता के प्रति अपनी शैशवावस्था से ही जिस महान् आन्दोलन का आरम्भ किया था वह एक दिन विश्व मुख से कुरूपता को समाप्त करके ही रहेगा। विश्व के मुख से कुरूपता के कलंक को मनुष्य के अतिरिक्त और धोएगा भी कौन ? मनुष्य की इस सौन्दर्यप्रियता का सम्बन्ध ललित और उपयोगी कलाओं से घनिष्ठ है।

सर्वप्रथम उपयोगी कलाओं पर ही विचार किया जाय—

हमारे दैनिक उपयोग की वस्तुयें ही जब सुन्दर और आकर्षक बनादी जाँय तो वे उपयोगी कलायें कहलायेंगी। उदाहरण के लिये हम जिस शैया पर सोते हैं, जिस मेज़ पर बैठ कर लिखते हैं या खाते हैं जिस कप में चाय पीते हैं, जिन पात्रों में खाना खाते या पानी पीते हैं, जो वस्त्र हम शरीर रक्षा के लिये पहनते हैं, वे जब सुन्दरता के माध्यम से ग्रहण किये जाते हैं तो 'कला' नाम से अभिहित होते हैं। पलंग के पाए लकड़ी के सादे डंडे भी हो सकते हैं और सुन्दर चित्रकारी द्वारा अंकित भी, इसी प्रकार कप, चीनी का सादा बर्तन भी हो सकता है (जो बिना पॉलिश के भी हो) और उसके ऊपर सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों का अंकन भी सम्भव है। परन्तु एक बात ध्यान देने की यह है कि ये दैनिक उपयोग की वस्तुयें हमारे हृदय की भावनाओं को न तो उद्बुद्ध करती हैं और न तीव्र—उनसे तो केवल हमारी बाह्य सौन्दर्यवृत्ति-मात्र चरितार्थ होती है। उपयोगी कलायें मानसिक सौन्दर्य से हीन होती हैं। अतः उनका हृदय या आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध है केवल हमारे चर्म चक्षुओं से। इसके अतिरिक्त भौतिक साधनों (उपकरणों) की आवश्यकता उपयोगी कलाओं में सबसे अधिक

होती है इसलिये ये कलायें निकृष्ट (नीची) कोटि की कलायें मानी जाती हैं ।

ललित कलायें स्थूल उपकरणों से बिल्कुल ही रहित हों ऐसी बात नहीं है । वास्तु कला जैसी ललित कला में तो स्थूल (भौतिक) उपकरण किसी भी उपयोगी कला से अधिक होंगे किन्तु दोनों में मुख्य अन्तर यही है कि उपयोगी कलाओं की चरम सार्थकता उनके उपयोग में है और ललितकलाओं की चरम सार्थकता उनके सौन्दर्य, विशेषरूप से मानसिक सौन्दर्य में है । कोई भी कितनी ही सुन्दर मेज़ कभी भी केवल देखने का विषय नहीं बनती । वह तो उपयोग की वस्तु पहले होती है सुन्दरता की बाद में । इसी प्रकार ललित कला सुन्दरता की वस्तु पहले होती है और हो सकता है उसकी भौतिक उपादेयता बिल्कुल ही न हो ।

तो ललित कलाओं में भी इसी आधार पर उनके उत्कृष्ट एवं निकृष्ट होने का निर्णय किया जायगा ।

यहाँ कुछ उन सामान्य बातों का उल्लेख किया जाता है जो सभी कलाओं के मूल में विद्यमान हैं ।

१—सभी कलाओं के लिये किसी न किसी प्रकार के भौतिक आधार की आवश्यकता होती है ।

२—सामाजिक नेत्र और कानों के माध्यम से कलाकृतियों के सौन्दर्य को ग्रहण करता है ।

३—कलाकार अपने हृदय की अनुभूति को तद्वत व्यक्त करने के लिये और दर्शक या पाठक के हृदय में वही भाव उतने ही तीव्र रूप में जागृत करने के लिये जितने उसके हृदय में थे, कुछ भौतिक उपकरणों की सहायता लेता है । इन भौतिक उपकरणों के अभाव में भौतिक आधार व्यर्थ हो जायेंगे; उदाहरण के लिये एक मूर्तिकार के लिये भौतिक आधार पत्थर के अतिरिक्त भौतिक उपकरण हथौड़ा और छेनी की भी आवश्यकता है, जिसके अभाव में पत्थर मूर्ति में कभी भी परिणत नहीं हो सकेगा । इसी प्रकार एक चित्रकार बिना तूलिका एवं रंगों आदि के भौतिक उपकरणों के वस्त्र या कागज़ के भौतिक आधार का उपयोग नहीं कर सकेगा।

सामान्यरूप से यही बात सभी ललित तथा उपयोगी कलाओं के साथ हैं। सबसे पहले आवश्यकता होती है एक भौतिक आधार की फिर भौतिक उपकरणों की जिनके द्वारा भौतिक आधार को कला में परिणत किया जाता हैं। अतः कला के उत्कृष्ट एवं निकृष्ट होने में निम्नांकित बातों का ज्ञान ही निर्णायक सिद्ध होता है।

१—कला का भौतिक आधार क्या है?

२—वे भौतिक उपकरण क्या हैं जिनकी सहायता से कलाकार भौतिक आधार को कला का रूप देता है?

३—कलाकार अपनी कला में किस अनुभूति को मूर्त करना चाहता है?

४—वह अनुभूति व्यक्त होने पर—कलाकृति का रूप ग्रहण करने पर—पाठक के हृदय पर कितना प्रभाव डालने में समर्थ होती है?

उपरोक्त बातों का ध्यान रखते हुये अब ललित कलाओं अर्थात् वास्तु कला, मूर्ति कला, चित्र कला, संगींत कला, तथा काव्य कला पर विस्तार में विचार किया जाय। विचार करने का यह क्रम अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है कि निकृष्ट कला से उत्कृष्ट कला की ओर चला जाय क्योंकि निकृष्ट कला के भौतिक उपकरणों की प्रचुरता उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर कलाओं में उत्तरोत्तर कम होती चली जायेगी और इस प्रकार उनका आपस का अन्तर अधिक स्पष्ट और व्याख्या अधिक सुबोध हो जायेगी।

सर्वप्रथम वास्तु कला को लिया जाय—

वास्तु कला—

(१) वास्तुकला के भौतिक आधार क्या हैं? तथा भौतिक उपकरण क्या हैं? ललित कलाओं में सबसे अधिक भौतिक आधार एवं भौतिक उपकरणों की आवश्यकता यदि कहीं पड़ती है तो वास्तु कला में। ईंट, चूना, गारा, सैकड़ों मजदूर, भारी-भारी पत्थर, पत्थरों को तोड़ने-फोड़ने, उन्हें उठाने, जमाने आदि के विभिन्न यंत्र (भौतिक उपकरण)।

(२) कलाकार ईंट, पत्थर और चूने के ढेर के द्वारा क्या भाव

व्यक्त करना चाहता है ? प्रत्येक देश की एक भिन्न संस्कृति होती है, भिन्न धार्मिक और सामाजिक मान्यतायें होती हैं। कला इनसे तटस्थ नहीं रह सकती। तो इन ईंट, पत्थर और चूने के ढेर को एक विशिष्ट क्रम से सजाने भरसे ही किसी देश की संस्कृति मूर्त हो उठती है। उदाहरण के लिये भारतीय-मन्दिर, मुसलमानी मस्जिद और ईसाइयों के गिर्जाघर को बिना नाम बताये हुये भी कोई भी दर्शक उनमें अन्तर कर लेगा और मन्दिर, मस्जिद और गिर्जाघर की सुगठित आकृतियाँ दर्शक के मन पर से भिन्न-भिन्न प्रभावों की सृष्टि करती हैं।

(३) दर्शक के हृदय पर क्या प्रभाव पड़ता है और कितना ?

यही प्रश्न वास्तुकला के महत्त्व का निर्णय करता है। पहली बात तो यह है कि जिस कलाकार के हृदय में मंदिर, मस्जिद या गिर्जाघर का प्रथमतः जन्म होता है और उस भावना को मूर्तरूप देकर उसमें वह कुछ मानसिक भावनाओं की प्रतिष्ठापना भी करना चाहता है। वास्तुकला में उसके लिये बहुत कम अवकाश इसलिए है कि कलाकार स्वयं मन्दिर, मस्जिद या गिर्जाघर का निर्माण नहीं कर सकता। उसे ऐसे व्यक्तियों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है जो उसके हृदयस्थ भावों या अनुभूति से बिलकुल अपरिचित हैं। अतः कलाकार को हृदय की अनुभूति भौतिक साधन एवं काल के अति विस्तार के कारण एकरस नहीं रह पाती। दूसरी बात मज़दूर, राज आदि कलाकार की भावनाओं को मूर्तरूप दे कैसे सकते हैं ? हो सकता है मज़दूर, अपने घर के कष्ट से पीड़ित हो, राज किसी कारणवश उदासीन हो। कहने का सारांश यह कि वहाँ कार्य करनेवाले किन्हीं दो व्यक्तियों की भावनायें भी एक-सी नहीं हैं फिर इतनी बड़ी इमारत में मानसिक भाव इतनी बाधाओं के होने पर मूर्त कैसे हों ? भवन

इसमें तो सन्देह नहीं कि मन्दिर, मस्जिद, गिर्जा, भवन, कुटिया आदि के कहने से विभिन्न चित्र मस्तिष्क में आते हैं किन्तु कभी-कभी विभिन्न देशों की वास्तुकला का एक ही भवन में मिश्रण रहता है। उसे केवल वास्तुकला के विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं। साधारण व्यक्ति नहीं। (वास्तुकला में विभिन्न देशों की कला के मिश्रण के उदाहरण भारत में सहज उपलब्ध हैं। हमारे यहाँ प्राचीन काल में यूनानी-भारतीय कला का मिश्रण वास्तुकला में मिलेगा। मुग़ल काल में, फ़ारसी, अरबी तथा भारतीय कला का मिश्रण मिलेगा। आजकल पाश्चात्य

वास्तु कला का मिश्रण यहाँ की वास्तु कला में मिलेगा)।

लेकिन फिर भी मन्दिरों के गगनचुम्बी कलश, मस्जिदों के उन्नत बुर्ज आदि दर्शक के हृदय पर एक विशिष्ट प्रभाव डालते हैं। ईंट, पत्थर के ढेर को एक भव्य-भवन के रूप में परिणत होते देख किसे आनन्द न होगा? तो यह स्पष्ट है कि आनन्द का गुण तो वास्तुकला में भी होता है। उसमें मानसिकता भी होती है, किन्तु भौतिक साधनों की प्रचुरता के कारण वह अन्य ललित कलाओं से निकृष्ट है क्योंकि दर्शक के हृदय में भवन को देख कर भाव इतने उद्बुद्ध और तीव्र नहीं होते जितने अन्य ललित कलाकृतियों को देख कर।

मूर्ति कला—

(१–२) पत्थर, मिट्टी, धातु या लकड़ी के टुकड़ों को एक विशिष्ट मूर्ति में परिवर्तित कर देना ही मूर्ति कला का विषय है। इसमें तो सन्देह नहीं कि छेनी, हथौड़ा आदि अनेक भौतिक उपकरणों की की आवश्यकता उपरोक्त वस्तुओं को मूर्ति में परिणत करने में होती है। किन्तु वास्तु कला में प्रयुक्त भौतिक उपकरणों की तुलना में ये भौतिक उपकरण बहुत कम होते हैं। इसलिए मूर्ति कला में वास्तु कला की अपेक्षा कम भौतिक आधार तथा उपकरणों की आवश्यकता होती है।

(३) मूर्ति में कलाकार कभी केवल सौन्दर्य, कभी मानसिक आह्लाद, कभी करुणा आदि को ही उभारना चाहता है। इस विषय में यह बात स्मरणीय है कि विभिन्न देशों की विशिष्ट संस्कृतियाँ मूर्तियों के गठन और उनके समग्र प्रभाव में अन्तर उत्पन्न कर देती हैं। उदाहरणार्थ, भौतिक-शारीरिक गठन—अपने सुन्दरतम रूप में—यूनानी प्रतिमाओं में देखने को मिलती है। शरीर के विभिन्न अंगों के उचित अनुपात के साथ वे प्रतिमायें शारीरिक स्वास्थ्य का उत्कृष्टतम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। संक्षेप में भौतिक आकार एवं गठन में विश्व में वे अद्वितीय हैं। किन्तु शारीरिक गठन के अतिरिक्त कोई मानसिक प्रभाव वे द्रष्टा पर नहीं छोड़तीं। किन्तु भारतीय मूर्तियों की यह विशेषता है कि यहाँ के कलाकारों ने मूर्तियों में शारीरिक गठन के प्रदर्शन से अधिक मानसिक भावों के प्रस्फुटन का ही ध्यान अधिक रखा है। फलतः भारतीय मूर्तियाँ जहाँ शारीरिक स्वास्थ्य का उत्कृष्ट उदाहरण

प्रस्तुत नहीं करतीं वहाँ वे मानसिक भावों को स्पष्ट करने में अवश्य अत्यन्त सफल हुई हैं। उदाहरणार्थ, भगवान बुद्ध की जितनी भी मूर्तियाँ मिलेंगी उन सबमें उंगलियाँ वक्राकार, नेत्र अर्धोन्मीलित हैं तथा शारीरिक अवयव वाह्य सौन्दर्य को स्पष्ट करनेवाले नहीं होंगे किन्तु पत्थर की मूर्ति में से भी उनके मुख से एक आभा निकलती दिखाई देगी, एक आह्लाद और आत्म-संतोष का सौन्दर्य उनके मुख के चारों ओर विकीर्ण होता दिखलाई देगा। यह विशेषता भारत की अपनी है और इस दशा में कोई भी देश उसकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकता। मानसिक सौन्दर्य या आह्लाद का कलाओं के माध्यम से प्रस्फुटन। यह तो सभी भारतीय कलाओं की सामान्य विशेषता है।

(४) मूर्ति कला वास्तु कला से कहीं अधिक मानसिक भावों को व्यक्त करने में समर्थ है। बात यह है कि मूर्तिकार जो किसी निश्चित भाव को या अनुभूति को मूर्ति के माध्यम से व्यक्त करना चाहता है स्वयं ही मूर्ति को गढ़ने का कार्य करता है। इसमें वास्तु कला की भाँति ऐसे श्रमिकों की आवश्यकता नहीं पड़ती जो स्वयं उस अनुभूति से शून्य हैं जिसका अनुभव कलाकार कर रहा है।

प्रतीकात्मकता भारतीय मूर्ति कला की बहुत बड़ी विशेषता है। उदाहरणार्थ, यहाँ मूर्तिकार उँगलियों को कमल की पंखुड़ियों की भाँति बना देगा तथा आँखें भी अर्ध-प्रस्फुटित कमल की भाँति लगेंगी। वास्तव में ये प्रतीक दर्शक के हृदय पर एक गहरा प्रभाव डालते हैं, ऐसा प्रभाव जो शारीरिक गठन के प्रभाव से भिन्न, अधिक ऊँचे स्तर का तथा अधिक गहरा होता है। कमल, कोमलता का प्रतीक है। पत्थर जैसी वस्तु में कोमलता दिखाने का और कोई उपाय नहीं है। कल्पना की जाय कि कोई मूर्तिकार एक सुन्दर रमणी गढ़ता है। रमणी का प्रत्येक अवयव वह पत्थर या धातु आदि में गढ़ेगा परन्तु ये वस्तुयें तो स्वयं इतनी कड़ी और परुष होती हैं कि पुरुषोचित कठोरता भले ही उनके द्वारा व्यक्त की जा सके, नारी सहज कोमलता उसके द्वारा व्यक्त करना कठिन है। यह कमी इस प्रतीक पद्धति से पूरी हो जाती है। धातु या प्रस्तर की वक्र उंगली पाठक की दृष्टि के समक्ष कमल का चित्र प्रस्तुत कर देती है क्योंकि कमल, कोमलता का प्रतीक है। अतः द्रष्टा सरलतापूर्वक उन कठोर प्रस्तर प्रतिमाओं में भी कमल की कोमलता का दर्शन कर सकता है किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि मूर्ति बनाने में समय की, धैर्य की और

शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता है। इन बाधाओं के कारण कलाकार की हृदयस्थ अनुभूति एकरस रह सके यह सम्भव नहीं है इसलिये मूर्ति कला उन कलाओं से कम प्रभावशालिनी होती है जिनमें भौतिक आधार एवं उपकरणों की अपेक्षाकृत कम आवश्यकता होती है।

चित्र कला—

१-२—चित्र—वस्त्र, काग़ज या भीतियों पर बनाये जा सकते हैं। इनके बनाने के लिये ब्रुश, तूलिका, एवं रंगों आदि की आवश्यकता होती है। इन्हीं उपकरणों के द्वारा चित्रकार अपनी एक नई सृष्टि रचता है और अपने हृदयस्थ भावों को व्यक्त करता है।

३—चित्रकार किसी भी मार्मिक भाव को या अनुभूति को चित्र के द्वारा व्यक्त करना चाहता है वह अनुभूति रति-सम्बन्धी हो सकती है, करुणा-सम्बन्धी, क्रोध-सम्बन्धी, या वीरता-सम्बन्धी भी। चित्रकार के भौतिक आधार एवं उपकरण मूर्तिकार से कम ही होते हैं। एक काग़ज़ पर खींची दो रेखायें ही किसी भाव को व्यक्त कर सकती हैं। चित्रकार की साधना यही है कि वह कम से कम रेखाओं में अधिक से अधिक भाव व्यक्त कर सके। आधुनिक चित्र कला इसी दिशा में प्रगति कर रही है। चार या पाँच सरल, वक्र रेखायें ही "बैठकर अपने बच्चे को स्तनपान कराती हुई, भाव-विभोर माँ को चित्र के रूप में प्रत्यक्ष कर सकती है।" इसी प्रकार कुछ ही रेखाओं में "पनघट पर पानी खींचती हुई स्त्री का या दधि बिलोती हुई स्त्री का चित्र खींचा जा सकता है।" चित्र के द्वारा मानसिक भाव भी पूर्ण सफलता के साथ व्यक्त किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, मृत्यु, आह्लाद, करुणा आदि। चित्रकार इन अव्यक्त भावनाओं को अपनी तूलिका से चित्रपट पर साकार कर सकता है किन्तु चित्रकला की अपनी जहाँ विशेषतायें हैं वहाँ सीमायें (कमियाँ) भी। चित्रकार किसी भी भाव या वस्तु के एक क्षण के रूप को ही चित्रित कर सकता है अर्थात् यदि वह किसी ऐसी रमणी का चित्र प्रस्तुत करना चाहता है जो भाग कर किसी पालित हरिण को पकड़ना चाहती है तो वह कोई एक क्षण अंकित कर सकता है या तो भागने के प्रयास का या पकड़ने का; पूरा व्यापार अंकित करने में वह असमर्थ है। किन्तु जितना क्षण वह चित्रकला के

कलापाश में बाँध लेगा सम्भवतः उससे अधिक भावपूर्ण एवं कलात्मक रूप की कल्पना नहीं की जा सकती।

४—यह स्पष्ट है कि चित्रकार किसी भाव या व्यापार का क्षणिक रूप ही अंकित कर सकता है क्योंकि चित्र गतिरहित होते हैं, उनमें एक निर्जीवता होती है लेकिन चित्रकार एक क्षण के व्यापार को अवश्य ही सजीव रूप में अंकित कर सकता है। अंजता एवं एलोरा की गुफाओं में बने चित्र कलाकार की अनुभूति को इतने सहजरूप में व्यक्त कर सके हैं कि दर्शक उन चित्रों को देख कर उस अनुभूति को उसी रूप में अनुभव कर सकता है, जितनी कलाकार ने की होगी। यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है किन्तु गतिहीनता, एवं अन्य भौतिक उपकरणों की प्रचुरता, चित्र कला को उन कलाओं से निम्नतर बना देती है जिनमें प्रवाह एवं गति भी है तथा जिनमें अपेक्षाकृत कम भौतिक साधनों की आवश्यकता है। वैसे—चित्रकला, मानसिक अनुभूतियों को व्यक्त करने का अत्यन्त सफल माध्यम है।

संगीत कला—

१-२—संगीत का आधार नाद है और कण्ठ के द्वारा यह उत्पन्न किया जाता है। संगीत उन सर्वश्रेष्ठ कलाओं में से है जिसमें भौतिक आधार और भौतिक उपकरण नाममात्र को हैं। कुछ विद्वान् तो संगीत को इतना श्रेष्ठ मानते हैं कि काव्य-कला को इसके बाद स्थान देते हैं। वास्तव में यदि देखें तो ज्ञात होता है कि काव्य का मूल भी नाद ही है। अन्तर इतना ही है कि नाद जब संगीत-प्रधान अधिक हो तो वह संगीत और भाव-प्रधान अधिक हो काव्य का आधार बनता है। परन्तु यह कहना ठीक न होगा कि संगीत भावशून्य होता है और काव्य संगीतरहित। वास्तव में संगीत और काव्य में इतनी घनिष्टता है कि इनको प्रथक-प्रथक करना बड़ा ही कठिन है। पन्तजी संगीत और काव्य की अभिन्नता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

"—वियोगी होगा पहला कवि विरह से उपजा होगा गान।
निकल कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान॥"

इसी प्रकार संस्कृत-साहित्य में भी संगीत और काव्य की अभिन्नता को व्यक्त करनेवाले कितने ही रूपक मिलते हैं। एक स्थान पर संगीत और काव्य को सरस्वती के 'स्तनद्वय' कहा गया

है। सरस्वती दोनों की आधिष्ठातृ देवी है। संगीतज्ञ भी उसे अपनी इष्टदेवी समझते हैं और कवि भी।

३-४—चूँकि संगीत का आधार और उसमें प्रयुक्त भौतिक उपकरण अत्यन्त सूक्ष्म है इसलिये संगीत गायक की हृदयस्थ अनुभूति को तद्वत (जैसा का तैसा) प्रकट करने में समर्थ है। संगीत के लिये वाद्यों की आवश्यकता अपरिहार्य (अनिवार्य) नहीं है। वाद्य-संगीत एक अलग वस्तु है। संगीत गले से नाद के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। वास्तव में संगीत की साधना कंठ की साधना है। कण्ठ एक भौतिक वस्तु है—कविता का आधार तो इससे भी सूक्ष्म है, वह तो केवल भाव और भाषा की साधना है। लेकिन इतना अवश्य है कि संगीत भी श्रोता पर मनोवांछित प्रभाव डालने में समर्थ है। संगीत भावों को उद्बुद्ध भी करता है और तीव्र भी। संगीत का प्रभाव तो वन्य पशुओं पर भी प्रसिद्ध है। गले से उत्पन्न विशिष्ट तरल स्वर लहरियाँ श्रोता के हृदय में प्रेम, घृणा तथा उत्तेजना किसी भाव को भी उद्बुद्ध कर सकती है। बिना भाषा का संगीत (आलाप) भी आकर्षक हो सकता है और भावोद्बोधक भी। इन सप्तस्वरों में पूरा संगीत-शास्त्र बँधा हुआ है—सा रे गा मा पा धा नी। संगीत का शास्त्र-साहित्य के शास्त्र से बिलकुल भिन्न है। संगीत में स्वरों के उतराव-चढ़ाव (अवराविरोह) के द्वारा ही भाव उद्बुद्ध किये जाते हैं जब कि काव्य में वर्णों का अधिक महत्त्व है।

लेकिन संगीत सर्वगुण-सम्पन्न तभी माना जायगा जब वह भावपूर्ण भी हो और काव्य सर्वगुण-सम्पन्न तभी माना जायगा जब वह संगीतमय भी हो। (हिन्दी साहित्य में छायावादी कवियों की यह विशेषता उन्हें बहुत ऊँचा उठा देती है। उनका काव्य संगीतमय भी है)।

काव्य कला—

१-२—आधुनिक युग में काव्य का आधार कागज और भौतिक उपकरण पैंसिल या लेखनी मानी जा सकती है परन्तु वास्तव में काव्य के लिये ये वस्तुयें अपरिहार्य 'अनिवार्य नहीं हैं।' काव्य का वास्तविक आधार अक्षर है जोकि भाषा का भी मूल आधार है—यों नाद इन सब के मूल हैं। सार्थक नाद ही भाषा है। भाषा भावों की प्रतीक, भाषा के अभाव में भाव चाहे अस्तित्वहीन न हो परन्तु

अभिव्यक्तिहीन अवश्य हो जायेंगे। इसलिये कविता (काव्य) की साधना वास्तव में भाषा (भाव, भाषा में व्यक्त रहता है) की साधना ही है।

३—कवि जिन बातों का अनुभव अपने हृदय में करता है उनको भाषा के माध्यम से व्यक्त करना चाहता है। कवि सामाजिक प्राणी है। समाज में जो कुछ होता है उन बातों से उसका सम्बन्ध है। इसलिये दूसरे शब्दों में कहें कि कवि भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति करता है। यह अभिव्यक्ति इतनी मार्मिक और तीव्र होती है कि पाठक या श्रोता भी भावविभोर हो जाता है और जो कुछ कवि ने जितना अनुभव किया है वह भी वैसा ही और उतना ही अनुभव करने लगता है। अनुभूतियाँ असंख्य हैं, इसलिये काव्य भी सदैव नवीन रहता है, वह कभी प्राचीन नहीं होता। जीवन में एक गति होती है, साहित्य में भी एक गति होती है।

प्रभाव डालने की कला में संगीत कला अद्वितीय मानी जाती है किन्तु इस दिशा में भी वह काव्य कला की गरिमा और महत्ता स्वीकार करती है। काव्य के कुछ शब्द कभी-कभी मनुष्य के जीवन को ही परिवर्तित कर देते हैं—

"—मिर्ज़ा राजा जयशाह अपने अन्तःपुर में रंगरेलियों में मस्त हैं। शासन पतन के गर्त की ओर धीरे-धीरे बढ़ रहा है। मंत्री, सरदार आदि सब उपाय करके थक चुके हैं। देखने के लिये राजा की आँखें बंद हैं और सुनने के लिये कान। वास्तव में कोई भी आदमी अपनी बात इस अनोखे ढंग से कह ही नहीं पाता कि राजा सुनकर चमत्कृत और प्रभावित हो जाय। जयशाह की अनुरक्ति-आसक्ति का यह रोग असाध्य हो गया है। इसी समय भावों का एक नवयुवक चिकित्सक दरबार में आता है—लोगों से स्थिति को समझता है और तब राजा के लिये एक आदर्श औषधि भेजता है। औषधि आयुर्वेदिक नहीं है और न चिकित्सक वैद्य। वह चिकित्सक है महान काव्यकार बिहारी और औषधि है कुछ शब्दों का सार्थक समुच्चय (ढेर) एक दोहा।"

नहिं पराग नहिं मधुर-मधुर नहि विकास इहिं काल।
अली कली ही सौं बिंध्यौ आगैं कौन हवाल।

जब परागहीन कली पर भौंरा अपने प्राणों को न्यौछावर

किये दे रहा है तो जब कली परागयुक्त होगी तो उसका उपभोग कौन करेगा ? इस अन्योक्ति ने राजा की आँखें खोल दीं। दो पंक्तियों के दोहे के द्वारा बिहारी ने वह काम कर दिखाया जिसको कदाचित संसार के सब साधन मिल कर भी न कर पाते। यह काव्य का चमत्कार है जिसके अभाव में दूसरी कलायें उसके समक्ष खड़ी नहीं हो सकतीं।

काव्य के आकर्षक इतिहास में ऐसे विस्मयकारी उदाहरणों की कमी नहीं है। 'क़त्लेआम' करानेवाले नादिरशाह को इस जघन्य कार्य से किसने विरत किया था ?—किसने रोका था ? संसार की कोई शक्ति उसकी तलवार को म्यान में लौटा नहीं सकती थी किन्तु एक कवि की दो पंक्तियों ने उसे शान्त कर म्यान में रखवा दिया।

संगीत के अतिरिक्त और कलाओं में गति नहीं है। उनमें जड़ता अधिक है लेकिन काव्य में संगीत से भी अधिक गति है। काव्य का एक-एक अक्षर एक चित्र उपस्थित कर सकता है, जैसे:—

"संध्या का झुटपुट, बाँसों का झुरमुट,
चिड़ियाँ करतीं टी वी टी टुट टुट।" 'पन्त'

उपरोक्त शब्दों के द्वारा संध्या काल का एक धुँधला चित्र स्पष्ट रूप में आँखों के समक्ष घूम जाता है।

काव्य की कुछ ही पंक्तियाँ चलते हुए हाथी का चित्र एवं उसके बजते हुए घंटे की ध्वनि का आभास तक हमें करा सकती हैं।

"रनित भृंग घटावली झरत दान मद नीर—
मंद मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर"। 'विहारी'।

कभी कभी काव्य की पंक्तियाँ अत्याधिक संगीतमय हो जाती हैं।

"कंकन किंकिनि नुपुरु धुनि सुनि—'तुलसी'

तथा

नंदक नंद कदंबक तरुतर धिरधिर मुरली बजाव।

ये तो काव्य की साधारण विशेषतायें हुईं। सबसे बड़ी विशेषता तो काव्य की यह है कि वह श्रोता या पाठक के भावों को उत्तेजित कर उसे स्वर्गीय आनंद का अनुभव कराता है इसीलिये तो काव्यानंद को ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया है। काव्य जहाँ स्वर्गीय आनंद

का स्रष्टा हो सकता है वहाँ महान् क्रान्ति का जनक भी। काव्य कला भौतिक आधार और भौतिक उपकरणों की सहायता अन्य कलाओं की तुलना में सबसे कम लेती है लेकिन सूक्ष्म होने के कारण उसकी प्रभाव-परिधि का विस्तार भी अन्य कलाओं से कहीं अधिक है। काव्य का एक-एक अक्षर एक दृश्य प्रस्तुत कर सकता है, एक-एक शब्द एक-एक चित्र प्रस्तुत कर सकता है। मंदिर, मस्जिद, पर्वत, नदी, निर्झर, समुद्र आदि को काव्य केवल शब्दों की सहायता से साकार कर देता है। दौड़ते हुए घोड़े, लड़ते हुए योद्धा, सजीव रूप में कोई भी कला चित्रित नहीं कर सकती—कर सकती है तो केवल काव्य कला। इसलिये सभी दृष्टियों से—आधार एवं उपकरणों की दृष्टि से, अनुभूति की दृष्टि से—अनुभूति को प्रकट करने के कौशल की दृष्टि से काव्य कला ही सर्वोत्कृष्ट ठहरती है।

————

:: १२ ::

कला—कला के लिए

भूमिका—'कला—कला के लिए', सिद्धान्त का इतिहास—दो दल—एक समर्थक, दूसरा विरोधी—'कला—कला के लिए' सिद्धान्त के पोषक तीन वाद—१—फ्रॉयड का स्वप्नसिद्धान्त। २—क्रोचे का अभिव्यंजनावाद। ३—यथार्थवाद ३ प्रकार के उपदेश—गुरु सम्मित, मित्र सम्मित कान्ता सम्मित (साहित्य) कला का महत्व-(उपसंहार)।

यदि मनुष्य की आज तक की संस्कृति के दीर्घकालीन इतिहास को एक शब्द में व्यक्त करने के लिए कहा जाय तो हम कहेंगे 'कला'। कला शब्द के पीछे मनुष्य की आदिकालीन अवस्था--उसका प्रकृति से संघर्ष--सौन्दर्य की भावना, सामाजिकता की भावना आदि के पृथक-पृथक स्वर स्पष्ट सुनाई देते हैं।

कला मनुष्य के संस्कृत मन मस्तिष्क की उपज है। आज भी पशुओं की कोई संस्कृति नहीं है, इसलिए कोई कला नहीं। जो जंगली जातियाँ आज भी आदि मानव का जीवन व्यतीत कर रही हैं, वे सौन्दर्य की भावना से रहित होने के कारण कलाओं से भी अपरिचित हैं। सौन्दर्य की भावना ने ही मनुष्य को पशु से मनुष्य बनाया है, उसमें मानवीय सद्भावनाओं का विकास किया है। सुविधा की प्रवृत्ति भी मनुष्य में सौन्दर्य-प्रवृत्ति की भाँति पुरानी है। इस सुविधा की प्रवृत्ति ने व्यवस्था को जन्म दिया और व्यवस्था ने समाज को। मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्य होता गया, वह समाज में व्यवस्था को अधिक महत्व देने लगा और इस प्रकार वह विवेक-प्रधान बना। उसके हृदय के असीम आनन्द ने उसकी सौन्दर्य भावनाओं को जीवित रखा और उसके विवेक ने उसके द्वारा स्थापित समाज को मर्यादित। कलायें असभ्य या अर्धसभ्य मनुष्य का अनर्गल प्रलाप नहीं हैं अपितु

सामाजिक (सभ्य) मनुष्य के आनन्द तथा सौन्दर्य-भावना की विवेक संयत अभिव्यक्ति हैं।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति समाज का प्रतिबिम्ब भी है। इसलिए मनुष्य की कोई भी कृति न तो काल निर्पेक्ष हो सकती है और न समाज निर्पेक्ष। कृति पर काल और समाज का प्रभाव अनिवार्य है। एक लेखक का कथन है कि "सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य में भले बुरे का ज्ञान दृढ़ हुआ और इस प्रकार आचार मनुष्य प्रकृति का एक अभिन्न बन गया।" इसलिए कला आचार से तटस्थ नहीं रह सकती।

किसी भाव को अभिव्यक्त करना आसान कार्य नहीं है और कौशल के साथ अभिव्यक्त करना तो और भी कठिन है। कलाकार साधारण व्यक्ति से दो बातों में अधिक समर्थ होता है—एक तो किसी भाव को अधिक गहराई से अनुभव करने में और दूसरे उस भाव को एक साधारण व्यक्ति से कहीं अधिक उचितरूप में अभिव्यक्त करने में। इसलिए अधिक संस्कृत और अनुभूतिशील होने के कारण कलाकार की कृति में लोकहित की भावना अपने सुन्दरतम रूप में व्यक्त होगी—यह बहुत स्वाभाविक है।

अन्य फैशनों की भाँति एक साहित्यिक फैशन भी यूरोप से भारतवर्ष में आया और वह था 'कला—कला के लिये'। भारतवर्ष में इससे पूर्व इसकी चर्चा नहीं मिलती। कवि जो कुछ अपने काव्य में व्यक्त करता था वह जीवन से भिन्न वस्तु नहीं होती थी। भारतीय साहित्य का रस सिद्धान्त तो जीवन के और भी निकट पड़ता है; जिसके अनुसार साहित्य में 'निराली अनुभूतियों' के लिये कोई स्थान नहीं है। साहित्य में वे ही भाव व्यक्त किये जाते थे उन्हीं घटनाओं का वर्णन होता था, जिनसे जनसाधारण के हृदय का तादात्म्य हो सके। इसलिए भारतीय साहित्य शास्त्र-रस के रूप में जीवन को ही अपना आधार बनाता है। कवि अपनी कृतियों में केवल जीवन को अभिव्यक्ति ही नहीं देता अपितु समाज को उचित दिशा निर्देश भी करता है। साहित्य इस बात का प्रमाण है कि महान् कलाकार समाज को उचित मानसिक भोजन देते हैं और इस प्रकार समाज को मानसिक रूप से स्वस्थ रखते हैं। इसलिये 'कला—कला के लिये' जैसा अर्थहीन नारा

यहाँ के साहित्यिकों ने कभी नहीं लगाया और काव्य को जीवन से बिलकुल पृथक वस्तु घोषित करने की अदूरदर्शिता भी उन्होंने कभी नहीं की।

इतिहास—

यूरोप में इस सिद्धान्त के जन्म और विकास पर एक दृष्टि डालना अनुचित न होगा।

नवसंस्कृत यूरोप के लिये यूनान ही संस्कृति का मूलस्रोत रहा है। यूरोप में केवल यूनान ही अपनी संस्कृति की प्राचीनता के लिये गर्व कर सकता है। अरस्तू यूनानी ज्ञान-वैभव का आदि-पुरुष प्रतीत होता है। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि संस्कृति के उस ऊषा काल में ही अरस्तू यूनान को ज्ञान का इतना तीव्र प्रकाश दे गया कि शताब्दियों तक पूरा यूरोप उस ज्ञानपुंज के समक्ष विस्मय-विमुग्ध तथा नतमस्तक रहा।

संस्कृत साहित्य में जैसे भरत मुनि के वाक्य विद्वानों के लिये बौद्धिक व्यायाम का क्षेत्र बने उसी प्रकार अरस्तू के वाक्यों को ले कर परवर्ती यूनानी विद्वानों ने ज्ञान क्रीड़ा की। इतनी शताब्दियों पूर्व यूरोप का यह बौद्धिक पिता इतने अधिक विषयों पर सम्यक् विचार कैसे कर सका यह सचमुच आश्चर्य का विषय है। अरस्तू ने कला के विषय में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। वह कला को जीवन की प्रतिकृति मानता है अर्थात् कला और जीवन में वह कोई भेद नहीं करता। कला उसके शब्दों में जीवन को अभिव्यक्त ही नहीं करती प्रत्यक्ष भी करती है। अरस्तू प्रतिकृति द्वारा कला का सम्बन्ध जीवन से इतना घनिष्ट कर देता है कि उसके अनुसार तो कला न जीवन की आलोचना है न व्याख्या बल्कि साक्षात् जीवन ही है। लेकिन जिस प्रकार भरत मुनि के रसनिष्पत्ति सम्बन्धी "विभावानुभाव व्यभिचारिभाव संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" वाक्य को लेकर अनेक आचार्यों ने अनेक अर्थ किए उसी प्रकार अरस्तू के 'कला जीवन की प्रतिकृति है' वाक्य को लेकर परवर्ती विद्वानों ने उसके अनेक अर्थ किए।

अरस्तू के जगत प्रसिद्ध शिष्य प्लेटो ने अरस्तू के सूत्र का भाष्य किया कि साहित्य जीवन की प्रतिकृति नहीं हो सकता वह केवल अनुकृति हो सकता है अर्थात् कलायें जीवन का आभासमात्र दे सकती

हैं वे साक्षात् जीवन नहीं हैं। जिस प्रकार किसी भी व्यक्ति का बनाया गया चित्र उस व्यक्ति की प्रतिकृति न हो कर अनुकृति (अनुकरणमात्र) भर हैं। उसी प्रकार जीवन के विषय में उपस्थित की गई कोई भी कलाकृति जीवन की अनुकृतिमात्र है।

उपरोक्त दोनों आचार्य क्रमशः 'कला जीवन के लिए है' तथा 'कला—कला के लिये है' के सिद्धान्त के आदि-पुरुष समझे जाते हैं।

फ्रांस यूरोप में विलास की प्रख्यात लीलाभूमि है। फ्रांस जीवन से पृथक् केवल काल्पनिक सिद्धान्तों के जन्म देने तथा उनका पालन-पोषण करने के लिये प्रसिद्ध है। 'कला—कला के लिए है' के इस नवजात यूनानी सिद्धान्त—शिशु को फ्रांस ने ही पालपोस कर बड़ा किया और बाद में उसके भावी उचित विकास के लिये उसे इंगलेंड भेज दिया गया। इसमें सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त अपने चरम विकास पर इंगलेंड में ही पहुँचा किन्तु इंगलेंड में इस विदेशी सिद्धान्त युवक का जहाँ स्वागत हुआ वहाँ विरोध भी हुआ। एक दल ऐसा था जो इस सिद्धान्त का हार्दिक समर्थन करता था। दूसरा ऐसा दल था जो उसका घोर विरोधी था और अपने देश की सुकुमार कला को इस विदेशी जीवन-रस-रहित कृशकाय स्वप्नदर्शी, पलायनवादी युवक के हाथों सौंपना घोर अकल्याणकारी समझता था।

दो दलः—

१—इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थकों में वाल्टर पेटर, ऑस्कर वॉइल्ड, ब्रेडले तथा प्रो० क्विलरकोच का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

२—इस सिद्धान्त के प्रमुख विरोधी व्यक्ति हैं:—रस्किन, मैथ्यू, ऑर्नल्ड, आई० ए० रिचार्ड्स तथा अम्बर क्रॉम्बी।

किन्तु इस सिद्धान्त के भाग्य में अभी समुद्रसंतरण तथा द्वीपान्तरवास बदा था। अंग्रेज अपने विश्वव्यापी साम्राज्य में भारतवर्ष को ही सबसे अच्छा स्थान समझते थे जहाँ सब प्रकार की बीमारियों को इकट्ठा किया जा सकता था। भारत में तब जागरण की कवितायें लिखी जाने लगी थीं। अंग्रेजों के विरुद्ध जनता का स्वर और कवियों की लेखनी संयुक्त हो गई थीं। जनता के स्वर को साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध उग्रतर करने का श्रेय भी कवियों को ही था।

अतः उन्होंने इस पलायनवादी काव्य सिद्धान्त को भारत में भेज दिया। उनका प्रयत्न व्यर्थ गया ऐसा तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि भारत की पृथ्वी पर भी ऐसे कवि उगने लगे जो कविता में (कलाओं में) जीवन को अभिव्यक्त करने के विरोधी थे। उनके मत में कला को जीवन के संतापों की आँच से परे ही रखना चाहिये। हम ग़ुलाम हैं, हम भूखे हैं, इन बातों को कविता में स्थान देने की क्या आवश्यकता है? उनके विचार से कलाओं का सर्वोत्तम प्रयोग भौतिक आवश्यकता की अग्नि से जले मनुष्य को सुलाने के लिये मरहम के रूप में होना चाहिए था। जागरण के लिये कला के प्रयोग को वे अश्लीलता, असभ्यता और न जाने क्या-क्या समझते थे। किन्तु भरसक प्रयत्न करने पर भी 'भारतवासियों' के समक्ष इस विदेशी सिद्धान्त का वास्तविक रूप स्पष्ट हो गया और उन्होंने इस सिद्धान्त के रूप में एक 'श्वेताङ्ग सिद्धान्त' के दर्शन किए।

यूरोप में 'कला—कला के लिये' का व्यापक प्रचार-प्रसार कैसे सम्भव हो सका इसके कारणों पर भी संक्षेप में विचार कर लेना अनुचित न होगा।

जिस काल में यह सिद्धान्त इंगलेंड पहुंचा उस समय वहाँ के चिन्तन क्षेत्र में अनेक विचारधारायें प्रवाहित हो रही थीं। उनमें से फ्रॉयड का स्वप्नवाद, यथार्थवाद, तथा क्रोचे का अभिव्यंजनावाद—ये मुख्य तीन विचार-धारायें हैं जो 'कला—कला के लिये' सिद्धान्त के सिञ्चन, अंकुरित एवं पल्लवित होने के लिए विशेषरूप से उत्तरदायी हैं।

१— फ्रॉयड का स्वप्न-सिद्धान्त—

फ्रॉयड का कथन है कि मनुष्य कुछ विशिष्ट सामाजिक एवं नैतिक नियम-प्रतिबंधों के कारण अपने मन की वासनाओं को तृप्त नहीं कर पाता। मनुष्य की वे अतृप्त कामनायें उसकी उपचेतना में संचित रहती हैं और मनुष्य उनकी पूर्ति स्वप्न में करता है। चूंकि साहित्य का मूल स्रोत भी कल्पना ही है इसलिये साहित्य में मनुष्य अपनी अतृप्त कामनाओं को ही छद्मरूप में व्यक्त करता है। फ्रॉयड साहित्य में शृँगार के प्राचुर्य को अपने सिद्धान्त के प्रमाणस्वरूप उपस्थित करता है। फ्रॉयड के सिद्धान्त का तो स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि सामाजिकता का और सामाजिक समस्याओं का काव्य से या कला से कोई सम्बन्ध नहीं है। कलायें तो केवल मानव की अतृप्त आकांक्षाओं को ही व्यक्त

करती हैं। परन्तु यह वात सत्य से बहुत दूर है। साहित्य किसी व्यक्ति के मानसिक विलास के लिये नहीं है, साहित्य तो युगचेतना को वाणी देता है। साहित्य किसी व्यक्ति विशेष की मानसिक कुंठाओं की सूची नहीं है, वह तो सामाजिक प्रगति का सजीव इतिहास है। इसलिये साहित्य के मूल में वास्तव में व्यक्ति नहीं समाज होता है। साहित्य में व्यक्ति का ढूँढने का प्रयत्न भी ठीक नहीं है। फ्रॉयड के अनुसार तो यदि कोई कवि किसी रमणी पर काव्य रचना करता है, या कोई चित्रकार, या शिल्पकार नारी का चित्र या मूर्ति बनाता है तो कलाकार अपनी अतृप्त कामनाओं को ही अभिव्यक्ति दे रहा है लेकिन वास्तव में नारी का चित्रण करनेवाले विभिन्न कलाकार, आवश्यक नहीं, कि इस प्रकार के मानसिक रोग से पीड़ित हों हीं।

किन्तु इस सिद्धान्त ने योरोप में 'कला--कला के लिये' सिद्धान्त के प्रसार में बड़ी सहायता पहुँचाई। लोगों ने समझा कि साहित्य जीवन का चित्रण करने के लिये नहीं है अपितु अतृप्त एवं गोपनीय वासनाओं को प्रकट करने का उपयुक्ततम स्थल है। उन्होंने समझा कि जब मनुष्य की कल्पना ही इन अभावों से पीड़ित है तो वह कलाओं में इन अभावों की पूर्ति क्यों नहीं करेगी ? इसलिये उन्होंने कलाओं को जीवन के सिद्धान्त और नियमों के आधार पर न परख कर कला की प्रथक कसौटी बनादी जो जीवन निर्पेक्ष थी। उनके मतानुसार कला की सृष्टि कला के लिये ही होती है—जीवन के लिये नही। उनके शब्दों में कला अतृप्त कामनाओं की अभिव्यक्ति भर है—जीवन को व्यक्त करनेवाली शक्ति नहीं।

२—क्रोचे का अभिव्यंजनावाद—

साहित्य के मूलतः दो पक्ष माने जाते हैं:—१—भाव पक्ष, २—कला-पक्ष। साहित्य वास्तव में भाव और भाषा की युगपत् (एक साथ) साधना हैं। जिस साहित्य के ये दोनों पक्ष पुष्ट हैं वह उत्कृष्टकोटि का साहित्य है लेकिन जिसमें भाव या भाषा सम्बन्धी कोई भी कमी आ जायगी तो उससे सर्वांगीण सौंदर्य में उतनी ही कमी आजायगी। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को अगर और भी उपयुक्त नाम दिया जाय तो 'अभिव्यक्तिवाद' ठीक होगा क्योंकि उसका कथन है—Expression Is Art (अभिव्यक्ति ही कला है)—ऐसा कहते समय स्पष्ट है कि क्रोचे विषय वस्तु को किंचित् भी महत्व नहीं देता। अभिव्यक्ति-

अभिव्यक्ति के लिये की जाय—यह बात तो बहुत कुछ निरर्थक प्रतीत होती है। जब कोई बात (Matter) ही नहीं है तो व्यक्त क्या किया जायगा ? भारतीय अभिव्यंजनावाद और क्रोचे के इस अभिव्यक्त-वाद में मौलिक अन्तर है। भारतीय अभिव्यंजनावाद में अभिव्यक्ति को अधिक महत्व अवश्य दिया गया है किन्तु विषय-वस्तु (भावपक्ष) की भी उपेक्षा नहीं की गई है। भारतीय काव्य शास्त्र के सभी आचार्य भावपक्ष को अत्यंाधिक महत्व देते हैं और इसीलिये रस (भावपक्ष) को वे काव्य की आत्मा मानते हैं। कलापक्ष के अन्तर्गत, शब्द शक्तियाँ (अभिधा, लक्षणा, व्यंजना। भाषा, गुण, (प्रसाद, ओज, माधुर्य,) एवं अलंकार आदि सभी आते हैं किन्तु ये तो वे वाह्य वस्त्राभरण हैं जिनसे सजीव काव्य की शोभा बढ़ती है यदि किसी मृत व्यक्ति को सुन्दर वस्त्राभरण पहना दिये जाँय तो सम्भवतः और भी कुरूप लगने लगेगा। इसी प्रकार जिस काव्य का भावपक्ष पुष्ट नहीं उसमें अलंकारादि वाह्य आवरण शोभावर्द्धक नहीं अपितु भारस्वरूप जान पड़ते हैं। इस साधारण सी बात को लेकर योरोप के तथाकथित काव्य शास्त्रियों में व्यर्थ का वाग्युद्ध हुआ है और फिर भी वे किसी निश्चित एवं निर्विवाद परिणाम पर पहुँचते हुए प्रतीत नहीं होते। उदाहरण के लिये, क्रोचे के अभिव्यंजनावाद द्वारा काव्य-शास्त्र में कोई नई बात प्रकाश में आई नहीं हो, उससे अनावश्यक भ्रमों का सृजन अवश्य हुआ है। उसके मतानुसार कलाओं में भावपक्ष या अनुभूतिपक्ष नगण्य हैं। उसके बिना भी केवल अभिव्यक्ति के बल पर कलाकृतियों का सृजन किया जा सकता है। इसका स्पष्ट अर्थ यही हुआ कि संसार तथा जीवन की बातों को कलाकृतियों में स्थान मिले यह आवश्यक नहीं। संक्षेप में क्रोचे 'बिना बात की बात' कहने में विश्वास करता है जिसका जीवन में कुछ भी सम्बन्ध न हो। 'कला—कला के लिये' आन्दोलन को क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से सहायता मिलती—यह स्वाभाविक ही था।

३—यथार्थवाद—

फ्रॉयड अपने चिन्तन के अनुसार कलाओं में शृंगार प्राचुर्य को स्वाभाविक मानता है। एक प्रकार से यूरोपीय यथार्थवाद भी इसी मान्यता पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाता है। यथार्थवाद के अनुसार भय, मैथुन और निद्रा—ये प्राणियों की मूल प्रवृत्तियाँ हैं। उसकी शेष उदात्त

प्रवृत्तियाँ सभ्यता प्रसूत हैं इसलिये अस्थाई हैं और महत्त्वपूर्ण भी नहीं हैं। अतः कलाओं में इन प्राकृतिक प्रवृत्तियों का स्फुरण अत्यन्त स्वाभाविक है। मनुष्य या समाज के कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाली बातें यथार्थवाद के अनुसार गौण (अप्रधान) प्रवृत्तियाँ हैं। अतः वे कलाओं का आधार नहीं बन सकतीं परन्तु सच तो यह है कि पशुता से ही मनुष्यता का जन्म हुआ है जैसे कि पंक (कीचड़) से पंकज की उत्पत्ति होती है। कीचड़ कितनी वीभत्स और कुरूप होती है। कमल कितना वांछनीय कितना सुन्दर! किन्तु यह कहना अयुक्तियुक्त होगा कि कीच के संस्कार भी कमल पर होने ही चाहिये। उसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि आज के सभ्य मनुष्य में वे पाशव वृत्तियाँ (भय, निद्रा, मैथुनाहार) अभी तक पूर्ववत नग्न हैं। पशुता की कीचड़ से जो मनुष्यता का कमल निकला है वह भ्रम नहीं है एक यथार्थता है और जितनी ही जल्दी इस सत्य को हृदयंगम कर लिया जायगा संसार का अकल्याण उतना ही कम होगा। महादेवी वर्मा इसी बात को इस प्रकार स्पष्ट करती हैं—

"—विकास क्रम में पशुता हमारा जन्माधिकार है और मनुष्यता हमारे युग-युग के अनवरत अध्यावसाय से अर्जित अमूल्य निधि; इसी से हम अपने पूर्णस्वप्न के लिए, सामंजस्यपूर्ण आदर्श के लिये और उदात्त भावनाओं के लिये प्राणों की बाजी लगाते रहे हैं। जब हम में ऐसा करने की शक्ति शेष नहीं रहती, तब हम एक मिथ्या दम्भ के साथ पशुता की ओर लौट चलते हैं क्योंकि वहाँ पहुँचने के लिये न किसी पराक्रम की आवश्यकता है और न साधन की।"

इस प्रकार के अविवेकपूर्ण और पाशविक आधार पर खड़े तथाकथित यथार्थवाद के विरुद्ध महादेवी लिखती हैं—

"—संसार में सबसे अधिक दण्डनीय वह व्यक्ति है जिसने यथार्थ के कुत्सित पक्ष को एकत्र कर नरक का आविष्कार कर डाला क्योंकि उस चित्र ने मनुष्य की सारी बर्बरता को चुन-चुन कर ऐसे व्यौरेवार प्रदर्शित किया कि जीवन के कोने-कोने में नरक गढ़ा जाने लगा।"

सच तो यही है कि इस प्रकार का साहित्य जो जीवन की उदात्त भावनाओं की उपेक्षा करता है, समाज की सामयिक समस्याओं और कमियों को दूर करने की ओर प्रयत्नशील नहीं होता, पाशविक

भावनाओं को ही अपना आधार बनाता है, इस लोक को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न न करके किसी ऐसे लोक की बातें करता है जिसका वास्तविक अस्तित्व कहीं है ही नहीं। वह इस संसार में नरक की ही सृष्टि करता है।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि 'कला—कला के लिए' का सिद्धान्त एक वायवी सिद्धान्त है जिसका इस धरती और धरती की बातों से कोई सन्बन्ध नहीं।

भारतवर्ष में इस सिद्धान्त के समर्थक अपने कथन के समर्थन के लिये तुलसी के निम्नांकित वाक्य की ओट लेते हैं—"स्वान्तः सुखाया तुलसी रघुनाथ गाथा, भाषा निबन्धमति मंजुल मातनोति।" कविता व्यक्तिगत आनन्द के लिये लिखी जाती है अतः अपनी 'निराली' (वैयक्तिक) विचित्र, देशकाल निर्पेक्ष तथा वायवी (हवाई) बातें उसमें व्यक्त करने का कवि को पूरा अधिकार है। इस प्रकार का असंगत एवं तथ्यविहीन अर्थ तथाकथित कलावादियों ने तुलसी के उपरोक्त वाक्य का लिया और इस प्रकार भारत के सर्वमान्य सर्वोत्कृष्ट कवि तुलसीदास की ओट लेकर उन्होंने साहित्य को अपनी विलासरुग्ण भावनाओं एवं कुत्सित वृत्तियों का अखाड़ा बनाने का भयंकर षड़यंत्र किया और उन्होंने अपने ही बुद्धि विकार के कारण तुलसी के रामबाण औषधि के समान कल्याणकारी उन सुन्दर वाक्यों का तिरस्कार कर दिया जो कला के वास्तविक उद्देश्य को स्पष्ट कर राष्ट्र के भयंकर मानसिक रोगों का 'निदान' करनेवाले हैं। उन पंक्तियों में तुलसी ने स्पष्ट कर दिया है कि कविता किसी व्यक्ति के मानसिक विलास की क्रीड़ास्थली नहीं है अपितु वह तो भवताप दग्ध व्यक्तियों के लिये अनुपम स्वास्थ्यस्थली है। कलाकार उसकी (कविता की) सृष्टि अपने लिये नहीं करता उसका आस्वादन तो और लोग ही करते हैं। कविता तो गंगा की निर्मल और कल्याणमयी धारा के समान है जिसमें स्नान कर सामाजिक भवतापों (सांसारिक कष्टों) से मुक्त होते हैं। ऐसी कविता तो साक्षात् जीवन (जल) है वह जीवन से दूर कैसे हो सकती है? तुलसी की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं—

"—मणि माणिक मुक्ता छवि जैसी।
अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुणी तन पाई।
लहइ सकल सोभा अधिकाई॥

तैसेइ सुकवि कवित बुध कहईं ।
उपजहि अनत, अनत सुख लहईं ॥"

इतना ही नहीं तुलसी केवल उसी वस्तु को अच्छी कहते हैं जो जन-कल्याणकारी हो—

"—कीरति भणित भूति भल सोई
सुरसरि सम सब कर हित होई ।"

विश्व की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए मनुष्य ने अपने सतत परिश्रम और अव्यय धैर्य से विज्ञान, दर्शन, कलादि (साहित्यादि) का आविष्कार किया है। उपदेश शब्द में ही कल्याण का भाव अन्तर्निहित रहता है। भारतीय विचारकों ने ज्ञान को ही तीन भागों में वर्गीकृत कर दिया है :—

१—गुरु सम्मित उपदेश, २—मित्र सम्मित उपदेश, ३—कान्ता सम्मित उपदेश ।

१—गुरु आज्ञा देता है। उसका पालन विवशता द्वारा शासित रहता है अर्थात् गुरु की आज्ञा का पालन कर्त्तव्य माना गया है किन्तु देखा यह जाता है कि कर्त्तव्य पालन में हृदय के उत्साह की भावना सदैव नहीं रहती। अतः अधिकांश आज्ञायें अत्यन्त शुष्क प्रतीत होती हैं उदाहरणार्थ, धर्म का आचरण करो, सत्य बोलो (धर्मं चर सत्यंवद) आदि उपदेश अत्यन्त शुष्क हैं और आज्ञा के रूप में हैं। इसलिए हृदय पर असर करनेवाले नहीं हैं, मार्मिक नहीं हैं। वेद इसी प्रकार की आज्ञा देते हैं अतः वेद साहित्य गुरु सम्मित उपदेश के अन्तर्गत आता है।

२—मित्र भी उपदेश देता है किन्तु उसकी पद्धति कुछ कम शुष्क होती है। 'सत्य बोलना चाहिए', 'धर्म का आचरण करना चाहिये' जैसे वाक्य इस प्रकार के उपदेश के उदाहरण हैं। स्मृतियाँ इसी प्रकार का उपदेश देती हैं। इसलिए स्मृति-साहित्य मित्र सम्मित उपदेश के अन्तर्गत आती हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि ऊपर उद्धृत वाक्य कल्याण की भावना से युक्त हैं किन्तु वे आकर्षक नहीं हैं। इन वाक्यों का हृदय पर अधिक और स्थाई प्रभाव नहीं पड़ता।

३—साहित्य का उद्देश्य भी उपरोक्त दोनों प्रकार के उपदेशों की पद्धतियों से भिन्न नहीं हैं। जो बात वेद कहता है, जो बातें स्मृतियाँ कहती हैं–साहित्य भी वही बात कहता है किन्तु उसका स्वर उपरोक्त उपदेशों से भिन्न है। वह शुष्क न होकर सरस, सरल और मार्मिक है। वह मनुष्य की कर्त्तव्य-भावना को मस्तिष्क के माध्यम से जागृत नहीं करता अपितु हृदय के माध्यम से जागृत करता है। इसलिए कल्याण की भावना उपरोक्त दोनों उपदेश पद्धतियों की भाँति साहित्य का भी आधार है। किन्तु साहित्य किसी सत्य को कहता नहीं अभिव्यंजित करता है और इसीलिए उसका प्रभाव भी तीव्र, अधिक गहरा और स्थाई होता है। उदाहरण के लिए–सत्य बोलो (वेद) सत्य बोलना चाहिये (स्मृति) को साहित्य विचित्र रूप से व्यक्त करेगा। इसका सर्वोत्तम उदाहरण सत्य हरिश्चन्द्र नाटक है जिसमें कहीं भी एक भी बार यह नहीं कहा गया कि सत्य बोलो या सत्य बोलना चाहिये परन्तु उसके प्रत्येक वाक्य से यही ध्वनि निकलती है। श्रोता या दर्शक पर जितना उसका प्रभाव पड़ता उतना न तो वेद वाक्य का और न स्मृति वाक्य का।

तो यह तो स्पष्ट ही है कि भारतीय विचारक जब साहित्य को कान्ता सम्मित उपदेश करते हैं तो किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करते। 'साहित्य निष्क्रिय' मानसिक विलास का संकीर्ण और प्रवाहहीन सरोवर नहीं है वह तो जनकल्याण की 'सतत प्रवहमान' स्वास्थ्यप्रद चिन्ता-धारा है जो शुष्क जीवनहीन सिकता-संसार में नेत्र-रंजक वारिधारा के समान मानव-संस्कृति के जल को वहन कर बहती है। सत्य मानव जीवन का मेरुदण्ड है। साहित्य सत्य को आकर्षक रूप में व्यक्त करता है। साहित्य-हित की भावना के सहित—अभिव्यक्ति है। जीवन से दूर साहित्य का कुछ अर्थ नहीं। साहित्य जीवन के लिए ही लिखा जाता है, जनकल्याण ही उसका मूलाधार है। सामाजिक हित की भावना से रहित पशुओं का कोई साहित्य नहीं होता। साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है किन्तु यथावत् नहीं अपितु आदर्श। साहित्य जीवन का आदर्श-रूप उपस्थित करता है। प्रेमचन्दजी लिखते हैं—

"—साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और सुन्दर बनाता है। दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है—यही उसका मुख्य उद्देश्य है।"

साहित्य में महान् शक्ति निहित है। समाज के मानसिक स्वास्थ्य

की इससे बढ़कर कल्याणकारी औषधि दूसरी नहीं किन्तु सत् साहित्य ही कल्याणकारी होता है। अश्लील साहित्य तो समाज के मानसिक स्वास्थ्य के लिये विष के समान है। साहित्य समाज का कल्याण कर उसे आदर्श भी बना सकता है और उसे भ्रष्ट कर उसका विनाश भी उपस्थित कर सकता है। इसलिये साहित्य जीवन के लिये—जीवन के कल्याण के लिये रचा जाना चाहिये। 'साहित्य—साहित्य के लिये' का नारा तो एक अर्थहीन प्रलाप है।

आजके युग में साहित्य का उचित मूल्य मार्क्सवादी लोगों ने आँका है। वे तो साहित्य को अपने जन संघर्ष का सबसे सबल अस्त्र मानते हैं। समाज में साहित्य ही जागृति उत्पन्न कर सकता है। किन्तु साहित्य शुष्क उपदेशों के संग्रह का नाम नहीं है बल्कि वह तो कल्याण की आकर्षक अभिव्यक्ति है। प्रसिद्ध विचारक एंगिल्स का मत है कि साहित्य में जो कुछ भी कहा जाय वह सुन्दरम् के आवरण में आवेष्टित होना चाहिये। साहित्यकार की साधना की चरमसीमा वह है जहाँ उसकी रचना जितनी ही सुन्दरम् हो उतनी ही सत्य भी।

इसलिये 'कला—कला के लिये' आन्दोलन 'सत्य एवं कल्याण' से दूर वास्तव में एक भ्रम प्रसार आन्दोलन है। इसका अधिक से अधिक अर्थ यह लिया जा सकता है कि कला के अपने नियम होते हैं, दर्शन और विज्ञान के अपने। दर्शन और विज्ञान की कसौटी पर साहित्य को नहीं कसना चाहिये। यहाँ तक तो ठीक है किन्तु यह कहना कि जीवन की कठोरता, अभाव एवं पीड़ा से साहित्य का कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो केवल काल्पनिक है, सत्य से तटस्थ। ऐसा कहना कला का अपमान करना होगा क्योंकि कला तो मानव मस्तिष्क द्वारा प्रसूत सम्पूर्ण आविष्कारों में सर्वाधिक सत्य, सर्वाधिक आकर्षक और सर्वाधिक कल्याणप्रद है।

अतः कला जीवन के लिये ही है—जीवन से पृथक न तो उसका अस्तित्व है, न महत्व ही।

———

: : १३ : :

काव्य के दोष

काव्य की साधना—भाव और भाषा की साधना है। इसलिये उसकी उत्कृष्टता भी भाव और भाषा की उत्कृष्टता है तथा निकृष्टता भाव और भाषा की निकृष्टता। काव्य के गुण उसकी भाषा के तथा भाव के गुण होते हैं और दोष भी भाव तथा भाषा के दोष होते हैं। काव्य-कृतियों के अध्ययन से प्रायः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी का तो भाव पक्ष दोषपूर्ण है और किसी का कला पक्ष। ऐसी तो बहुत कम कृतियाँ मिलेंगी जो भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों की दृष्टि से उत्कृष्ट हों और ऐसी कृति की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती जो भाव-भाषा सम्बन्धी दोषों से नितान्त रहित हो।

दोष क्या है ?

वास्तव में जो काव्य सृष्टा है वही दोष सृष्टा भी है। कवि की अपनी अक्षमता ही दोषों की जननी है। कवि का मुख्य कार्य है—पाठकों के हृदय में भी उन्हीं भावों को जागृत कर देना जिनका अनुभव स्वयं उसने किया। इस कार्य की पूर्ति के लिये वह भाषा का आश्रय लेता है। भाषा के मूल में अक्षर होते हैं, अक्षरों से शब्द और शब्दों से वाक्य बनते हैं। वाक्य सार्थक होते हैं। इसलिये कवि जब किसी भाव को व्यक्त करता है और पाठक या श्रोता को तद्वत अनुभव कराना चाहता है तो वह शब्दों तथा वाक्यों का समुचित प्रयोग करता है किन्तु जब शब्दों या वाक्यों में कोई कमी रह जाती है तो पाठकों की भावानुभूति में वाधा पड़ती है। यही बाधा वास्तव में दोष है। यह कभी-कभी शब्दों और कभी भावों के कारण उत्पन्न होती है और रसानुभूतिमें बाधक होती है। इसलिए दोषों को तीन भागों में विभक्त कर लेना युक्ति संगत होगा—

काव्य दोषों का वर्गीकरण :—

१—शब्द दोष, २—अर्थ दोष, ३—रस दोष काव्य। दोषों के यही मुख्यरूप हो सकते हैं। इन दोषों के उत्पन्न होने के तीन मुख्य कारण हैं :—

१—वे कारण जो काव्य रसास्वादन में अवरोध उत्पन्न करते हैं।

२—वे कारण जो काव्य के उत्कर्ष को नष्ट करते हों।

३—वे कारण जो काव्य के रसास्वादन में विलम्ब उत्पन्न करते हों।

उपरोक्त दोषों से बचना कवियों के लिये जहाँ आवश्यक है वहीं कठिन भी है। आचार्य दण्डी तो—तिलवत काव्य दोष को भी अक्षम्य समझते हैं क्योंकि कुष्ठ धब्बे के समान वह काव्य सौंदर्य को नष्ट कर देता है—

"—तदल्पमति नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम॥"

दोषों का परिहार काव्यशास्त्र में इतना आवश्यक माना गया कि काव्य की परिभाषा में दोषों की अनुपस्थिति को ही गुण मान लिया गया है। काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट अपनी काव्य की परिभाषा में ही दोष की अनुपस्थिति पर विशेष बल देते हैं—

"—तद्दोषौ शब्दार्थौसगुणावलकृति पुनः क्वापि।

(वे ही शब्द और अर्थकाव्य कहलाते हैं जो दोषों से रहित तथा गुणों से युक्त हों फिर चाहे अलंकार उसमें कभी-कभी न भी हों)

यहाँ दोषों की चर्चा करते समय हिन्दी साहित्य को ही विशेष रूप से ध्यान में रखना आवश्यक है क्योंकि कितने ही ऐसे दोष हैं जिनका सम्बन्ध केवल संस्कृत साहित्य से है। काव्य प्रकाशकार मम्मट ने ७० प्रकार के दोषों के नाम गिनाये हैं जिनमें ३७ शब्द के २३ अर्थ के तथा १० रस के दोष हैं। यहाँ केवल उन्हीं दोषों का उल्लेख किया जायगा जो प्रमुख हैं और हिन्दी साहित्य से जिनका विशेष सम्बन्ध है।

शब्द दोष

१—च्युतसंस्कृति दोष—

काव्य में व्याकरण विरुद्ध शब्दों के प्रयोग को दोष माना जाता

है। यह दोष पाँच प्रकार का माना गया है:— १—लिंग दोष, २—वचन दोष, ३—कारक दोष, ४—सन्धि दोष, ५—प्रत्यय दोष। जहाँ काव्य में शब्द व्याकरण सम्मत नहीं होते वहाँ शुद्ध भाषा पढ़ने के अभ्यासी पाठक का ध्यान काव्य से हट कर उन शब्दों की ओर चला जाता है और कवि की भाषा विषयक अक्षमता से उसे ग्लानि सी होने लगती है और इस प्रकार पाठक के काव्यानन्द में भी बाधा पड़ती है। इस दोष को ही साहित्य शास्त्र में 'च्युतसंस्कृति दोष' नाम दिया गया है।

उदाहरण—

१—मेरी प्राण रही थी मुझमें उनका दर्शन पाने को।
२—एक सजीव तपस्या जैसे पतझड़ में कर बास रहा।
३—"मर्म वचन जब सीता बोला।
हरि प्रेरित लछमन मन डोला॥"

प्रथम दो उदाहरणों में 'प्राण' शब्द स्त्रीलिंग के रूप में तथा 'तपस्वी' शब्द पुर्लिंग के रूप में प्रयुक्त हुआ है। तीसरे उदाहरण में सीता बोला शब्द व्याकरण विरुद्ध है।

२—अक्रमत्व दोष —

काव्य में कुछ शब्दों की क्रमहीनता इस दोष का कारण होती है अर्थात् जिस क्रम से शब्दों का प्रयोग होना चाहिए जब उस क्रम से नहीं होता तो अक्रमत्व दोष माना जाता है। निम्नांकित उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

उदाहरण—

'विश्व में लीला निरन्तर कर रहे वे मानवी।'

लीला शब्द यहाँ मानवी शब्द से बहुत दूर जा पड़ा है किन्तु इसे होना चाहिए था उसके निकट क्योंकि यह 'मानवी' शब्द का विशेष्य है और मानवी शब्द विशेषण है।

३—अप्रीतत्व दोष—

जब काव्य में कुछ शब्द अपने साधारण अर्थ में प्रयुक्त न होकर अपने किसी विशिष्ट शास्त्रीय अर्थ में प्रयुक्त होते हैं तो यह दोष माना जाता है। कारण ऐसे शब्द साधारण पाठक की समझ से परे और उसके काव्यानन्द में बाधा उत्पन्न करनेवाले होते हैं।

उदाहरण—"हैं प्रधान के तीनि गुण व्याप्त विश्व में जौन।
हो स्वतन्त्र इनसे रहे अस जग जन्मा कौन॥"

यहाँ 'प्रधान' शब्द अपने प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त न होकर एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'प्रधान' शब्द साख्यं शास्त्र के एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है 'प्रकृति'।

४—न्यून पदत्वदोष—

जब काव्य में कोई स्थल ऐसा आ जाता है जिसका अर्थ कुछ शब्दों के अभाव के कारण स्पष्ट नहीं होता तो यह दोष माना जाता है। ऐसे समय पाठक को अर्थ पूरा करने के लिले कुछ शब्द बाहर से मिलाने पड़ते हैं और व्यर्थ की इस माथापच्ची के कारण उसके काव्यानन्द में बाधा पड़ती है। तुलसी का निम्नांकित दोहा इस दोष का प्रसिद्ध उदाहरण है।

उदाहरण—"उत्तम मध्यम नीच गति पाहनसिकता पानि।
प्रीति परिच्छा तिहुँन की वैर व्यतिक्रम जानि॥"

इसमें 'रेखा' शब्द के अभाव में अर्थ बिलकुल स्पष्ट नहीं होता। जब पाठक अपनी ओर से रेखा शब्द जोड़ लेता है तब अर्थ स्पष्ट होता है।

५—अधिक पदत्वदोष—

जहाँ काव्य में कुछ अनावश्यक शब्दों को निकाल देने पर भी काव्यार्थ में अन्तर न पड़े बल्कि उन शब्दों की उपस्थिति से उसमें बाधा और पड़ती हो तो इस दोष को अधिक पदत्व दोष कहते हैं।

उदाहरण—"लपटी पुहुप पराग पट सभी स्वेद मकरंद
आवति नारि नवोढ़ लौं सुखद वायुगति मन्द।"

उपरोक्त दोहे में पुहुप शब्द का प्रयोग अनावश्यक है क्योंकि पराग कहने से ही पुष्प पराग का बोध हो जाता है। इसलिये 'पुहुप' शब्द अधिक होने से यहाँ अधिक पदत्वदोष हुआ।

६—अश्लीलत्वदोष—

अश्लील शब्द का प्रचलित अर्थ है—गन्दा। इसमें तीन भावों का समावेश है:—१—जिससे लज्जा उत्पन्न हो, २—जिससे घृणा उत्पन्न हो,

३—जिससे अशुभ या अमंगल की सूचना मिले । यह दोष शब्द और वाक्यार्थ दोनों में सम्भव है । लज्जाजनक उदाहरण प्राय: वे ही देखे जाते हैं, जहाँ स्त्री-पुरुषों के गुप्तांगों का नाम निर्देश या विशेष वर्णन पाया जाता है । घृणाजनक उदाहरण प्राय: वे ही होते है जहाँ मल-मूत्र, वमन, थूक अधोवायु आदि का वर्णन रहता है । (वीभत्सरस का वर्णन जहाँ हो रहा होगा वहाँ यह दोष नहीं माना जायगा)। जहाँ मृत्यु तथा असंगलसूचक शब्दों का प्रयोग हो वहाँ यह दोष माना जाता है। करुण रस के प्रसंग में यह दोष नहीं माना जाएगा)।

उदाहरण— (लज्जाजनक)

पर उपकार त्याग का सच्चा
तरुवर पाठ पढ़ाते हैं ।
दण्ड प्रहार चूत (आम) में करके ।
सुन्दर फल सब पाते हैं ।

घृणाजनक—

मदिरा पीना आपने समझ लिया था पाप ।
लगे थूक कर चाटने इतनी जल्दी आप ॥

अमंगलजनक—

हत्यारी है चितवन प्यारी तुम्हारी ।
इसी ने तो हे मेरा खून किया ॥

उपरोक्त उदाहरणों में रेखांकित शब्द अश्लीलत्व दोष को प्रकट करते हैं ।

७—निहित दोष—

जहाँ किसी शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग हो ।

उदाहरण—"विषमय यह गोदावरी अमृत के फल देती ।
केसव जीवनहार के दुःख असेस हरि लेत ।"

यहाँ विष और जीवन शब्द का प्रयोग जल के अर्थ में हुआ है जो अधिक प्रसिद्ध नहीं है । (लेकिन यदि काव्य में प्रसंग ही ऐसा हो कि किसी को कोई बात छिपा कर कहनी हो तो वहाँ यह दोष गुण हो जायगा)

संदिग्धत्व दोष—

यह दोष वहाँ होता है, जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ हो जो वांछित और अवांछित दोनों प्रकार के अर्थ देता हो।

उदाहरण—"या गिरि पर सुग्रीव नृप ता सँग मंत्री चारि।
बानर लई छिड़ाइ तिय लीन्हों बालि निकारि।"

यहाँ शब्दों से ऐसा अवांछित अर्थ भी निकलता है कि किसी बदन्र ने स्त्री को छीन लिया और बालि को निकाल दिया।

९—क्लिष्टत्व दोष—

यह दोष वहाँ माना जाता है जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया हो जिनका अर्थ बड़ी कठिनता से खुले।

उदाहरण—वेद नखत गृह जोंरि अरध करि सोई बनत अब खात—सूर।
वेद—४ + नखत—२७ + गृह—९ = ४० ÷ २ = २० (बीस) विष =।

गोपियाँ कहती हैं कि कृष्ण के विरह में अब हम विष खाती हैं किन्तु कितनी कठिनता से यह अर्थ निकलता है।

१०—ग्राम्यत्व दोष—

जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग काव्य में किया जाय जो सभ्य व्यक्तियों के व्यवहार में नहीं आते और जिनका प्रयोग केवल अशिक्षित या ग्रामीण पुरुष ही करते हैं वहाँ यह दोष होता है। साहित्य में निरन्तर प्रयोग होते रहने पर इनका ग्रामीणपन धुल भी जाता है।

उदाहरण—
पड़े <u>झटोले</u> पै रहे नींद न आई राति।

रेखांकित शब्द ग्राम्य प्रयोग है। इसका अर्थ है टूटी खाट। इसी प्रकार यदि काव्य में गाल शब्द का प्रयोग किया जाय तो वह भी ग्राम्य-दोष के अन्तर्गत आयेगा। साहित्य में गाल के लिये कपोल शब्द का व्यवहार होता है।

११—श्रुतिकटुत्व दोष—

जहाँ श्रृंगारादि कोमल रसों में कानों को अप्रिय लगनेवाले परुषवर्णों का प्रयोग किया गया हो वहाँ श्रुतिकटुत्व दोष माना जाता है।

उदाहरण—"कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता
पर क्या न विषयोत्कृष्टता लाती विचारोत्कृष्टता।

उपरोक्त उदाहरण में रेखांकित शब्दकर्ण कटु हैं। (रौद्र या वीर रस के वर्णन में ऐसे शब्द दोष नहीं माने जायेंगे।

११—समाप्त पुनरात्तता—

जहाँ वाक्य समाप्त हुआ-सा लगे किन्तु उसके बाद में भी छूटे हुए विशेषणादि रख कर वाक्य को पुनः बढ़ाने की चेष्टा की जाय वहाँ यह दोष माना जाता है।

उदाहरण—"ब्रह्मादि देव जब विनय कीन्ह।
तट छीर सिन्धु के परम दीन॥"

वाक्य 'सिन्धु के' पर समाप्त हुआ सा लगता है किन्तु 'परम दीन' द्वारा वाक्य को आगे बढ़ाया गया है।

अर्थ दोष

१—पुनरुक्ति दोष—

जहाँ भिन्न-भिन्न शब्दों या वाक्यों द्वारा एक ही अर्थ की प्रतीति हो वहाँ यह दोष माना जाता है। यह दोष अर्थगत है क्योंकि एक से दो शब्द देख कर ही हम यह दोष नहीं बता सकते जब तक कि यह विश्वास न हो जाय कि दोनों शब्दों का अर्थ भी एक ही हो।

उदाहरण—"जहँ सुमति तहँ सम्पति नाना।
जहँ कुमति तहँ विपति निदाना॥"

चूँकि पहली पंक्ति, दूसरी पंक्ति का भी अर्थ देती है। इसलिए दूसरी पंक्ति व्यर्थ है।

दुष्क्रमत्व दोष—

सांसारिक या शास्त्रीय नियमों के अनुसार कार्यों का जो क्रम मान्य होता है जहाँ काव्य में उसका उल्लंघन मिले वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण—

"मारुत नन्दन मारुत को मन को खगराज को वेग लजाओ।"
—'तुलसी'

यहाँ शब्द गति के उत्तरोत्तर उत्कर्ष को व्यक्त नहीं करते, उसमें व्यतिक्रम हो गया है। वास्तव में उचित क्रम इस प्रकार होगा—खगराज, मारुत, मन। परन्तु यहाँ क्रम अशुद्ध और लोक तथा शास्त्र विरुद्ध है यथा—मारुत, मन, खगराज। गरुड़ चूँकि मन से अधिक तीव्रगामी नहीं होता, अतः उसे मन से पहले आना चाहिये था।

३—व्याहत दोष—

जिसका महत्त्व वर्णित किया गया है उसी का यदि तिरस्कार दिखाया जाय तो व्याहत दोष माना जायेगा इसी प्रकार तिरस्कृत का सम्मान दिखाना ही दोष है।

उदाहरण—

दानी दुनिया में बड़े, देत न धन जन-हेत।

(पहले दानियों की प्रशंसा और फिर बुराई है।)

४—प्रसिद्धि विरुद्धि दोष—

जो वस्तु लोक में जिस रूप में प्रसिद्ध हो उसके विरुद्ध वर्णन करने से यह दोष माना जायेगा।

उदाहरण—हरि दौड़े रण में लिए कर में धन्वा बाण।

लोक में प्रसिद्ध है कि कृष्ण चक्र धारण करते हैं बाण नहीं। अतः यहाँ यह दोष है।

रस दोष

१—स्वशब्द वाच्यत्व दोष—

वह काव्य उत्कृष्ट कोटि का माना जाता है जहाँ भाव व्यङ्ग्य होते हैं लिखित नहीं। जहाँ वर्णन के द्वारा भाव उद्बुद्धन करके उसका नाम ही लिख दिया जाय वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण—

"कोशिल्या क्या करती थी, क्या कुछ धीरज धरती थी।'

यहाँ धीरज संचारी भाव व्यंग्य नहीं है बल्कि उसका नामोल्लेख कर दिया गया है।

२—अकाण्ड कथन—

जहाँ प्रस्तुत को छोड़ कर अप्रस्तुत रस का विस्तारपूर्वक वर्णन

किया जाय वहाँ यह दोष माना जाता है।

३—अंग वर्णन—

जहाँ किसी ऐसे रस का वर्णन किया जाय जिससे प्रधान रस को कुछ लाभ न हो वहाँ यह दोष माना जाता है। (उपरोक्त दोष नं० २ और ३ का प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत होना ही सम्भव है।)

———

: : १४ : :

हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण

सृष्टि के उषा काल में जब मानव ने सर्वप्रथम अपनी आँखें खोली होंगी तब उसने अपने आपको प्रकृति की वैभवपूर्ण गोद में पाया होगा। अपने चतुर्दिक प्रकृति के इस महान् और अक्षय वैभव को देखकर मानव सभ्यता के शैशव में अपनी तुतली भाषा में मनुष्य ने जो विस्मय प्रकट किया है उसे आज भी सामवेद अपने अन्तर में सुरक्षित रखे हुए है। प्रकृति के सूर्य चन्द्र, पुष्प, पादप, सर, गिरि, सरिता, वर्षा, इन्द्रधनुष, चन्द्रमा और उसकी शीतल चन्द्रिका मनुष्य के उसके जीवनारम्भ से साथी रहे हैं। अपरिचित अवस्था में जहाँ उसने इन्हें देखकर आश्चर्य प्रकट किया, उसकी वाणी जिज्ञासात्मक रही है। वहाँ परिचित होने पर उसने प्रकृति से प्रेम भी किया है। प्रकृति तो उसके जीवन के अणु परमाणुओं में रम गई है—उसकी आत्मा में गहरी होकर बैठ गई है। साहित्य मनुष्य की आत्मा की अभिव्यक्ति ही है, अतः वह प्रकृति से अछूता कैसे रह सकता है? प्रसन्नता की अवस्था में मनुष्य प्रकृति को हँसता हुआ और दुःख की अवस्था में उदास देखता है। प्रकृति मनुष्य को कभी-कभी अपनी ही भाँति सजीव लगने लगती है जैसा कि 'प्रसादजी' कामायनी में एक स्थान पर कहते हैं—

"—मांसल सी आज हुई थी हिमवती प्रकृति पाषाणी।"

इतना ही नहीं मनुष्य प्रकृति से अपने जीवन के लिए उपदेश भी ग्रहण करता है, और अधिक सभ्य होने पर प्रकृति में सजीवता के साथ-साथ एक असीम सत्ता या असीम चेतना का प्रतिबिम्ब भी देखता है। इसके अतिरिक्त सुन्दरता के लिये प्रकृति से कवि उपमान भी लेता है। यदि काव्य से प्रकृति को अलग कर दिया जाय तो उसका सौंदर्य-कोष लगभग रिक्त ही हो जायगा। मनुष्य प्रकृति से सौंदर्य

ही नहीं, सौंदर्य की भावना भी ग्रहण करता है। वह उससे प्रेरणा भी ग्रहण कर सकता है। 'पन्तजी' तो स्पष्टतः यह स्वीकार करते हैं कि काव्य-प्रेरणा के लिये वे प्रकृति के ऋणी हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं:—

"—कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है। जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक सौंदर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँख मूँद कर लेटता था तो वह दृश्यपट चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज में दूर तक फैली, एक के ऊपर एक उठी ये हरित नील धूमिल कूर्माचल की छायांकित पर्वत श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजत मुकुट हिमाचल को धारण की हुई हैं और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक नीलिमा को और भी ऊपर उठाए हुए हैं—किसी मनुष्य को अपनी महान् नीरव सम्मोहन के आश्चर्य में डुबा कर कुछ काल के लिये भुला सकती हैं।"

'पन्तजी' यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रकृति केवल काव्य-प्रेरणा ही नहीं काव्य के विषय भी देती है।

प्राचीन हिन्दी साहित्य में तथा संस्कृत साहित्य में भी अधिकांश में प्रकृति का वर्णन उद्दीपनरूप में ही मिलता है आलम्बन रूप में नहीं। वाल्मिकि और कालिदास उपरोक्त कथन के अपवाद हो सकते हैं।

काव्य का अन्तिम उद्देश्य है रस निष्पत्ति। इसलिए शास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रकृति रति भाव का आलम्बन नहीं हो सकती। वह केवल दो व्यक्तियों की प्रेम भावनाओं को उद्दीप्तमात्र कर सकती हैं और इस प्रकार उन्हें रस की कोटि तक पहुँचाने में सहायकमात्र हो सकती है। इसी विशेष दृष्टिकोण के कारण प्राचीन समय के साहित्य में प्रकृति का चित्रण उद्दीपनरूप में ही अधिक मिलेगा। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित करने के बड़े समर्थक थे। वे केवल उद्दीपनरूप में प्रकृति-चित्रण को हृदयहीनता कहते हैं। शुक्लजी तो इतने भावुक व्यक्ति थे कि वे ऊसर या पटपर में भी कविता देखते थे।

हिन्दी काव्य में कितने रूपों में प्रकृति का चित्रण हुआ है यहाँ इसके वर्गीकरण का प्रयत्न किया जायगा। हिन्दी प्रकृति-चित्रण मुख्यत: दो रूपों में मिलता है—

१—प्रस्तुत रूप में, २—अप्रस्तुत रूप में।

आचार्य शुक्ल के अनुसार प्रस्तुत रूप में भी प्रकृति-चित्रण दो प्रकार का मिलता है:—

१—अर्थग्रहण मात्र २—बिम्बग्रहण मात्र

इसी प्रकार अर्थग्रहण मात्र को दो रूपों में बाँटा जा सकता है—

१—नाम परिगणनात्मक २—शुद्ध प्रकृति-चित्रण।

बिम्बग्रहण रूप में प्रकृति-चित्रण के चार रूप मिलते हैं:—

१—शुद्ध प्रकृति-वर्णन।

२—पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-चित्रण।

३—मानवी करण के रूप में प्रकृति-चित्रण।

४—अलंकृत रूप में प्रकृति-चित्रण।

प्रकृति-चित्रण का अप्रस्तुत भेद भी चार भागों में विभाज्य है:—

१—उद्दीपनरूप में प्रकृति-चित्रण।

२—रहस्यवाद के रूप में प्रकृति-चित्रण।

३—अलंकाररूप में प्रकृति-चित्रण।

४—उपदेश के रूप में प्रकृति-चित्रण।

प्रतीक रूप एवं इत रूप में भी प्रकृति का चित्रण हिन्दी में मिलता है।

अब प्रत्येक भेद को उदाहरण देकर स्पष्ट करना उचित होगा।

१—प्रस्तुत रूप में प्रकृति-चित्रण:—

जैसा पहिले कहा जा चुका है कि आलम्बन या प्रस्तुतरूप में प्रकृति का चित्रण प्राचीन समय में नहीं मिलता। हिन्दी के प्राचीन कवियों में 'सेनापति' में अवश्य प्रकृति के प्रति कुछ ममत्व दिखाई देता है। यद्यपि यह भी सत्य है कि 'सेनापति' रीतिकालीन बन्धनों से मुक्त भी नहीं हैं। प्रकृति का चित्रण उन्होंने भी प्राय: उद्दीपनरूप में ही किया है किन्तु उनके प्रकृति-चित्रण से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

१—'सेनापति' का प्रकृति निरीक्षण अन्य रीतिकालीन कवियों की तुलना में अधिक विस्तृत और गंभीर है।

२—रीतिकालीन वन्धनों में से भी सेनापति के हृदय में प्रकृति-का प्रेम स्पष्ट प्रकट हो जाता है।

निम्नांकित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

सेनापति द्वारा क्वार के बादलों का सुन्दर चित्रण—

"—रजत से राजत हैं पूरव कौं भाजत हैं,
गग-गग गाजत है, गगन घन क्वार के।"

इसी प्रकार शरद ऋतु का सुन्दर वर्णन—

"—पाउस निकास ताते पायो अवकास,
भयौ जोन्ह को प्रकास सोभा अति रमनीय कौं।
विमल अकास होत वारिज विकास,
सेनापति फूले काम हित हंसन के हिय कौं।
छिति न गरद मानो रंगे हैं हरद,
सालि सोहत जरद को मिलावै हरि पीय कौं।
मत्त हैं दुरद मिट्यौ खंजन दरद,
ऋतु आई है सरद सुखदाई सब जीय कौं।"

'को मिलावै हरि पिय कौं' वाक्य ध्यान देने योग्य है। यदि यह वाक्य उपरोक्त कवित्त में न होता तो उपरोक्त कवित्त आलम्बन-रूप में प्रकृति-चित्रण का सुन्दर उदाहरण हो सकता था केवल इस पंक्ति के कारण शास्त्रीयरूप से यह उद्दीपनरूप में ही प्रकृति-चित्रण माना जायगा किन्तु उपरोक्त कवित्त प्रस्तुतरूप में प्रकृति-चित्रण के उदाहरणस्वरूप इसलिए रखा गया है क्योंकि उपरोक्त कवित्त में रेखांकित पंक्ति किसी महत्वपूर्ण भाव को व्यक्त नहीं करती वह 'रीति' का पालन भर है। कवि का हृदय वास्तव में उपरोक्त रेखांकित पंक्ति के साथ न होकर प्रकृति के ही साथ है।

शुद्ध प्रकृति वर्णन—

शुद्ध प्रकृति वर्णन वहाँ माना जायगा जहाँ कवि इतिवृत्तात्मक प्रणाली में प्रकृति वर्णन करता है। ऐसे प्रकृति वर्णन में कवि तटस्थ होकर प्रकृति का वर्णनमात्र कर देता है—

"—स्वर्ण शालियों की कलमें थीं दूर दूर तक फैल रही।
शरद इन्दिरा के मन्दिर की मानो कोई गैल रही॥"

—'प्रसाद'

तथा

"—सायंकाल गिरे दिनेश कर की लाली मनमोहिनी,
होती है तब दिव्य वारिनिधि की क्या ही छटा सोहिनी.
झागों से विशदाभ रक्त छवि पा ऊँची तरंगावली,
आती है अति दूर से फिर वही जाती वहाँ है चली।"

इसी प्रकार 'प्रिय प्रवास' के आरम्भ में किया गया प्रकृति-चित्रण भी शुद्ध प्रकृति-चित्रण का उदाहरण कहा जा सकता है—

"—दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला,
तरुशिखा पर थी अबराजती,
कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा॥
विपिन बीच विहंगम वृंद का,
कल निनाद विवर्धित था हुआ,
ध्वनिमयी विविधा विहंगावली,
उड़ रही नभ मंडल मध्य थी।
अधिक और हुई नभ लालिमा,
दश दिशा अनुरंजित हो गई,
सकल पादप पुंज हरीतिमा,
अरुणिमा विनमज्जित सी हुई॥
अचल के शिखरों पर जा चढ़ी,
किरण पादप शीश विहारिणी,
तरणि बिम्ब तिरोहित हो चला,
गगन मंडल मध्य शनैः शनैः॥"
—'हरिऔध'

३—पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-चित्रण—

विशुद्ध रूप में किये गये प्रकृति-चित्रण और पृष्ठभूमि के रूप में किये गये प्रकृति-चित्रण में अन्तर केवल इतना ही है कि विशुद्धरूप में किये गये प्रकृति-चित्रण का कोई विशिष्ट प्रयोजन न होकर प्रकृति-चित्रण ही प्रयोजन होता है किन्तु पृष्ठभूमि के रूप में किया गया प्रकृति-चित्रण सप्रयोजन तथा सार्थक होता है। वह आगे आनेवाली घटनाओं की पृष्ठभूमि तैयार करता है इसलिये वह शुद्ध न होकर मानवीय भावों की छाया से युक्त रहता है।

'वैदेही वनवास' में ऐसा ही प्रकृति-चित्रण वहाँ मिलता है जहाँ राम और सीता सानंद दिखाए गए हैं लेकिन सीता के वन प्रवास की घटना घटित होने को है, उससे पूर्व शान्त प्रकृति में अचानक अप्रत्याशित परिवर्तन दिखाई देता है और अमंगल की छाया प्रकृति-चित्रण के रूप में स्पष्ट और घनीभूत होने लगती है:—

"—थी सब ओर शान्ति दिखलाती, प्रकृति नटी नर्तनरत थी।
फूली फिरती थी प्रफुल्लता उत्सुकताति तरंगित थी॥
उसी समय बढ़ गया वायु का वेग क्षितिज पर दिखलाया।
एक लघु जलद खण्ड पूर्व में जो बढ़ वारिद बन पाया॥"—'हरिऔध'

'कामायनी' के आरम्भ में किया गया प्रकृति-चित्रण भी शुद्ध न मानकर पृष्ठभूमि के रूप में ही माना जायगा क्योंकि वहाँ प्रकृति-चित्रण का एक विशिष्ट उद्देश्य है और उसके द्वारा मनु की आन्तरिक दशा (मनोव्यथा) को स्पष्ट करने का प्रयत्न भी स्पष्ट परिलक्षित होता है।

मनु का हृदय उदास है और प्रकृति के चित्रण के द्वारा 'प्रसादजी' उसे स्पष्ट करते हैं:—

"—हिमगिरि के उत्तुग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष, भींगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह।
नीचे जल था ऊपर हिम था,
एक तरल था एक सघन;
एक तत्व ही की प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।
दूर-दूर तक विस्तृत था हिम,
स्तब्ध उसी के हृदय समान;
नीरवता-सी शिला चरण से,
टकराता फिरता पवमान।

× × ×

उसी तपस्वी से लम्बे थे
देवदारु दो चार खड़े;

हुए हिमधवल जैसे पत्थर
बनकर ठिठुरे रहे अड़े ।"

अन्त में जब हृदय से निराशा दूर हो जाती है और वे 'नभ के शाश्वत गानों में' जीवित रहना चाहते हैं तो उनके इस हृदय परिवर्त्तन का आभास पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति चित्रण द्वारा पहले से ही दे देते हैं—

"—ऊषा सुनहले तीर बरसती
जयलक्ष्मी सी उदित हुई;
उधर पराजित काल रात्रि भी
जल में अन्तर्निहित हुई ।
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का
आज लगा हँसने फिर से;
वर्षा बीती हुआ सृष्टि में
शरद विकास नये सिर से ।
× × ×
धीरे धीरे हिम आच्छादन
हटने लगा धरातल से;
जगी बनस्पतियाँ अलसाई
मुख धोती शीतल जल से ।
नेत्र निमीलन करती मानो
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने;
जलधि लहरियों की अँगड़ाई
बार-बार जाती सोने ।"

४—मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण—

मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण छायावादी युग की विशेषता है जिसमें प्रकृति में भी मानवीय भावनाओं का आरोप कर लिया जाता है ।

'पन्तजी' कुंज में बिखरी हुई किरण को देखकर उससे मानवी की भाँति बातें करने लगते हैं—

"—अरे कौन तुम दमयन्ती-सी हो तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें क्या छोड़ गया अलि नल-सा निष्ठुर कोई ।"

'प्रसादजी' द्वारा 'कामायनी' में रात्रि का मानवी के रूप में प्रस्तुत किया गया रूप भी मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण का सुन्दर उदाहरण है—

मनु रात्रि से पूछते हैं—

"—किस दिगंत रेखा में इतनी
संचित कर सिसकी-सी साँस,
यों समीर मिस हाँफ रही-सी
चली जारही किसके पास?
विकल खिलखिलाती क्यों तू?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर;
तुहिन कणों, फेनिल लहरों में,
मच जावेगा फिर अंधेर;
घूँघट उठा देख मुस्क्याती
किसे, ठिठकती-सी आती;
विजन गगन में किसी भूल सी,
किसको स्मृति पथ में लाती।"

मनु रात्रि को उसकी अबोधता और असावधानता के लिये सचेत करते हैं—

"—पगली हाँ सँभाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल;
देख बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिंचन जगत लूटता
तेर छवि भोली भाली।"

—'प्रसाद'

'निराला' द्वारा प्रस्तुत संध्या का यह मानवीकृत रूप भी मानवीकरण का सुन्दर उदाहरण है—

"—दिवसा वसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे,

तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर—
किन्तु जरा गम्भीर—नहीं है उसमें हास-विलास
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों से,
हृदय राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक!
अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली,
सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह सी अम्बर-पथ से चली।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग आलाप
नूपुरों में भी रुनझुन-रुनझुन नहीं;
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप, चुप, चुप!"
है गूँज रहा सब कहीं—
व्योम मंडल में जगती तल में।"

—'निराला'

'पंत' द्वारा प्रस्तुत गंगा का मानवीकृत रूप—

"—सैकत शैया पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रान्त क्लान्त निश्चल।
तापस बाला-सी गंगा कल, शशिमुख से दीपित मृदु करतल,
लहरें उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर।"

—'पन्त'

इसी प्रकार 'निराला जी' की 'जुही की कली' हिन्दी में मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण का उत्कृष्ट उदाहरण है।

"—विजन-वन-वल्लरी पर सोती थी सुहाग भरी
स्नेह-स्वप्न-मग्न कोमल-तन-तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किए शिथिल पत्रांक में।"

मानवीकरण के रूप में प्रकृति-चित्रण के द्वारा तो छायावादी साहित्य भरा पड़ा है।

५—संवेदनात्मक रूप में प्रकृति-चित्रण—

जहाँ व्यक्ति प्रकृति को अपने दुख से दुखी और अपने सुख से सुखी देखता है उस प्रकृति-चित्रण को संवेदनात्मक रूप में प्रकृति-चित्रण ही माना जाएगा।

कामायनी (श्रद्धा) का हृदय दुख से भरा है इसलिये उसे प्रकृति भी दुःखपूर्ण तथा निरानन्द प्रतीत होती है—

—"आज सुनूँ केवल चुप होकर कोकिल चाहे जो कहले।
अब न परागों की वैसी है, चहल-पहल जो थी पहले॥
इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या।
कामायिनि तू हृदय कड़ा कर, धीरे-धीरे सब सहले॥"

—'प्रसाद'

इसी प्रकार 'प्रियप्रवास' में एक बाला के मुख से कहलायी गई निम्नांकित पक्तियाँ संवेदनात्मक रूप में प्रकृति-चित्रण का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं—

"—आके जूही निकट फिर यों बालिका व्यग्र बोली
मेरी बातें तनक न सुनी पातकी पाटलों ने,
पीड़ा नारी हृदय तल की नारि ही जानती है
जूही ! तू है विकच-वदना शान्ति तू ही मुझे दे।

—'हरिऔध'

६—नाम परिगणनात्मक रूप में प्रकृति-चित्रण—

जहाँ प्रकृति की वस्तुओं के नाममात्र गिना दिए जाँय, वहाँ नाम परिगणनात्मक प्रकृति-चित्रण मानना चाहिये।

केशव की निम्नांकित पक्तियाँ नाम परिगणनात्मक प्रकृति-चित्रण के उदाहरणस्वरूप रखी जा सकती हैं क्योंकि इनमें केवल वृक्षों के नाम भर गिना दिए गए हैं—

"—तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।"

× × × ×

"—ऐला लता लवंग संग पुंगी फल सोहें।"

इसी प्रकार जायसी द्वारा लिखे निम्नांकित दोहे को भी नाम परिगणनात्मक प्रकृति-चित्रण के उदाहरण के रूप में रखा जा सकता है—

"—लवँग सुपारी जायफर, सब फर फिरे अपूर ।
आसपास घन ईमली, औ घन तार खजूर"

'हरिऔध' द्वारा लिखित 'प्रियप्रवास' का नवम सर्ग इसी पद्धति पर है उसमें फलों, वृक्षों आदि के नाम भर गिनाए गए हैं ।

७—उद्दीपनरूप में प्रकृति-चित्रण—

प्रकृति में भावों को उद्दीप्त करने की भी प्रबल शक्ति है । काव्य में उद्दीपनरूप में प्रकृति-चित्रण को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है:—१—जहाँ संयोगावस्था में प्रकृति, प्रेमिकों के आनन्द की भावना को उद्दीप्त करने में सहायक होती है । २—जहाँ प्रकृति विरहावस्था में विरहियों की विरह-भावना को उद्दीप्त करती है ।

"—घन घमण्ड नभ गरजत घोरा
प्रियाहीन डरपत मन मोरा ।"

—'तुलसी'

सूर की गोपिकाओं को प्रकृति की वे वस्तुयें जो कभी आनन्द देनेवाली थीं, अब जलानेवाली लगती हैं—

"—बिन गुपाल बैरिनि भईं कुंजें ।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजें,
बृथा बहति जमुना खग बोलत बृथा कमल फूले अलि गुंजें,
पवन पानि घनसार सजीवन दधिसुत किरन भानु भईं भुजें ।

—'सूर'

इसी प्रकार 'ग्वाल' कवि की एक नायिका प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं से देखिए कितनी परेशान हो गई है—

"—मेरे मनभावन न आए सखी सावन में,
तावन लगी है लता लरजि लरजि कैं ।
बूँदैं कभूँ रूदैं, कभूँ धारैं हिय फारैं दैया ।
बीजुरीहू हारै हारी बरजि-बरजि कैं ।
'ग्वाल' कवि चातकी परम पातकी सौं मिलि,
मोरहू करत सोर तरजि-तरजि कैं ।

गरजि गए जे घन गरजि गए हैं भला,
फिरि ये कसाई आए गरजि-गरजि कैं ।"
—'ग्वाल'

"—तिय तरसौंहे मन किए, करि सरसौं हैं नेह ।
धग परसौं हैं ह्वै रहे, झर बरसौंहैं मेह ॥"—'विहारी'

अलंकार रूप में प्रकृति-चित्रण—

जहाँ काव्य में उपमेय के सौन्दर्यवर्द्धन के लिए प्रकृति से उपमान लिए जाते हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक आदि अलंकारों के रूपक में प्रकृति का चित्रण इसमें रहता है।

'कामायनी' में 'प्रसादजी' द्वारा किया श्रद्धा का रूप वर्णन इस पद्धति का उत्कृष्ट उदाहरण है—

"—नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग।
आह वह मुख! पश्चिम के व्योम,
बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि—मण्डल उनको भेद,
दिखाई देता हो छवि धाम।
या कि नव इन्द्रनील लघु शृंग।
फोड़कर धधक रही हो कान्त;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त ।
घिर रहे थे घुँघराले बाल।
अंस अवलम्बित मुख के पास।
नील घन शावक से सुकुमार,
सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुसक्यान।
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुणा की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।"

उत्प्रेक्षा के द्वारा विहारी प्रकृति का कैसा सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हैं—

"—सोहत ओढ़े पीतपट स्याम सलौने गात ।
मनहु नील मणि सैल पर आतप पर्यो प्रभात ॥"

रूपक अलंकार के द्वारा विहारी प्रकृति के कितने सुन्दर चित्र उपस्थित करते हैं—

"—रनित भृंग घटावली झरतदान मद नीर ।
मन्द मन्द आवत चल्यौ कुजरु कुंज समीर ॥
चुवत स्वेद मकरन्द कन तरु तरु तर विरमाय ।
आवत दक्खिन देसते थक्यो बटोही बाइ ॥
रुक्यो साँकरे कुंज मग करत झाँझि झुकरातु ।
मन्द-मन्द मारुत तुरँगु खूँदतु आवतु जातु ॥"

शरद् ऋतु में सुन्दरी नायिका का रूपक देखिए। यहाँ शरद् की चन्द्र, चन्द्रिका, कुन्दकलिया, खंजन और कमल आदि में मुख, पटीर, पंक (चन्दन) दन्त, नेत्र, हाथ और चरण आदि स्त्री के अंगों का आरोप किया गया हैः—

"—आनन अमल चन्द्र चन्द्रिका पटीर पंक,
दसन अमन्द कुन्द कालिका सुढंग की।
खन्जन नयन, पदपानि मृदु कंजनि के,
मन्जुल मराल चाल चलत उमंग की।
कवि 'जयदेव' नभ नखत समेत सोई,
औढ़े चारु चूनरि नवीन नील रंग की
लाज भरी आज वृजराज के रिझाइवे कौं,
सुन्दरी सरद् सिधाई सुचि अंग की॥"
—'जयदेव'

९—उपदेश के रूप में प्रकृति-चित्रण—

मनुष्य जहाँ प्रकृति के असीम सौन्दर्य को निर्निमेष नेत्रों से देखता रहना चाहता है, वहाँ वह प्रकृति से शिक्षा भी ग्रहण करता है। तुलसी, श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त आदि में उपदेश के रूप में प्रकृति-चित्रण भी मिलता है। रामचरितमानस तो इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण से भरा पड़ा है। एक उदाहरण लीजिए—

"—हरित भूमि तृण संकुलित, समुझि परै नहिं पंथ।
ज्यों पाखंड विवादतें लुप्त होंइ सद्ग्रंथ ॥
महावृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि स्वतंत्र होइ बिगरै नारी॥
छुद्र नदी भरि चलि उतराई। ज्यों थोरेउ धन खल बौराई॥
दामिनि दमकि रहीं घन माहीं। खल की प्रीति यथा थिर नाहीं॥"

१०—रहस्यवाद के रूप में प्रकृति-चित्रण—

मनुष्य कभी-कभी आनन्द विभोर होकर प्रकृति के कण-कण में उस असीम और अनन्त सत्ता का आभास पाने लगता है। रहस्यवाद के रूप में प्रकृति-चित्रण प्राचीन कवियों में जायसी तथा आधुनिक कवियों में 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला', महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, आदि में मिलता है।

जायसी निम्नांकित पंक्तियों में प्रकृति-चित्रण के माध्यम से रहस्य की सृष्टि करते हैं—

—'देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा।
गा अँधियारा रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि फूटी।
अस्ति अस्ति सब साथी बोले। अन्ध जो अहे नैन विधि खोले।'

प्रसादजी प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं में रहस्य का आभास पाते हैं—

"—विश्वदेव, सविता या पूषा
सोम, मरुत, चंचल पवमान;
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन में अम्लान?
किसका था भ्रूभंग प्रलय-सा
जिसमें ये सब विकल रहे;
अरे प्रकृति के शक्ति चिन्ह ये,
फिर भी कितने निबल रहे।

× × ×

महानील इस परम व्योम में
अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह नक्षत्र और विद्युत कण
किसका करते से संधान।
छिप जाते हैं और निकलते,
आकर्षण में खिंचे हुए;

तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए ?"

'पन्तजी' भी प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं में उस असीम उल्लास की प्रतिच्छाया देखते हैं --

"—एक ही तोषणीय उल्लास !
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जल निधि में हरित विलास,
शान्त अम्बर में नील विकास,
वही उर-उर में प्रेमोच्छवास
काव्य में रस कुसुमों में वास;
प्रबल तारक पलकों में हास,
लोल लहरों में लास ।'

पन्तजी की 'मौन निमंत्रण' कविता भी इस पद्धति की उत्कृष्ट रचना है—
"न जाने नक्षत्रों मिस कौन, निमंत्रण मुझको देता मौन" ।

आज के युग की महादेवी वर्मा सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादिनी कवियित्री हैं। अतः रहस्यवाद के रूप में प्रकृति-चित्रण के उनकी रचनाओं से कितने ही सुन्दर उदाहरण दिये जा सकते हैं—

कवियित्री प्रकृति की वस्तुओं में उस अनन्त सत्ता (परम तत्व) के दर्शन करती हैं—

"शून्य नभ में उमड़ जब दुःखभार-सी,
नैशतम में सघन छा जाती घटा,
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी,
जब सुनहले आँसुओं के हार-सी,
तब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित की मुसकान में वह कौन है ?"

नक्षत्र और लहरें भी कवियित्री को पारलौकिक संकेत करते हैं—

"कहते हैं नक्षत्र पड़ी हम पर उस माया की झाँईं ।
कह जाते ये मेघ हमीं करुणा की उनकी परछाईं ।।
वे मंथर सी लोल हिलोर फैला अपने अंचल छोर ।
कह जातीं "उस पार बुलाता है हम को तेरा चित चोर ।।"

प्रकृति के मादक वातावरण में कवियित्री उस असीम से संगीत सीखती है—

"—निशा की धो देता राकेश
चाँदनी में जब अलकें खोल;
कली से कहता था मधुमास
बतादे मधु मदिरा का मोल।
झटक जाता था पागल बात
धूल में तुहिन कणों के हार,
सिखाने जीवन का संगीत
तभी तुम आये थे इस पार।"

११—प्रतीक के रूप में प्रकृति-चित्रण—

प्रतीकों का प्रयोग तो कबीर ने भी किया है और जायसी ने भी किन्तु कबीर के प्रतीक प्राकृतिक वस्तुयें नहीं हैं और जायसी के प्रतीक इतने निश्चित और मार्मिक नहीं हैं जितने आधुनिक छायावादी कविता में। प्रतीकात्मकता तो छायावाद की मुख्य विशेषताओं में से एक है। कुछ प्रसिद्ध प्रतीक जो छायावादी कविता में अत्याधिक प्रयोग होते हैं—

अंधकार	निराशा का प्रतीक
प्रकाश	आशा का प्रतीक।
ऊषा	आह्लाद और आशा का प्रतीक
दीपक	साधना का प्रतीक।
शलभ	प्रेमी का प्रतीक या व्याकुलता का प्रतीक।
बदली	करुणा की प्रतीक

पं० रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि ये प्रतीक भावसाम्य के आधार पर निश्चित किये गये हैं।

महादेवी वर्मा की निम्नांकित पंक्तियों में देखिये कि प्राकृतिक पदार्थों का प्रतीकरूप में कैसा सुन्दर प्रयोग हुआ है—

"—नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ,

फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ,
दूर तुम से हूं अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।"

इसी प्रकार नीचे बदली को करुणा के प्रतीक के रूप में महादेवी प्रयोग करती हैं—

"—मैं नीर भरी दुःख की बदली
विस्तृत नभ का कोना कोना
कोई न कभी अपना होना।"
× × ×
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली।"

१२—विशुद्ध आलम्बन के रूप में प्रकृति-चित्रण—

विशुद्ध आलम्बन के रूप में प्रकृति-चित्रण आधुनिक युग (छायावादी युग) की ही विशेषता है। इस युग में प्रकृति के विभिन्न पदार्थों को आलम्बन मानकर कवियों ने स्वतंत्र और सुन्दर रचनायें की हैं। प्राचीन समय में तो प्रकृति का वर्णन उद्दीपन रूप में केवल भावनाओं को उद्दीप्त करने के लिये किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि तब उसका स्वतंत्र अस्तित्व ही कवि नहीं मानते थे।

पन्तजी आज के प्रमुख प्रकृति-प्रेमी कवि कहे जाते हैं। प्रकृति को आलम्बन मानकर लिखी गई उनकी निम्नांकित कविता में प्रकृति का सुन्दर चित्र देखिये—

"—अब हुआ सांध्य स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण वस्तु से विश्वहीन।
गंगा के चल जल में निर्मल
कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल।
लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर,
पड़ गई नील ज्यों अधरों पर।
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।
तरु शिखरों से वह स्वर्ण-विहंग,
उड़ गया खोल निज पंख सुभग।

किस गुहानीड़ में रे किस मग,
मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल
नव नील-नील कोमल-कोमल
छाया तरुवन में तम श्यामल।"

बादल को ही आलम्बन मानकर लिखी गई पन्तजी की कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए —

"—सुरपति के हम ही हैं अनुचर
जगत्प्राण के भी सहचर,
मेघदूत की सजल कल्पना
चातक के चिर जीवनधर,
मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर
सुभग स्वाति के मुक्ताकर,
विहग वर्ग के गर्भ विधायक,
कृषक बालिका के जलधर,
× × ×
स्वर्ण भृंग तारावलि वेष्टित,
गुंजित, पुंजित, तरल रसाल
मधु गृह से हम गगन पटल में,
लटके रहते विपुल विशाल।
× × ×
व्योम विपिन में जब बसन्त-सा
खिलता नव पल्लवित प्रभात,
बहते हम तब अनिल स्रोत में
गिर तमाल तम के से पात।
× × ×
हम सागर के धवल हास हैं
जल के धूम गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव
वारि वसन वसुधा के मूल।
नभ में अवनि, अवनि में अम्बर
सलिल भस्म मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल
दिन के तम पावक के तूल।

× × ×

धूम धुँआरे काजर कारे
हम ही विकरारे बादर,
मदनराज के वीर बहादुर
पावस के उड़ते फणिधर,
चमक-झमक मय मंत्र वशीकर
छहर-घहर मय विष सीकर,
स्वर्ग सेतु से इन्द्रधनुष धर
कामरूप धन श्याम अमर।"

बादल को आलम्बन मानकर लिखी गई युग प्रवर्तक कवि 'निराला' की निम्नांकित कविता पन्तजी की कविता की तुलना में देखिए —

"—झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर,
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर।
झर-झर-झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में।
सरित-तड़ित-गति-चकित पवन में,
मन में, विजन-गहन कानन में—
आनन्द आनन में रव घोर कठोर-
राग अमर अम्बर में भर जिन रोर।"

"—अरे वर्ष के हर्ष
बरस तू बरस सरस रसधार।
पार ले चल तू मुझको,
बहा, दिखा मुझको भी निज
गर्जर भैरव संसार
उथल-पुथल कर हृदय—
मचा हलचल—
चल रे चल—
मेरे पागल बादल!
धँसता दलदल
हंसता है नद खल-खल
बहता, कहता कुलकुल, कलकल-कलकल

देखे-देखे नाचता हृदय
बहने को महाविकल-बेकल
इसी मरोर से इसी शोर से—
सघन घोर गुरु गहन रोर से
मुझे गगन का दिखा सघन वह छोर,
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर।"

प्रकृति का जो वैभव छायावादी काव्य में मिलता है केवल इसी एक कारण से छायावादी काव्य अपनी पूर्व परम्परा के समक्ष गर्व से अपना सिर ऊँचा कर सकता है। प्रकृति की ओर आज के युग के कवियों का ध्यान अधिक गया है और फलतः आलम्बनरूप में प्रकृति-चित्रण से आधुनिक काव्य भरा पड़ा है।

१३—दूतरूप में प्रकृति-चित्रणः—

प्राचीन काल से प्रकृति के पदार्थों को कवि दूत के रूप में संदेश भेजने का कार्य करने के लिए प्रयुक्त करते रहे हैं। कविश्रेष्ठ कालिदास का मेघदूत काव्य भी इस आधार पर लिखा गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी कवियों में 'सूर', 'नंददास' तथा 'सत्यनारायण' आदि ने भ्रमर को दूत के रूप में प्रयुक्त किया है। 'जायसी' की 'नागमती' ने भी एक परेवा के द्वारा अपना संदेश रत्नसिंह के पास भेजा था।

आधुनिक युग में 'प्रियप्रवास' में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने पवन से दूत का कार्य लिया है। इस प्रकार उनका यह पवनदूत, दूत के रूप में प्रकृति-चित्रण का सुन्दर उदाहरण है। राधा पवन के द्वारा अपना संदेश कृष्ण के पास भेजती हैं। उनके संदेश की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना असंगत न होगा। राधा पवन को सब बातें समझाती हुई कहती हैं—

"—ज्योंही मेरा भवन तज तू अल्प आगे बढ़ेगी।
शोभावाली अमित कितनी कुंज पुंजें मिलेंगी।
प्यारी छाया मृदुल स्वर से मोह लेंगी तुझे वे।
तो भी मेरा दुख लख यहाँ तू न विश्राम लेना॥
थोड़ा आगे सरस रव का धाम सत्पुष्प वाला।
लोने-लोने बहु द्रुम लतावान सौन्दर्यशाली।

प्यारा वृन्दाविपिन मन को मुग्धकारी मिलेगा।
आना जाना इस विपिन से मुह्यमाना न होना॥

× × × ×

संलग्ना हो सुखद जल के श्रान्ति हारी कणों से।
ले के नाना कुसुमकुल का गंध आमोदकारी।
निर्धूली हो गमन करना उद्धता भी न होना।
आते-जाते पथिक जिससे पंथ में शान्ति पावें॥

× × ×

जो पुष्पों के मधुर रस को साथ आनंद बैठे।
पीते होवें भ्रमर-भ्रमरी सौम्यता तो दिखाना।
थोड़ा-सा भी न कुसुम हिले औ न उद्विग्न वे हों।
क्रीड़ा होवे नहिं कलुषिता केलि में हो न बाधा॥

यह तो नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति-चित्रण के और भेद होना अब सम्भव नहीं है किन्तु प्रकृति-चित्रण के उपरोक्त भेद अत्यन्त प्रमुख हैं। वैसे तो प्रकृति-चित्रण की प्रणालियाँ इतनी अधिक हैं कि उनको भेदोपभेदों में बाँटना और सफलतापूर्वक बाँटना एक सरल कार्य नहीं हैं।

आधुनिक युग प्रकृति-चित्रण का स्वर्ण युग कहा जा सकता है क्योंकि आज आलम्बन के रूप में ही प्रकृति-चित्रण होता है। आज प्रकृति की एक स्वतन्त्र सत्ता मानली गई है। पं रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत पहले अपनी आलोचनाओं के द्वारा लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण आलम्बन के रूप में होना चाहिए।

———

:: १५ ::

शुक्लजी—निबन्धकार और आलोचक के रूप में

शुक्लजी आलोचक के रूप में—

हिन्दी में शुक्लजी का ऐतिहासिक महत्त्व भी है और सहित्यिक महत्त्व भी। ऐतिहासिक महत्त्व तो इसलिए कि जिस समय शुक्लजी ने लिखना आरम्भ किया उस समय तक हिन्दी में आलोचना और निबन्ध साहित्य गर्व करने योग्य तो दूर, संतोषजनक तक न था। शुक्लजी अपने ढंग के निबन्ध और आलोचना लिखनेवाले सर्वप्रथम व्यक्ति थे। साहित्यिक महत्त्व इसलिए कि उनकी रचनायें आज भी उसी मान और स्थान की अधिकारिणी हैं जिसकी वे अपने जन्म के समय थीं। समय के प्रभाव ने उनके रूप-रंग को धोकर फीका नहीं किया अपितु और भी उज्जवल किया है। शुक्लजी आज भी अपने विषय (निबन्ध आलोचना) के सर्वश्रेष्ठ लेखक माने जाते हैं। निबन्धकार और आलोचक के नाते शुक्लजी की विशेषतायें केवल रूप-विषयक ही नहीं वस्तु-विषयक भी हैं। शुक्लजी ने अपने गहन अध्ययन और मनन के के पश्चात् कुछ निश्चित सिद्धान्तों को जन्म दिया और अपने साहित्य में व्यावहारिक रूप में उनकी सर्वाङ्गीण पुष्टि भी की। शुक्लजी का महत्त्व दो बातों में है, एक तो उन्होंने साहित्य की प्राचीन परम्परा को ग्रहण तो किया ही, उसे विकसित और प्रगतिशील भी बनाया। दूसरी बात उन्होंने अपने साहित्य में युगानुकूल तत्वों का सोत्साह सम्मिश्रण किया। शुक्लजी की भावपक्ष विषयक विशेषता को स्पष्ट करने के लिये प्रसिद्ध आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी के शुक्लजी विषयक कुछ वाक्यों को उद्धृत करना असंगत न होगा।

"परन्तु इस युग की समीक्षा का पूर्ण परिपाक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक व्यक्तित्व में दिखाई पड़ा। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समीक्षकों के समीक्षा कार्यों का पूर्ण समाहार करके एक नए समीक्षादर्श

का निर्माण किया, जिसमें युगानुरूप व्यापकता थी। नामावली या शब्द संकेत उन्होंने पुरानी समीक्षा से ही लिए थे, पर व्याख्या करने में वे पूर्णतः नवीन थे।"

शुक्लजी के महत्त्वपूर्ण कार्य और उनकी असाधारण विद्वता के विषय में वाजपेयीजी आगे लिखते हैं—

"—एक प्रकार से वे तुलसीदास के नए व्याख्याता सिद्ध हुए और इसी आधार पर उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र की भी नई ही रूप-रेखा प्रस्तुत की। अर्थहीन और प्राणहीन शब्द संकेतों को नया जीवन प्रदान किया और सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का अभिनव आकलन उपस्थित करके नई युग चेतना को जन्म दिया। शुक्लजी अपने विस्तृत साहित्यिक अध्ययन के कारण संस्कृत कवियों की स्वच्छतर काव्य-भूमि पर भी गये थे। उन्होंने बाल्मीकि तथा कालिदास से काव्य-सौंदर्य और विशेषतः उनके प्रकृति-वर्णन-सौन्दर्य की विस्तृत चर्चा की है। इस क्षेत्र में वे तुलसीदास के अनुयायी नहीं हैं। इसी प्रकार सैद्धान्तिक समीक्षा के नए पहलुओं का उद्घाटन भी शुक्लजी ने अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा किया है जो परम्परागत साहित्य-विवेचन से मेल नहीं खाता। उदाहरण के लिये 'साधारणीकरण' की उनकी व्याख्या और काव्य में अभिधेयार्थ और व्यङ्गार्थ के सापेक्षिक महत्त्व पर उनके वक्तव्य दृष्टव्य हैं। अंग्रेजी साहित्य के नए सैद्धान्तिक विवेचनों और परीक्षा-विधियों से वे परिचिति थे और विभिन्न अवसरों पर उसका उल्लेख भी करते गये हैं। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि अंग्रेजी साहित्य के उन्हीं समीक्षकों की उन्होंने चर्चा की है जो उनके पूर्व निरूपित आदर्शों के अनुरूप थे। × × × कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने अपनी महान् उद्भावना-शक्ति और असंदिग्ध आचार्यत्व के अनुरूप जहाँ कहीं से जो कुछ भी साहित्यिक मर्म या तथ्य प्राप्त हो सका, उसका स्वच्छंदतापूर्वक उपयोग किया।"

शुक्लजी का आलोचकरूप उनके हिन्दी-साहित्य के इतिहास, सूर, तुलसी तथा जायसी विषयक विस्तृत निबन्धों से स्पष्ट हो जाता है। शुक्ल जी के सफल आलोचक होने में उनकी अन्य विशेषताओं का भी बहुत कुछ हाथ है। अतः उनपर विचार करना भी आवश्यक है:—

१—शुक्लजी की एक बड़ी विशेषता है उनकी आलोचना का व्यवस्थित होना। शुक्लजी आलोच्य विषय को कुछ निश्चित भागों में

बाँट लेते हैं और फिर क्रमशः उन्हें अपनी आलोचना में स्पष्ट करते चले जाते हैं। उदाहरण के लिये उनकी 'भ्रमरगीत-सार' पर लिखी आलोचना देखी जा सकती है। इसमें उन्होंने विषय को दो भागों में विभाजित कर दिया है:—१—भावपक्ष, २—कलापक्ष। शुक्लजी सर्वप्रथम अलोच्य विषय के सामान्य पक्ष पर प्रकाश डालते हैं, तत्पश्चात उसके विशिष्ट पक्ष पर। उदाहरण के लिये उनकी 'पद्मावत' की भूमिका को लिया जा सकता है जिसमें उन्होंने प्रथम तो प्रेम की सामान्य पद्धतियों का उल्लेख किया और फिर मसनवी शैली की विशिष्टता को स्पष्ट किया है और साथ ही नागमती या पद्मिनी के प्रेम के विशिष्ट प्रकार पर भी प्रकाश डाला है।

२—शुक्लजी की पैठ (Insight) बड़ी गहरी है, उनका मनन गम्भीर और विचार परिपक्व हैं। इसलिए किसी विषय की तह तक पहुँचने में उन्हें देर नहीं लगती। शुक्लजी विषय की क्रमशः व्याख्या करते हैं और क्रमशः किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। शुक्लजी का निष्कर्ष उनकी स्पष्ट एवं विशद व्याख्या का स्वाभाविक परिणाम होता है, अचानक थोपा हुआ निर्णय नहीं।

३—शुक्लजी की आलोचनायें प्रायः विश्लेषण-प्रधान होती हैं, उसका मुख्य कारण यह है कि शुक्लजी लेखक के माध्यम से कृति तक नहीं पहुँचते अपितु कृति के माध्यम से लेखक तक पहुँचते हैं। शुक्लजी की आलोचना में न तो किसी की एकान्त प्रशंसा और न बुराई ही मिलेगी। उनकी आलोचना में गुण-दोषों का सम्पर्क विवेचन मिलेगा।

४—शुक्लजी अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं एवं धारणाओं के माध्यम से साहित्य को देखते हैं और इसी आधार पर किसी कृति का खण्डन या मण्डन करते हैं।

५—शुक्लजी लोकधर्म के बड़े समर्थ हैं। जो वस्तु लोकोपयोगी नहीं, चाहे फिर वह कितनी ही सुन्दर क्यों न हो शुक्लजी की दृष्टि में वह कुरूप ही रहेगी। शुक्लजी सुन्दरता के साथ दो बातें और पसन्द करते हैं—शील और शक्ति। शुक्लजी की दृष्टि में केवल वही चरित्रपूर्ण तथा अनुकरणीय है जो सौन्दर्य, शील एवं शक्ति समन्वित हो। शक्ति तो राक्षसों में भी होती है किन्तु केवल शक्ति के कारण वे पूज्य एवं अनुकरणीय नहीं हैं। इसी प्रकार सौन्दर्य और शील भी शक्ति के अभाव

में व्यर्थ हैं। यही कारण है कि तुलसी द्वारा कल्पित राम का शील, शक्ति तथा सौन्दर्य समान्वित रूप शुक्लजी को सर्वाधिक पसन्द है। संक्षेप में शुक्लजी की आलोचना का केन्द्रबिन्दु है—लोकधर्म और उनकी आलोचना की परिधि—शीलशक्ति और सौन्दर्य का स्पर्श करती हुई चलती है। शुक्लजी से पूर्व आलोचना-साहित्य में लोककल्याण के प्रति इतना सचेत कोई आलोचक नहीं रहा। साहित्य को जीवन से पृथक निरपेक्ष रूप में देखने की परम्परा को शुक्लजी ने समाप्त कर दिया। जो कला लोक कल्याणकारी नहीं, जीवन को उठानेवाली नहीं, उसे वे कला नहीं कहते। 'कला—कला के लिए' के अनुयायियों के लिए शुक्लजी सदैव एक 'मुँहतोड़ उत्तर' के रूप में हिन्दी-जगत में अमर रहेंगे।

६—शुक्लजी ने स्वयं ही साहित्यिक सिद्धान्त स्थिर किये हैं और स्वयं ही व्यावहारिक आलोचनायें भी प्रस्तुत की हैं। उदाहरणार्थ, 'साधारणीकरण' के विषय में शुक्लजी का अपना मत था तथा रहस्यवाद के विषय में उनकी अपनी धारणा थी। शुक्लजी का विश्वास था कि अज्ञात के प्रति उत्सुकता तो हो सकती है पर प्रणयानुभूति नहीं और इसीलिए आज की रहस्यवादी एवं छायावादियों कविताओं को वे पाखंड ही समझते रहे क्योंकि इनके विचार से वे कवितायें अनुभूति-शून्य तथा केवल काल्पनिक थीं। आध्यात्मिक सच्चाई का उनमें नितांत अभाव था। लोकसंग्रही भावनाओं के अभाव के कारण वे इन कविताओं को भाव की दृष्टि से भी ऊँचा स्थान नहीं देते थे क्योंकि ये कवितायें जीवन की वास्तविकता एवं विविधता से दूर केवल कल्पना-वैभव में पली तथा फलीफूली थीं। वे जीवन की धरती से अपना रस ग्रहण नहीं करती थीं अपितु कल्पना के आकाश में केवल वायु (अव्यक्त तथा सूक्ष्म) पीकर ही किसी प्रकार अपना अस्तित्व बनाए रखने में प्रयत्नशील थीं। शुक्लजी साहित्य को चित्र-विचित्र कल्पनाओं का विचित्रालय (अजायबघर) नहीं मानते थे। वे तो उसे लोकधर्म का शिक्षालय मानते थे। इसलिए साहित्य में असामाजिक, जीवन की कठोरता से दूर ये वायवी तत्व कभी-कभी उनके लिए असह्य हो जाते थे और वे क्रुद्ध होकर पाखण्ड-उद्घाटन के लिए कभी-कभी इन पर कठोर व्यंग-वाण वर्षा भी करते थे।

हिन्दी-साहित्य में शुक्लजी न केवल एक आलोचक अपितु आचार्य के रूप में भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। आलोचना के नये (स्वयं

के) सिद्धान्त स्थिर कर उन्हें व्यावहारिक रूप उन्होंने दिया ही, इसके साथ-साथ युग-युग से स्वच्छंद बढ़ी चली आती भ्रांत धारणाओं पर भी उन्होंने तर्क-कुठार चलाया। शुक्लजी अलंकारों के सौन्दर्यहीन विस्तार और नायिका भेद के समाज-विघातक अति-प्रसार को देखकर भी लुब्ध होते थे। शुक्लजी को उन लोगों पर हँसी आती थी जो स्वभावोक्ति को भी अलंकार मानते हैं। हर बात को अलंकार का नाम देना उन्हें पसन्द न था। 'अलंकार—अलंकार के लिए' के वे विरोधी थे वे रस को ही काव्य की आत्मा मानते थे। कविता-कामिनी को रसरहित कर अलंकारों के भार से दबा देने के वे विरोधी थे। शुक्लजी ने जायसी, तुलसी एवं सूर की विस्तृत आलोचना करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि अलंकारों का उपयोग काव्य-सौन्दर्य के बढ़ाने के लिये किया जाना चाहिये। अलंकार स्वयं सौन्दर्य नहीं है—इस भ्रम को उन्होंने स्पस्ट कर दिया है। रसरहित काव्य में अलंकारों की भरमार को उन्होंने शव की शृंगार-सज्जा कहा है।

७—साहित्यिक आलोचना ऐतिहासिक आधार पर करने का सूत्रपात सर्वप्रथम शुक्लजी ने ही किया। अब तक आलोचक 'तुलसी और बिहारी, 'केशव और तुलसी', 'सूर और केशव' आदि की तुलनात्मक आलोचना करके एक साहित्यिक भूल करते थे। विभिन्न काल की तुलना साहित्यिक न्याय कही भी नहीं जा सकती। शुक्लजी दो विभिन्न, काल के कवियों की तुलना के विरोधी हैं। शुक्लजी का कथन है कि प्रत्येक कवि अपने युग से प्रभावित होता है। अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है; इसलिए यदि उसके साथ वास्तव में न्याय करना है तो उसके रचना काल की सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक एवं व्यक्तिगत परिस्थितियों का पूर्ण अध्ययन करना अत्यावश्यक है क्योंकि कवि सामाजिक प्राणी है। वह अपनी परम्पराओं और अपने वर्तमान दोनों से प्रभावित होता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। भक्ति के पद तुलसी ने लिखे हैं, सूर ने लिखे हैं और भक्ति के पद सेनापति के भी मिलते हैं। भक्ति के दोहे बिहारी ने भी लिखे हैं तो क्या उपरोक्त सभी कवियों की तुलना सम्भव है। उत्तर स्पष्ट है—नहीं।

बिहारी के भक्ति सम्बन्धी कुछ दोहों को लिया जाय—

"—कहौ कुवत जग, कुटिलता तजौं न दीनदयाल
दुखी होउगे सरल हिय बसत त्रिभंगी लाल।

" -मोहि तुम्हें बाढ़ी बहस को जीतै यदुराज।
अपने-अपने विरद की दुहुन निबाहन लाज॥
जो अनेक पतितनु दयौ मोहूँ दीजै मोषु।
तो बाँधौ अपने गुननु जो बाँधौ ही तोषु॥
जम करि मुख तरहरि परो यह धरि हरि चितलाय।
विषय तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुनगाय॥"

यदि उपरोक्त दोहों की तुलना तुलसी के निम्नांकित दोहों से कर डाली जाय —

"—एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास।
एक राम-घनस्याम हित चातक 'तुलसीदास'॥
उपल बरसि गरजत तर ज डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥
सुनि रे 'तुलसीदास' प्यास पपीहहिं प्रेम की।
परिहरि चारिउ मास जो अँचवै जल स्वाति की॥"

तो यह तुलना उचित नहीं है और इसे साहित्यक न्याय भी नहीं कहा जा सकता। उपरोक्त दोहों के आधार पर हम बिहारी और तुलसी की तुलना केवल इसलिये नहीं कर सकते कि दोहे दोनों ने लिखे हैं। बिहारी के काल की परिस्थितियों तथा तुलसी के युग की परिस्थितियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। बिहारी की व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी परिस्थितियाँ भी तुलसी से नितान्त भिन्न थीं। बिहारी अपने आश्रयदाता की आज्ञानुसार उसके मनोरंजन के लिये और उसके परिणामस्वरूप धन के लोभ से लिखते थे परन्तु तुलसी से उनकी क्या समानता जिनका कविता के विषय में यह विचार था —

" --कीन्हें प्राकृत गुन गन गाना।
सिर धुन गिरा लागि पछिताना॥

इसी प्रकार सेनापति की भक्ति सम्बन्धी निम्नांकित पक्तियों को देखकर उन्हें भक्त घोषित कर देना और उनकी तुलना किसी भक्त कवि से करना कहाँ तक उचित और न्याय संगत होगा ?

"—करम-करम करि करमन करि,
पाप करम न करि मूढ़ सीस भयौ सेत है।"

तथा

"—आपने गुननि होंही निबहोंगो तो
होंही करतार-करतार तुम काहे को।"

बिहारी और सेनापति की पक्तियाँ उनके वाग्वै-चित्र्य को ही स्पष्ट करती है, भक्ति की भावना को नहीं। ये तो 'बात की करामात' दिखानेवाले कवि थे। शांतरस के गम्भीर सरोवर में आकंठ मग्न होने वाले कवि नहीं।

शुक्लजी ने अपने से पूर्व की तुलना की इस अनुचित परम्परा को रोका और किसी कवि के वास्तविक महत्व प्रतिपादित करने के तर्क-सम्मत साहित्यक मार्ग को खोजकर उसे प्रशस्त और परिष्कृत किया। शुक्लजी का कहना है कि एक ही समय के समान परिस्थितियों में उत्पन्न एक ही वातावरण में रहनेवाले दो कवियों की तुलना सम्भव है और ऊँच-नीच का निर्णय भी उनके विषय में दिया जा सकता है परन्तु उपरोक्त बातों के असमान और भिन्न होने पर न तो तुलना ही सम्भव है और न युक्तियुक्त निर्णय ही।

८—बुद्धि और हृदय का सुन्दर सामञ्जस्य शुक्लजी की रचनाओं में सदैव और सर्वत्र मिलता है। इसलिये शुक्लजी की आलोचना कभी भी मात्र स्तुति नहीं होती है अपितु सदैव विश्लेषण तथा विवेचन-प्रधान होती है। शुक्लजी लोककल्याण के लिये हृदय और बुद्धि का सामञ्जस्य साहित्य में आवश्यक समझते हैं क्योंकि यदि भाव-बुद्धि द्वारा नियंत्रित नहीं होंगे तो साहित्य एक अनर्गल प्रलाप हो जायगा और यदि बुद्धि हृदय के साथ असहयोग करके चलेगी तो साहित्य निष्प्राण और नीरस हो जायगा। अपनी पुस्तक 'चिन्तामणि' की भूमिका में शुक्लजी ने बुद्धि-हृदय-संयोग की बात स्पष्ट करदी है। स्वयं शुक्लजी की आलोचना में जहाँ भावुकता का पुट मिलता है वहाँ विषय को विभिन्न भागों में बाँट लेने की तथा वर्गीकरण की बौद्धिक प्रवृत्ति भी मिलती है। इसीलिये शुक्लजी की आलोचना जहाँ स्पष्ट, व्याख्यात्मक एवं वैज्ञानिक होती है वहाँ सरस और रोचक भी।

९—शुक्लजी को साहित्य और साहित्य-शास्त्र के अतिरिक्त और कितने ही विषयों का अच्छा ज्ञान है—विशेषरूप से दर्शनशास्त्र,

मनोविज्ञानशास्त्र तथा संगीतशास्त्र आदि का । इसीलिए साहित्य में इन शास्त्रों सम्बन्धी दोषों की ओर वे सदैव संकेत कर देते हैं और कहीं उनके (शास्त्रों के) द्वारा विशेष सौन्दर्य की सृष्टि होने पर उनकी प्रशंसा भी कर देते हैं। यदि पूछा जाय कि वह दूसरा विषय कौनसा है जिस पर शुक्लजी का अधिकार साहित्य के अतिरिक्त सबसे अधिक है तो इसका उत्तर होगा—दर्शनशास्त्र ।

१०—मार्मिक व्यङ्ग शुक्लजी की आलोचना की बड़ी विशेषता है । शुक्लजी व्यङ्ग का प्रयोग अपनी आलोचनाओं में मुख्यतः दो रूपों में करते हैं एक तो विशुद्ध हास्य के लिए, दूसरे विरोधी पर प्रहार करने के लिए । शुक्लजी के ये व्यंग्य उनकी सरलता, सहृदयता और विद्वत्ता के ही परिचायक हैं। शुक्लजी के व्यङ्ग का एक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा जहाँ शुक्लजी पक्के गानेवालों की शिष्ट खिल्ली उड़ाते हैं—

"—जब वे अपना मुख वृत्ताकार फाड़कर आ-आ करके विकल होते हैं तो बड़े-बड़े आलसियों का भी धैर्य विचलित हो जाता है ।"

इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है कि शुक्लजी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ समालोचक हैं । शुक्लजी हिन्दी समालोचना-साहित्य के लिए एक अमर वरदान के सदृश हैं ।

अब शुक्लजी के निबन्धकाररूप पर भी कुछ विचार किया जाय। शुक्लजी जहाँ हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं वहाँ निबन्धकार के नाते उनका नाम सर्वप्रमुख एवं सर्वप्रधान है । शुक्लजी से पूर्व हिन्दी में निबंधों की उज्ज्वल परम्परा तो थी परन्तु वास्तव में निबन्ध-कला का समुचित विकास शुक्लजी से पूर्व नहीं हुआ था। इसलिए ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों ही दृष्टियों से शुक्लजी का महत्व असाधारण है। 'हिन्दी का निबन्ध साहित्य—एक सर्वेक्षण' नामक निबन्ध में श्री विजय-शंकर मल्ल शुक्लजी के विषय में लिखते हैं—

"—द्विवेदी युग में विषय के वैविध्य के साथ ही विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ, लेखक और निबन्धकार साहित्य के क्षेत्र में आए । साहित्य को अपना विशेष क्षेत्र चुननेवाले तो बहुत हुए पर उनके लेखों में अर्जित ज्ञान की पुनरावृत्ति तथा उपदेश की प्रवृत्ति अधिक मिलती है । पं० रामचद्र शुक्ल के असंगृहीत आरम्भिक निबन्ध भी ऐसे ही हैं । पर बाद के निबंधों में उनके अन्तःप्रयास से निकली विचारधारा है जो पाठकों को एक नवीन उपलब्धि के रूप में दिखाई पड़ी। साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने

लोकमंगल की भावना की प्रतिष्ठा नवीन और प्रभावपूर्ण ढंग से की। साहित्य ही पर नहीं, उसमें निहित विचारों और उन विचारों की प्रेरक सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों पर भी अपने ढंग से विचार किया। नैतिकता को शुक्लजी ने व्यावहारिक बनाया। रूढ़िवादी धार्मिक नैतिकता का खंडन करके इन्होंने 'भावयोग' का महत्त्व दिखाया। यह कार्य स्वतन्त्र मस्तिष्क और भावुक हृदय के योग से ही सम्भव हुआ। इस प्रकार शुक्लजी ने अपने व्यक्तिगत प्रयास से मानव जीवन की उच्चता और उसमें छिपी नई सम्भावनाओं को दिखाया। उनके निबन्धों का सबसे अधिक महत्त्व इसी बात में है। श्री प्रतापनारायण मिश्र, भट्टजी और द्विवेदी सबने नैतिक उपदेश देने वाले शिक्षात्मक लेख भी लिखे -अन्तिम दो ने मनोविकारों पर भी लिखा, पर विचार की दृष्टि से उनमें वह वैयक्तिक प्रयास नहीं जिसके द्वारा पाठक को कोई नूतन उपलब्धि हो। 'लोभ' और 'क्रोध' पर द्विवेदीजी ने लिखा अवश्य पर इसलिए लिखा कि लोग इनके अवगुणों से परिचित हो जाँय और इनसे बचें। वही इन्द्रिय-निग्रहवाली पुरानी निषेधात्मक धार्मिक नैतिकता। पर शुक्लजी कहते हैं कि 'मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में ही है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोवेगों को दूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है।' 'क्रोध' से बराबर बचने का उपदेश वे नहीं देते। उनके विचार से तो 'सामाजिक जीवन के लिए क्रोध की बड़ी आवश्यकता है।' उन्होंने 'लोभ' की आवश्यकता और उपयोगिता भी दिखाई है। 'लोभ' से बराबर बचनेवाला तो जड़ हो जायगा। जन्मभूमि प्रेम के मूल में 'लोभ' ही है। इस तरह की बातें कह कर शुक्लजी एक व्यावहारिक दर्शन का साहित्य और जीवन से सुन्दर सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं। उनके मनोविकार सम्बन्धी और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचनावाले निबन्धों में यह प्रवृत्ति सामान्य रूप से पाई जाती है। उनके निबन्धों की असली विशेषता यही है जो व्यक्ति-प्रधान निबन्धों की नहीं, विषय-प्रधान निबन्धों की विशेषता है।

उनके निबंधों में गहन विचार-बीथियों के बीच-बीच में सरस भाव-स्रोत मिलते हैं। 'लोभ और प्रीत', 'करुणा' तथा 'श्रद्धा-भक्ति' जैसे निबंधों में जगह-जगह उनकी तन्मयता देखने ही योग्य है। वैयक्तिता प्रदर्शक संस्मरणात्मक संकेत, व्यङ्ग विनोद के छींटे और कहीं-कहीं

विषयान्तर भी उनके निबन्धों में मिलते हैं, पर प्रतिपाद्य विषय को वास्तव में वे कभी भूलते नहीं। उनकी विचारधारा बराबर प्रतिपाद्य विषय से नियंत्रित होती है।

"द्विवेदी युग की शास्त्रीय गद्य-शैली को एक नया रूप देकर शुक्लजी ने उसे बहुत ऊँचा उठा दिया। विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन की दृष्टि से इनमें वैज्ञानिक की सूक्ष्मता और सतर्कता दिखाई देती है और भावों को प्रेरित करने के विचार से पूरी सहृदयता के दर्शन होते हैं। इनके घनीभूत वाक्यों की ध्वनि दूर तक जाती है।"

उपरोक्त पंक्तियों में विद्वान लेखक ने शुक्लजी के निबन्धकार रूप की भाव एवं कलापक्ष विषयक विशेषताओं को संक्षेप ही में व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है।

अपनी निबन्ध-पुस्तक 'चिंतामणि' की भूमिका में शुक्लजी ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है कि उनके निबन्ध हृदय और मस्तिष्क के समन्वय से प्रसूत हैं इसलिये शुक्लजी के निबन्धों का गठन वैज्ञानिक तथा प्रतिपादन भावुकतापूर्ण हैं। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक विषयों जैसे 'लोभ और प्रीत', 'श्रद्धा-भक्ति' तथा 'करुणा' आदि का गम्भीर विवेचन करनेवाले शुक्लजी पहले लेखक हैं।

शुक्लजी ने केवल मनोवैज्ञानिक लेख ही नहीं लिखे हैं। विषय प्रतिपादन की शैली की दृष्टि से शुक्लजी के निबन्धों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

१—आत्मव्यंजक निबन्ध।
२—वर्णनात्मक निबन्ध।
३—विचारात्मक निबन्ध।
४—कथात्मक निबन्ध।

शुक्लजी के कथात्मक निबन्धों को भी दो भागों में बाँट देना सम्भव है :—

१—विषय-प्रधान निबन्ध।
२—व्यक्ति-प्रधान निबन्ध।

यद्यपि हिन्दी में शुक्लजी विचार-प्रधान निबन्ध लेखक के ही रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं किन्तु उनके 'व्यक्ति' की छाप उनके निबन्धों

पर सर्वत्र मिलती है। वैसे तो शुक्लजी के निबन्ध विषय-प्रधान ही अधिक हैं किन्तु कहीं कहीं उनका 'व्यक्ति' विषय से अधिक प्रामुख्य पा जाता है। इस विषय में एक उदाहरण उनकी रचना से देना अप्रासंगिक न होगा—

"रात्रि में विशेषतः वर्षा की रात्रि में झींगुरों और झिल्लियों की झँकार मिश्रित चीत्कार का बँधा तार सुन कर मैं यही समझता था कि रात बोल रही है।"

इतना अवश्य है कि इस प्रकार के उदाहरणों की शुक्ल जी में प्रचुरता नहीं है। जहाँ कहीं उनका हृदय भावशबलित हो जाता है वहाँ शुक्लजी की का 'व्यक्ति' विषय की अपेक्षा अधिक उभर उठता है।

प्रत्येक लेखक अपनी पूर्ण परम्परा का विकसित रूप होता है अर्थात् वह अवश्य ही अपने पूर्ववर्ती लेखकों से प्रभावित होता है। भारतेन्दु युग निबन्धो का ही युग माना जाता है और उस काल के निबन्धो या निबन्धकारों की सबसे बड़ी विशेषता है उनका तीखा व्यंग्य। शुक्लजी ने भारतेन्दु युगीन व्यंग्य की परम्परा को अधिक विकसित एवं प्रखर किया है। व्यङ्ग साहित्य में सजीवता का प्रतीक है और अपने जनक (लेखक) की सहृदयता एवं सजीवता का भी अनायास उद्घाटन कराते हैं। शुक्लजी की रचनाओं में व्यङ्ग प्रायः दो रूपों में मिलता है :—

१—जहाँ वे शुद्ध हास्य की सृष्टि करना चाहते हैं।

२—जहाँ वे अपने विरोधी को नीचा दिखाने के लिये उसकी बुद्धि का मज़ाक उड़ाना चाहते हैं।

यह स्मरणीय है कि विनोद की सृष्टि के लिये शुक्लजी उर्दू के शब्दों का प्रयोग निस्संकोच करते हैं। वे इन शब्दों को हास्य-सृष्टि के लिये आवश्यक तक समझते हैं। इस विषय में शुक्लजी का मंतव्य दृष्टव्य है—

"हँसी मजाक के लिये कुछ अरबी-फ़ारसी के चलते शब्द कभी-कभी कितना अच्छा काम देते हैं यह हम लोग बराबर देखते हैं।"

इसीलिये संस्कृतगर्भितभाषा में लिखते हुए भी शुक्लजी का दृष्टिकोण अरबी-फ़ारसी के प्रति बहिष्कार का नहीं है। भाषा की

भाव-व्यंजकता बढ़ाने के लिए वे विदेशी शब्दों का भी सहर्ष स्वागत करते हैं। इस विषय में डा० श्यामसुन्दर और शुक्लजी का मतैक्य है।

अब शुक्लजी की व्यङ्ग-विषयक विशेषता को लिया जाय।

१—शुद्ध हास्य की दृष्टि से व्यंग्य का प्रयोग—

"—कम से कम मैंने इतना तो अवश्य सिद्ध कर दिया कि मेरा इस परिषद् का सभापति चुना जाना कला की दृष्टि से अनुपयुक्त हुआ।"

इसी प्रकार आज के वाग्वीरों का मज़ाक उड़ाते हुए शुक्लजी एक स्थान पर लिखते हैं—

"वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं और काफी तादाद में।"

विरोधियों पर प्रहार करने के लिए शुक्लजी अस्त्र के रूप में भी व्यङ्ग का प्रयोग कहीं-कहीं करते हैं, जैसे—

"जो कोई यह कहे कि अव्यक्त और अनन्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्य-क्षेत्र से निकल मतवालों (साम्प्रदायिकों) के बीच अपना हावभाव और नृत्य दिखलाना चाहिये।"

शुक्लजी के निबन्धों में मस्तिष्क के कठोर शासन में भी कभी-कभी उनकी भावुकता का विस्फोट हो उठता है। शुक्लजी की भावुकता का एक उदाहरण देना अनुचित न होगा—

"मोटे आदमियों! तुम जरा सा दुबले हो जाते अपने अंदेशे से ही सही तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।"

शुक्लजी के निबन्धों में भाषा का चमत्कारपूर्ण एवं आलंकारिक प्रयोग भी खूब मिलता है। विरोधाभास का एक उदाहरण देना उचित होगा—

"वात्सल्य और शृंगार का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया उतना किसी अन्य कवि ने नहीं।"

कहीं-कहीं तुकयुक्त वाक्य भी शुक्लजी की भाषा में मिल जाते हैं, जैसे—

"इधर हम हाथ जोड़ेंगे, उधर वे हाथ छोड़ेंगे।"

शुक्लजी की शैली निगमन शैली है। शुक्लजी अपनी बात आरम्भ में सूत्ररूप में कह देते हैं और फिर उसकी व्याख्या करते चले जाते हैं। उनकी 'श्रद्धा-भक्ति' नामक निबन्ध की आरम्भिक पंक्तियाँ हमारी बात की पुष्टि करेंगी—

"किसी मनुष्य में जन साधारण से विशेष गुण या शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थाई आनन्द-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे 'श्रद्धा' कहते हैं। 'श्रद्धा' महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है।"

पूरे 'श्रद्धा-भक्ति' लेख का प्रतिपाद्य विषय वास्तव में उपरोक्त कुछ ही पंक्तियों में सीमित है किन्तु इसी बात को अपने पूरे निबन्ध में विस्तार के साथ शुक्लजी ने भिन्न-भिन्न शब्दों में स्पष्ट किया है। किन्तु इस विषय में एक बात ध्यान रखने की है कि पाठक एक ही बात की बार-बार आवृत्ति देखकर भी शुक्लजी पर पिष्टपेषण का दोष नहीं लगाना चाहता। उसका एक कारण है कि शुक्लजी अपनी सूत्ररूप में कही गई बात को फिर उदाहरण दे देकर स्पष्ट करते हैं–उससे दो बातें होती हैं। एक तो शुक्लजी के निबन्धों में कथा का-सा आनन्द आने लगता है, दूसरे निबन्ध का प्रतिपाद्य विषय पाठक के निकट उत्तरोत्तर स्पष्ट ही होता चला जाता है। डा० श्यामसुन्दरदास की पद्धति ठीक सके विपरीत है। श्यामसुन्दरदासजी, शुक्लजी की पद्धति को दोषपूर्ण मानते हैं। श्यामसुन्दरदासजी पहले अपनी बात का विश्लेषण करते हैं और अंत में सूत्ररूप में उसे रख देते हैं।

शुक्लजी का निबन्ध वास्तव में 'बँधा' और इतना गठा होता है कि उसमें से 'है' तथा 'कि' जैसे शब्द निकालने पर ही उनके वाक्यों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। शुक्लजी के वाक्यों में अनुच्छेदों (पैराग्राफ) में उनका विचार अन्तसूत्र की भाँति सर्वव्याप्त रहता है।

आचार्य शुक्ल के अगाध पाण्डित्य, उनके महान आचार्यत्व से हिन्दी-साहित्य कृतकृत्य हुआ है और उनकी मधुर, विषयानुकूल संस्कृतगर्भित एवं तर्कपूर्ण शैली से हिन्दी भाषा गौरवान्वित हुई है।

———

: : १६ : :

काव्य में अलंकारों का स्थान

काव्य की साधना, भाव और भाषा की साधना है। सभ्यता के उषाकाल से मनुष्य अपने भावों को प्रौढ़ और बाणी को माँजने का प्रयत्न करता रहा है। भाषा, काव्य का मूल स्रोत है। आरम्भ में मनुष्य कम भाव की अभिव्यक्ति के लिये अधिक शब्दों का अपव्यय करता रहा होगा। किन्तु धीरे-धीरे उसने कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव व्यक्त करने की सामर्थ्य प्राप्त कर ली। मनुष्य की यह भाषा-विषयक साधना ही काव्य के क्षेत्र में अलंकारों की जननी है।

मनुष्य जब कोई असाधारण वस्तु देखता है तो उसे व्यक्त करने की उसकी इच्छा जहाँ अत्यन्त बलवती-वेगवती होती है, वहाँ वह अत्यन्त स्वाभाविक भी है। किन्तु वह दृष्टि वस्तु का यथावत् वर्णन किस प्रकार करे यही मनोवैज्ञानिक भावना काव्य के अलंकारों का भी रहस्योद्घाटन कर सकती है।

कल्पना की जाय कि किसी व्यक्ति ने असाधारण रूप से तीव्र दौड़ते किसी अश्व को देखा और वह अब उस भाव को यथावत् व्यक्त करना चाहता है। तो वह कथन की किसी ऐसी प्रणाली को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाएगा जिससे उसका श्रोता चमत्कृत हो जाय और वर्णित भाव को वह उसी रूप में अनुभव कर सके जिस रूप में वक्ता ने अनुभव किया है। अगर वक्ता केवल इतना ही कहे कि 'मैंने एक अत्याधिक तीव्रगामी अश्व देखा है' तो इस कथन से श्रोता के हृदय पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ेगा और श्रोता इसी बात को यदि इस प्रकार कहे कि उसने ' एक अश्व तीर के समान तेज़ दौड़ते देखा है' तो श्रोता के मस्तिष्क में तुरन्त तीर की तेज़ी कौंध जायगी और इस प्रकार वह अश्व की असाधारणगति की उचित कल्पना कर सकेगा।

तुलसी ने 'कवितावली' के लंका कांड में पर्वत धारण करके जाते हुए हनुमानजी का एक चित्र दिया है। उत्प्रेक्षा अलंकार के कारण उस चित्र में कितनी सजीवता आ गई है। यहाँ अलंकार भावानुभूति में सहायक होकर आया है।

"—लीन्यौ उखारि पहार विसाल'
चल्यौ तेहि काल विलम्ब न लायौ।
मारुतनन्दन मारुत को,
मन को खगराज को वेग लजायो ॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो,
पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परव्वत की,
नभ लीक लसी कपियों धुकि धायो ॥

अब प्रश्न उठता है कि अलंकार कहते किसे हैं? काव्य से इनका क्या सम्बन्ध है? और काव्य में इनका स्थान क्या है?

अलंकार शब्द का अर्थ है—आभूषण। अलंकार (आभूषण) जिस प्रकार शरीर की शोभा को द्विगुणित कर देते हैं उसी प्रकार अलंकार काव्य की शोभा बढ़ानेवाला धर्म है ("काव्य शोभा करान् धर्मान्-लंकारान् प्रचक्षते"—दंडी,)।

अधिकांश आचार्य अलंकार को काव्य में गौण स्थान देते हैं। उनका कथन है—अलंकारों के अभाव में भी काव्य-रचना सम्भव है। काव्य प्रकाशकार-'मम्मट' का कथन है कि दोषरहित शब्द और अर्थ ही काव्य हैं। फिर अलंकार चाहे उसमें न भी हों (तद्दोषौ शब्दार्थौं सगुणावनलंकृती पुनः कापि) रस सम्प्रदायक के आचार्य विश्वनाथ रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं और अलंकारों को दूसरा स्थान देते हैं किन्तु अलंकारों को ही काव्य की आत्मा माननेवाले आचार्यों की संस्कृत में कमी नहीं है। इसलिये एक दृष्टि संस्कृत साहित्य के इन विभिन्न काव्य सम्प्रदायों पर डाल लेना अनुचित न होगा।

प्रसिद्ध सम्प्रदाय और उनके आचार्य—

१—अलंकार सम्प्रदाय; आचार्य दण्डी, मम्मट उद्भट, आदि।
२—वक्रोक्ति सम्प्रदाय; आचार्य कुन्तल।
३—रीति सम्प्रदाय; आचार्य वामन।

४—ध्वनि सम्प्रदाय; आचार्य ध्वनिकार और आनन्दवर्द्धन।
५—रस सम्प्रदाय; आचार्य भरतमुनि, विश्वनाथ।

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में अलंकारों को प्राथमिकता देनेवाले आचार्यों की संख्या भी कम नहीं है।

आचार्य दण्डी अलंकारों के प्रमुख समर्थकों में हैं। वे अलंकार को काव्य की शोभा बढ़ानेवाला धर्म मानते हैं।

जयदेव पीयूष वर्ष (चन्द्रालोककार) तो अलंकारों को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि वे अलंकार के अभाव में काव्य का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते और ऐसे लोगों की बुद्धि पर वे खेद और शंका प्रकट करते हैं जो काव्य का अस्तित्व अलंकारों के अभाव में भी मानते हैं। उनका कथन है कि—

"–अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥"

(अर्थात् जो तथाकथित विद्वान अलंकारहीन शब्दार्थ को काव्य मानने के लिए उद्यत हैं वे अग्नि को उष्णताहीन क्यों नहीं मानते?)

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशव भी इसी अलंकारवादी परम्परा में ही थे। उनका कहना है कि स्त्री और काव्य की शोभा अलंकारों के अभाव में कैसे हो सकती है—

"—जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिना न सोहई कविता बनिता मित्त॥"

महर्षि वेदव्यास तो अलंकारहीन सरस्वती (कविता) को विधवा के समान बताते हैं। "—अर्थालङ्कार रहिता विधवेव सरस्वती।"

—अग्निपुराण।

२—वक्रोक्ति सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के आचार्य कुन्तल वक्रोक्ति को बड़े व्यापक अर्थ में लेते हैं। कुन्तल वक्रोक्ति के विषय में लिखते हैं—

"वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य भंगी भणितिरुच्यते" (अर्थात् कवि कौशल द्वारा प्रयुक्त विचित्रता ही वक्रोक्ति है)।

कुन्तल तो उस वाक्य को ही साहित्य के अन्तर्गत नहीं मानेंगे जिसमें कुछ विचित्रता न हो। कुन्तल-रस, अलङ्कार, ध्वनि आदि सबको

वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही मानते हैं। स्पष्ट है कि यह सम्प्रदाय भी अलङ्कारवादियों की भाँति काव्य के कलापक्ष को ही अधिक महत्त्व देता है।

३—रीति सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के आचार्य वामन-रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं (रीतिरात्मा काव्यस्य-वामन) शब्दों के नियमित और संगठित प्रयोग को रीति कहते हैं। इस सम्प्रदाय में माधुर्य, प्रसाद, ओज आदि गुणों को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने विभिन्न रसों के उपयुक्त गुणों का निर्देश भी किया है, जैसे—माधुर्यगुण—शृंगार के लिए उपयुक्त है, ओजगुण—वीर-रस के लिए उपयुक्त है, आदि। शब्दों के प्रयोग के अनुसार तीन रीतियाँ भी मानी गई हैं—वैदर्भी, गौणी, पंचाली। यह सम्प्रदाय लगता तो है रस सम्प्रदाय के निकट का, पर वास्तव में है नहीं क्योंकि इसमें भी रस से अधिक शब्दों पर जोर दिया गया है (शब्दों के नियमित और संगठित प्रयोग की रीति कहते हैं) इसलिए यह सम्प्रदाय भी भाषा के कलापक्ष से अधिक सम्बन्ध रखता है, भावपक्ष से कम।

४—ध्वनि सम्प्रदाय—यह सम्प्रदाय वास्तव में रस सम्प्रदाय का ही व्यावहारिक रूप है। यह सम्प्रदाय अलङ्कारों, रीतियों, गुणों आदि को उनके उचित स्थान पर रखता है। ध्वनिकार के विचार से अलंकार रस के सहायक हैं और उनके मत से वे ही अलंकार सार्थक हैं जो रस परिपाक में सहायक हों—

रसभावादितात्पर्यमाश्रत्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥

(अर्थात् अलंकार तो साधन हैं उनकी सार्थकता तभी है जब वे रस तथा भाव का आश्रय लेकर चलें)।

किन्तु ध्वनि सम्प्रदाय रस सम्प्रदाय से इसलिए अलग समझा गया के रस निष्पत्ति का प्रश्न तो केवल प्रबन्ध काव्य के साथ ही उठ सकता था अर्थात् कथात्मक नाटकों के तो वह (रस सम्प्रदाय) उपयुक्त था किन्तु छोटे-छोटे दोहे (छंद) आदि में वह व्यर्थ था। अतः ध्वनि सम्प्रदाय विशेषरूप से मुक्तक काव्य के लिए ही था।

इसके अनुसार काव्य में व्यङ्ग अर्थ ही मुख्य होता है। ध्वनिकार स्पष्ट शब्दों में रस की महत्ता स्वीकार करता है और अलंकार गुणों

आदि को रस का सहायक भर मानकर उन्हें गौण स्थान देता है। अतः यह सम्प्रदाय रस सम्प्रदाय के बहुत निकट है।

५—रस सम्प्रदाय—भरत मुनि इस सम्प्रदाय के आदि आचार्य हैं। भरत मुनि काव्य में रस को सर्वप्रमुख स्थान देते हैं। इसी परम्परा में आगे चल कर आचार्य विश्वनाथ हुए जिन्होंने रस को काव्य की आत्मा घोषित किया। हिन्दी-साहित्य में भी काव्य की जो धारा बही, रस सम्प्रदाय ही उसका मूल स्रोत रहा, अलंकार सम्प्रदाय नहीं। रीति-काल में केशव इसके अपवाद हैं। वे अलंकारवादी हैं।

उपरोक्त वर्णन से एक बात स्पष्ट है कि कुछ आचार्य भाषा पर अधिक बल देते रहे और कुछ भावों पर। वास्तव में काव्य के व्यावहारिक दृष्टि से दो भाग किए जा सकते हैं :—

१—भावपक्ष,
२—कलापक्ष।

वैसे तो ये दोनों पक्ष एक दूसरे के पूरक हैं किन्तु विवेचना के लिए इन दोनों का पृथक वर्णन किया जाता है और इस प्रकार एक दूसरे के महत्त्व के उचित मूल्यांकन का प्रयत्न किया जाता है।

डा० श्यामसुन्दरदास भावपक्ष को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देते हुए लिखते हैं—

"साहित्य के इन दोनों अंगों में से उसके भावात्मक अंग की अपेक्षाकृत प्रधानता मानी जाती है और कलापक्ष को गौण स्थान दिया जाता है। सच तो यह है कि साहित्य में भावपक्ष ही सब कुछ है, कलापक्ष उसका सहायक तथा उत्कर्षवर्द्धकमात्र है।"

कलापक्ष का भी महत्त्व कम नहीं है। मैथिलीशरण गुप्त एक स्थान पर लिखते हैं—"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही है, कला।" दस आदमी एक ही बात कहते हैं लेकिन किसी की बात लोगों को प्रसन्न कर देती है और किसी की अप्रसन्न। इस अन्तर का रहस्य अभिव्यक्ति कौशल में ही छिपा है। अलंकार अभिव्यक्ति कौशल की वर्गीकृत प्रणालियाँ ही हैं। अलंकार केवल चमत्कार उत्पन्न ही नहीं करते अपितु भावानुभूति को तीव्र करने में भी सहायक होते हैं॥

अलंकारों को मुख्यरूप से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१—शब्दालंकार,
२—अर्थालंकार।

शब्दालंकारों का सम्बन्ध चूंकि शब्दों भर से होता है इसलिये ये केवल चमत्कार ही उत्पन्न करते हैं, भावानुभूति को तीव्र नहीं करते। अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि ऐसे ही अलंकार है जिनसे चमत्कारपूर्ण अनुरंजन तो होता है किन्तु भाव सौन्दर्य के उत्कर्ष में यह विशेष सहायक नहीं होते। उदाहरण के लिए निम्नांकित दोहा यमक अलंकार के शाब्दिक चमत्कार के अतिरिक्त और क्या है?

"—तो पर वारों उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी ह्वै उरबसी समान॥"

किन्तु अर्थालंकार का सम्बन्ध तो सीधा भावपक्ष से होता है। कुछ अलंकार तो भावपक्ष की विशेषताओं के साथ ऐसे मिल जाते हैं कि भिन्न प्रतीत ही नहीं होते। ऐसे अलंकार काव्य का कलात्मक सौन्दर्य तो निखारते ही हैं—साथ ही भावोत्कर्ष में भी अत्यन्त सहायक होते हैं। अलंकारों की सहायता से थोड़े से शब्दों में इतनी अधिक बात कही जा सकती है कि 'गागर में सागर भरने' की कहावत चरितार्थ होती है। देखिये बिहारी थोड़े शब्दों में ही अर्थ की कितनी व्यंजना करते हैं—

१—"डारे ठोड़ी गाढ़ गहि नैन बटोही भार।
चिलक चौंध में रूप ठग हाँसी फाँसी डारि॥

२—खौरि-पनिच भृकुटी धनुष वाधिक समरु तजि धानि।
हनतु तरुन मृग तिलक सर सुरक-भाल भरि तानि॥

३—कौड़ा आँसू बूँद कसि साँकर बरुनी सजन।
कीन्हें बदन निमूँद दृग मलिंग डारे रहत॥

४—जोग जुगति सिखए सबै मनो महामुनि मैन।
चाहत प्रिय अद्वैतत कानन सेवत नैन॥"

रूपक अलंकार के द्वारा बिहारी उपरोक्त दोहों में भाव और भाषा दोनों में चमत्कार उत्पन्न कर सके हैं। रूपक के कारण भावोत्कर्ष में भी सहायता मिल रही है। देखिए, रूपक एवं उपमा की सहायता से बिहारी कितने थोड़े शब्दों में कितना बड़ा कार्य-व्यापार चित्रित कर सके हैं।

"—डीठि-बरत बाँधी अटनु, चढ़ि धावत न डरात
इतहिं उतहिं चित दुहुन के नट लौं आवत जात।"

इसी प्रकार प्रसादजी उपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह तथा रूपक आदि के द्वारा भावों को तीव्र करने में पूर्ण सफल हुए हैं। उनके श्रद्धा के रूप-वर्णन में से कुछ उदाहरण देना असंगत न होगा।

"—नीलि परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदु अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ वन बीच गुलाबी रंग॥
आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम-
बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छवि धाम।
या कि नव इन्द्र नील लघु शृंग
फोड़ कर धधक रही हो कांत;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त।
घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुसक्यान
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।"

उपरोक्त पंक्तियों में भाव-पक्ष जितना पुष्ट है, कला पक्ष उससे भी अधिक। इसलिये दोनों के उचित समन्वय से ये पंक्तियाँ साहित्य में अमर बनी रहेंगी। यहाँ अलंकार काव्य-सौंदर्य को तो द्विगुणित कर ही रहे हैं, वे भावों के चरम उत्कर्ष में भी सहायक हो रहे हैं।

किन्तु यह कहना तर्कसंगत न होगा कि अलंकार सदैव काव्य सौंदर्य को बढ़ाते ही हैं। कभी-कभी तो वे काव्य को कुरूप तक कर देते हैं। जहाँ भाव-सौन्दर्य न होगा वहाँ अलंकार शव-शृंगार के समान लगते हैं। निम्नांकित अलंकार पीड़ित पंक्तियों को प्रसादजी की पंक्तियों से मिला कर देखिये—भेद स्पष्ट हो जायगा।

यमक अलंकार के भार से पीड़ित कुछ शुष्क पंक्तियाँ—

"—नीकी मति लेह, रमनी की मति लेह मति
सेनापति चेत कछू पाहन अचेत है।
करम करम करि करमन करि, पाप--
करम न करि मूढ़ सीस भयौ सेत है।
आवै बनि जतन ज्यों रहै बनि जतनन
पुन्न के वनिज तन मन क्यों न देत है।
आवत निराम वैस बीती अभिराम तातें
करि विसराम भजि रामै किन लेत है।"

—सेनापति

तुकांत यमक तथा अनुप्रास से अलंकृत शोभाहीन काव्य का उदाहरण लीजिए—

"—अमल कमल जहाँ सीतल सलिल लागी,
आसपास पाटिन सवनि ताल जाति है।
तहाँ नव वारी पंचवान वैस वारी महा,
मत्त प्रेम रस आस वनि ताल जाति है।
सेनापति मानो रति नीकी निरखति अति,
देखिकै जिन्हैं सुरेस वनिता लजाति है।"

—सेनापति

अलंकार वास्तव में ऐसे होने चाहिये जो वर्ण्य विषय के सौन्दर्य को बढ़ावे। इस विषय में आचार्य शुक्ल का विचार इस प्रकार है—

"अप्रस्तुत भी उसी प्रकार के भाव के उत्तेजक हों, प्रस्तुत जिस के भाव का उत्तेजक हो। किसी पात्र के लिए जो उपमान लाया जाय वह उस भाव के अनुरूप हो जो कवि ने उस पात्र के सम्बन्ध में अपने हृदय में प्रतिष्ठित किया है और पाठक के हृदय में भी प्रतिष्ठित करना चाहता है।"

अलंकार वास्तव में कथन की प्रणालियाँ हैं और ये असंख्य हैं।

शुक्लजी के कथानुसार—"जो प्रसिद्ध कवि होते हैं उनकी रचनाओं में ऐसे भाव और अलंकार मिल जाते हैं जिनका आज तक नामकरण भी नहीं हुआ। सूर, तुलसी आदि ऐसे ही समर्थ कवि हैं

जिनकी वक्रतायुक्त तथा चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ आज तक विद्वानों द्वारा वर्गीकृत नहीं हो पाई हैं।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि काव्य में अलंकारों का स्थान गौण है। रस काव्य की आत्मा है। अलंकार, काव्य की शोभा बढ़ा सकते हैं, उसमें प्राण प्रतिष्ठा नहीं कर सकते। ऐसी कविताओं की कमी नहीं है जो अलंकारों के अभाव में भी कम आकर्षक नहीं हैं। ऐसी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना असंगत न होगा—

"—ऐसे बिहाल बिवाइन सौं पग कंटक जाल लगे पुनि जोए।
हाय महादुख पायो सखा तुम आए इतै न कितै दिन खोए॥
देख सुदामा की दीन दसा करुना करिके करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सौं पग धोए॥"

—नरोत्तमदास

तथा

"—सखि हौं तो गई जमुना जल कौं सो कहा कहौं वीर विपत्ति परी।
घहराइ कै कारी घटा उनई इतनेई मैं गागरि सीस धरी॥
रपट्यौ पग घाट चढ्यौ न गयौ कवि 'मंडन' ह्वै कि बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नंद कौ बारौ अरी गहि बाँह गरीब न ठाढ़ी धरी॥"

— मंडन

तथा

"—'मा', फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी।
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी॥
लुटरी खुली अलक रज-धूसर बाहें आकर लिपट गईं।
निशा तापसी के जलने को धधक उठी बुझती धूनी॥" —'प्रसाद',

स्पष्ट है कि बिना अलंकारों के भावपूर्ण कविता लिखी जा सकती है और अलंकारों द्वारा तो कविता कामिनी का सौन्दर्य शतगुणित हो उठता है। अलंकार, भाषा से प्रथक कोई वस्तु नहीं है और भाषा, भावों की प्रतीक है इसलिए अलंकार भाव और भाषा दोनों के ही शृंगार हैं। अलंकारों के विषय में 'पन्तजी' लिखते हैं—

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार और

रीति-नीति हैं—पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झंकारें विशेष घटना से टकरा कर जैसे फेनाकार हो गई हों; विशेष भावों के झोंके खाकर बाल लहरियाँ तरुण तरंगों में फूट गई हों, कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हों; वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है। वहाँ भावों की उदारता, शब्दों की कृपण जड़ता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह इकसार हो जाती है।"

कुछ विशिष्ट एवं प्रमुख अलंकारों की संक्षेप में चर्चा करना विषयान्तर न होगा—

कुछ प्रमुख अलंकार

शब्दालंकार—

(१)—अनुप्रास—जहाँ एक ही प्रकार के वर्णों की अनेक बार आवृत्ति हो।

उदाहरण—

"—रससिंगार-मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन॥"

उपरोक्त दोहे में 'ज' और 'न' की अनेक बार आवृत्ति हुई है। इसके पाँच भेद होते हैं:— १--छेकानुप्रास, २--वृत्यानुप्रास, ३--श्रुत्यनुप्रास, ४--लाटानुप्रास तथा ५--अंत्यानुप्रास। (छेक, वृत्ति, श्रुति, लाट अरू, अंत्य पाँच विस्तार)

(२)—यमक—जहाँ निरर्थक या सार्थक वर्णों की दो बार या अधिक बार आवृत्ति हो किन्तु भिन्न अर्थ के साथ। वहाँ यमक अलंकार होता है।

उदाहरण —

तो पर बारों उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी ह्वै उरबसी समान॥

यहाँ सार्थक वर्णों (उरबसी) की कई बार आवृति हुई है किन्तु प्रत्येक स्थान पर उन वर्णों के अर्थ भिन्न हैं।

(एक शब्द पुनि पुनि परै अर्थ और ही और)।

(३)—श्लेष—जहाँ कोई शब्द एक से अधिक अर्थ देता हो वहाँ श्लेष अलंकार होता है-

उदाहरण—

(१) अज्यौं तरयौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक रंग।
नाक बास वेसरि लह्यौ बसि मुकतनु के संग॥

(२) चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये बृषभानुजा वे हलधर के वीर॥

उपरोक्त दोहे में रेखांकित शब्द एक से अधिक अर्थ देते हैं।

(४)—वक्रोक्ति—जहाँ कहनेवाला अपनी बात किसी और आशय से कहे और श्रोता उसका कुछ और ही अर्थ लगाए वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण—(१)

खोलौ जू किवार, कोहै ऐती बार ?
हरि नाम है हमारो बसौ कानन पहार में॥

कृष्ण राधा को अपना नाम (हरि) बताते हैं पर राधा उसका कुछ और ही अर्थ (बन्दर या शेर) लेती हैं और कृष्ण से जंगल में जाकर बसने को कहती हैं।

(२) प्यारी काहे आज तुम बामा ह्वै बतरात।
हमतो बामा हैं सदा की अचरज की बात॥

नायक के द्वारा प्रयुक्त बामा शब्द का अर्थ है टेढ़ी या रुष्ट किन्तु नायिका बामा शब्द का स्त्री अर्थ ग्रहण करके उत्तर देती है।

अर्थालंकार—

(५)—उपमा —जहाँ उपमान-उपमेय भाव से दो पदार्थों के समान धर्म (समानता) का कथन किया गया हो, वहाँ उपमालङ्कार होता है।

उपमा के चार अंगों को जान लेना आवश्यक है:—

१-उपमेय (प्रस्तुत, जो वर्ण्य विषय है अर्थात् जो वर्णन का मुख्य विषय है, जैसे मुख)।

२–उपमान (अप्रस्तुत, जो वर्ण्य विषय से समानता दिखाने के लिये बाहर से लाया जाय जैसे, कमल, चन्द्र आदि)।

३–धर्म (वह गुण जो उपमेय और उपमान दोनों में समान रूप से प्राप्त है जैसे, मुख और चन्द्रमा में समान धर्म (गुण) है सुन्दरता)।

४–वाचक (वे शब्द जो समान धर्म को प्रकट करते हैं। जैसे, "हरिपद कोमल कमल से" में 'से' वाचक है।

उपमा के दो भेद होते हैं :— १–पूर्णोपमा २–लुप्तोपमा। इनके भी अनेक भेद मिलते हैं।

६—पूर्णोपमा—जहां मान, उपमेय, धर्म और वाचक—ये चारों अंग शब्द द्वारा कहे जाते हैं, वहाँ पूर्णोपमा होती है।

उदाहरण—

(१) सीता का मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है।

१–सीता का मुख—उपमेय (प्रस्तुत, वर्ण्य विषय)।

२–चन्द्रमा—उपमान (अप्रस्तुत, जो बाहर से लाया गया हो)।

३–सुन्दर है—धर्म (जो दोनों में समान है)।

४–के समान—वाचक (वे शब्द जो समानता को व्यक्त कर रहे हैं)।

(२) "—चूमता था भूमि को अर्ध विधु-सा भाल।
विछ रहे थे प्रेम के दृग जाल बन कर बाल॥
छत्र-सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ।
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ॥"

१—भाल (मस्तक) और हाथ = उपमेय (वर्ण्य विषय)।

२—विधु (चन्द्र) और छत्र = उपमान (अप्रस्तुत)।

३—'चूमता था', 'उठा था' = धर्म (जो उपमेय और उपमान दोनों में समान धर्म है)।

४—सा = वाचक (जो समानता को प्रकट कर रही है)।

७—लुप्तोपमा—जहाँ उपमान, उपमेय, धर्म तथा वाचक इनमें से एक दो या तीनों का लोप हो वहाँ लुप्तोपमा होती है।

उदाहरण—

(१) "—नील-सरोरुह श्याम तरुन अरुन वारिज नयन,
करौ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन।"

१—शरीर और नयन = उपमेय (प्रस्तुत)।
२—नील सरोरुह(कमल) तथा तरुण वारिज = उपमान (अप्रस्तुत)।
३—अरुण और श्याम = धर्म (जो दोनों में समान धर्म है)
४— × = वाचक (वे शब्द जो समान धर्म का कथन करते हैं—नहीं हैं।)

इसलिये यह वाचक लुप्तोपमा का उदाहरण हुआ।

उदाहरण—

(२) "—यद्यपि जग में वहुत हैं, सुख साधक सामान।
तदपि कहूँ कोई नहीं, काव्यानन्द समान ॥"

१—काव्यानन्द = उपमेय (प्रस्तुत)।
२— × = उपमान (नहीं है)।
३— × = धर्म (नहीं है)।
४—समान = वाचक।

उपरोक्त दोहे में न उपमान है न धर्मवाची शब्द इसलिए यह धर्मोपमानलुप्त उपमा का उदाहरण है।

८—मालोपमा—

जहाँ पर एक उपमेय के लिए अनेक उपमान लाए जायँ, वहाँ मालोपमा होती है।

उदाहरण—

"- इन्द्र जिमि जंभ पर बाढ़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौंन वारिवाह पर शंभु रतिनाह पर,
ज्यों सहसबाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुम दंड पर चीता मृग झुण्ड पर,
भूषन वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।

तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ वंस पर सेर सिवराज हैं।"

१—सिवराज=उपमेय,

२—इन्द्र,
३—बाढ़व (अग्नि),
४—पौन (हवा),
५—शंभु,
६—दावा (अग्नि),
७—चीता,
८—मृगराज,
९—तेज,
१०—कान्ह (कृष्ण)।
} उपमान।

यहाँ उपमेय तो एक है 'सिवराज' और उसकेलिए उपरोक्त नौ उपमान लग गये हैं—अतः मालोपमा है।

९—प्रतीप—प्रतीप का अर्थ है उल्टा। इसमें उपमेय (प्रस्तुत) का कथन उपमान के रूप में तथा उपमान (अप्रस्तुत) का कथन उपमेय के रूप में रहता है। जैसे—

मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है न कहा जाकर इसका उल्टा कहा जाएगा अर्थात् चन्द्रमा मुख के समान सुन्दर है।

अर्थात् प्रतीप उपमा अलंकार का उल्टा होता है।

उदाहरण—

"—दृग के सम नील सरोरुह थे उनको जल राशि डुबा दिया हा,
तब आननतुल्य प्रिये शशि को अब मेघ घटा में छिपा दिया हा।"

यहाँ दृग उपमान है और सरोरुह (कमल) उपमेय। इसी प्रकार यहाँ शशि उपमान है और आनन (मुख) उपमेय।

इस प्रकार प्रसिद्ध उपमान यहाँ उपमेय बन गए हैं और उपमेय उपमान बन गए हैं। यह उपमा का उल्टा क्रम है अतः यहाँ प्रतीक अलंकार है।

१० रूपक—जहाँ उपमेय में उपमान का अभेद रूप से आरोप किया जाता है अर्थात् जहाँ उपमेय और उपमान में कोई अन्तर नहीं

रहता वहाँ रूपक अलंकार होता है। इसमें उपमा की तरह यह न कहा जाकर कि 'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' कहा जायगा 'मुख चन्द्र है।'

उदाहरण—

(१) "—रनित भृंग घण्टावली झरत दान मधुनीर।
मन्द-मन्द आवत चल्यौ कुजरु कुंज समीर॥"

यहाँ कुंज समीर में हाथी का आरोप किया गया है और कुंज समीर की विभिन्न वस्तुओं, जैसे भृंग और मकरन्द में हाथी, घण्टे तथा दान (मदजल) का आरोप किया गया है।

(२) "—या भव पारावार कौं उँलघि पार को जाइ।
तियछवि छायाग्राहिनी ग्रसै बीच ही आइ॥"

यहाँ तियछवि (स्त्री की शोभा) में छायाग्राहिनी (एक राक्षसी) का आरोप किया गया है तथा भव (संसार) में पारावार (समुद्र) का आरोप किया गया है, अतः यहाँ रूपक अलंकार है।

११—उल्लेख—जहाँ एक ही वर्णनीय वस्तु का निमित्त-भेद से ज्ञाताओं के भेद के कारण अथवा विषय के भेद के कारण अनेक प्रकार से उल्लेख या वर्णन किया गया हो, उल्लेख अलंकार होता है।

उदाहरण—

"-घनघोष समझ मयूर लगे कूकने, समझी गजेन्द्र ने दहाड़ मृगराज की।
सागर ने समझी प्रभंजन की गर्जना, पर्वतों ने समझी कड़क महावज्र की।
गंगाधर चौंके जयघोष को समझ के, गंगा आ रही हैं ब्रह्मलोक से गरजती।"

यहाँ वर्ण्यवस्तु एक ही है, जयघोष; किन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों (ज्ञाताओं) ने उसे भिन्न-भिन्न रूप से समझा है। इसलिये एक ही वर्ण्य वस्तु का अनेक रूपों में वर्णन किया गया है।

उदाहरण—

(२) "—बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त, एक सुर में समस्त संगीत।
एक कलिका में अखिल बसन्त धरापर थीं तुम स्वर्ग पुनीत।"

यहाँ वर्ण्य विषय है प्रिया और वह एक ही है किन्तु ही व्यक्ति (प्रेमी) उसे विभिन्न रूपों में देखता है।

१२—स्मरण—अपनी किसी पूर्व परिचित वस्तु की अनुपस्थिति में यदि उसी के समान किसी अन्य वस्तु को देखकर उसका स्मरण आजाय और उसका (पूर्वपरिचित वस्तु का) कथन किया जाय वहाँ स्मरण अलंकार होता है। जैसे चन्द्रमा को देखकर प्रिया के मुख की याद आजाय।

उदाहरण—

"सघन कुंज छाया सुखद, सरसिज सुरभि समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै उहि जमुना के तीर॥"

यहाँ वातावरण ने कृष्ण की याद को जागृत कर दिया है।

१३—भ्रान्तिमान—जहाँ किसी वस्तु में किसी दूसरी वस्तु के होने का भ्रम हो जाय। जैसे चकोर मुख को ही चन्द्रमा समझ कर भ्रम के कारण उसे देखने लगे।

उदाहरण—

"लगत सुभग शीतल किरन निसि सुख दिन अवगाहि।
माह सभी भ्रम सूर त्यौं रहति चकोरी चाहि॥"

यहाँ चकोरी को सूर्य में चन्द्रमा का भ्रम हो गया है इसलिये वह सूर्य को ही देखा करती है।

१४—सन्देह—जहाँ किसी वस्तु में उसी के समान किसी दूसरी वस्तु का सन्देह किया जाय किन्तु वह निश्चय की अवस्था तक न पहुँचे वहाँ सन्देह अलंकार होता है। जैसे, 'यह मुख है या चन्द्रमा', यहाँ निश्चय का अभाव है।

उदाहरण—

"कै निज नायक बँध्यौ विलोकत व्याल पासतें।
तारनि की सेना उदण्ड उतरति अकामतें
कै सुर-सुमन-समूह आनि सूर-जूह जुहारत
हरि हरि करि हरसीस एक संगहि सब डारत॥"

यहाँ कवि आती हुई गंगा की धारा को देखकर उपरोक्त सन्देह करता है।

१५—अपह्नुति – जहाँ उपमेय (प्रस्तुत) का निषेध करके उपमान का स्थापन किया जाय जैसे मुख के विषय में कहा जाय 'यह मुख नहीं चन्द्रमा है।'

उदाहरण—

"ससि में अंक कलंक को समझहु जिन सद्भाय।
सुरत-श्रसित निसि सुन्दरी सोवत उर लपटाय ॥"

यहाँ चन्द्रमा में कलंक का निषेध करके उसकी गोद में रात्रिरूपी नायिका के सोने का आरोप किया गया है।

१६—उत्प्रेक्षा—उपमेय (प्रस्तुत) की उपमान (अप्रस्तुत) में संभावना किये जाने को उत्प्रेक्षा अलंकार कहते हैं। जैसे, कहा जाय 'मुख मानो चन्द्रमा है।'

उदाहरण—

"सोहत ओढ़े पीतपट स्याम सलोने गात।
मनहुँ नील-मनि-शैल पर आतप पर्‌यौ प्रभात ॥"

'मानो' शब्द प्रायः उत्प्रेक्षा को व्यक्त करता है। इसके अतिरिक्त 'जनु' मनु, मनहु, जानहु, निश्चय, इव आदि शब्द भी प्रायः उत्प्रेक्षा के ही वाचक शब्द हैं।

यों तो उत्प्रेक्षा के कितने ही भेद-उपभेद हैं किन्तु यहाँ उनमें से कुछ मुख्य भेदों अर्थात् वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा की चर्चा की जायगी।

वस्तूत्प्रेक्षा—एक वस्तु की सम्भावना दूसरी वस्तु में किये जाने को वस्तूत्प्रेक्षा कहते हैं।

उदाहरण—ऊपर उत्प्रेक्षा का दिया गया उदाहरण "सोहत औढ़े पीतपट····" इसका भी उदाहरण है।

यहाँ पीताम्बरधारी कृष्ण का श्यामतन उपमेय है और उसमें प्रातःकालीन सूर्यप्रभा से प्रकाशित नीलमणि के पर्वत की सम्भावना की गई है।

हेतूत्प्रेक्षा—जहाँ अहेतु में हेतु की उत्प्रेक्षा की जाती है वहाँ हेतूत्प्रेक्षा होती है। (वास्तव में हेतूत्प्रेक्षा में सांसारिक कारण से भिन्न कवि कल्पित कारण (किसी वस्तु के विषय में) होता है।

उदाहरण—

—"क्या प्रसव वेदना से प्राची-रमणी का आनन लाल हुआ ?
धीरे-धीरे गगनस्थल में प्रकटित सुन्दर शशि बाल हुआ ॥
खेलने लगा सुन्दर शशि-शिशु, मणि जटित गगन के आँगन में।
तारावलि उसकी प्रभा देख खिल गई मुदित होकर मन में ॥"

संध्या समय आकाश लाल हो जाता है और तारे धीरे-धीरे निकलने लगते हैं, यह एक स्वाभाविक बात है—किन्तु यहाँ कवि, यहाँ आकाश का प्रसव वेदना से लाल होना मानता है और तारावलियों का सम्बन्ध भी शशि-शिशु से जोड़ता है ये, सब उसके (कवि के) अपने कल्पित कारण हैं।

फलोत्प्रेक्षा—वास्तव में जो फल न हो और उसमें फल की कल्पना की जाय वहाँ फलोत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरण—

"धीरे-धीरे पवन ढिंग जा फूल वाले द्रुमों के।
शाखाओं में कुसुम-चय को थी धरा पर गिराती ॥
मानो यों थी हरण करती फुल्लता पादपों की।
जो थी न प्यारी व्रज-जग को आज न्यारी व्यथा से ॥"

(कुसुम हवा से झड़ता ही है किन्तु हवा इस रूप में वृक्षों की शोभा को भी नष्ट करती है, यह अफल में फल की कल्पना है)।

१७ - अतिशयोक्ति—जहाँ कोई बात इतनी बढ़ा-चढ़ाकर कही जाय कि वह लोक मर्यादा (स्वाभाविकता) का उल्लंघन करनेवाली हो जाय या असम्भव जैसी लगे वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण—

"पत्रा ही तिथि पाइये वाघर के चहुँ पास।
निति प्रति पूनौ ही रहति आनन ओप उजास ॥
औधाई सीसी सुलखि विरह वरनि विललात।
बिच ही सूखि गुलाब गौ छींटौ छुई न गात ॥"

(बहुत से विद्वान अतिशयोक्ति और अत्युक्ति को दो प्रथक अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं समझते क्योंकि बात को अत्यन्त बढ़ाकर कहना दोनों में समानरूप से पाया जाता है)।

१८—दीपक—जहाँ प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) का एक ही धर्म वर्णन किया जाय वहाँ दीपक अलंकार होता है।

उदाहरण—

"औरहू उपाय केते सहज सुढंग ऊधौ !
सांस रोकिबे कौ कहा जोग ही कुढंग है।
कुटिल कटारी है अटारी है उतंग अति,
जमुना तरंग है तिहारौ सतसंग है॥"

यहाँ उद्धव का संग तो प्रस्तुत है और कटारी, अटारी, यमुना-तरंग अप्रस्तुत हैं किन्तु सबका एक धर्म मृत्युकारक (श्वासरोकना) कहा गया है।

१६—निदर्शना—जहाँ वस्तुओं का आपस का सम्बन्ध उनके बिब-प्रतिबिंब भाव को व्यक्त करता है वहाँ निदर्शन, अलंकार होता है।

उदाहरण—

"पास-पास ये उभय वृक्ष देखो अहा
फूल रहा है एक दूसरा झड़ रहा॥
है ऐसी ही दशा प्रिये नरलोक की।
कहीं हर्ष की बात कहीं पर शोक की॥"

२०—व्यतिरेक—जहाँ उपमेय का उत्कर्ष उपमान की तुलना में अधिक दिखाया जाय, वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है।

उदाहरण—

"बर जीते सर मैन के ऐसे देखे मैंन।
हरिनी के नैनानु तें हरि नीके ए नैन॥"

यहाँ नायका के नेत्रों (उपमेय) को कामदेव के वाणों से अधिक तीक्ष्ण और हरिणी के नेत्रों से अधिक श्रेष्ठ बताया गया है।

२१—सहोक्ति—सहधर्म बोधक शब्दों (सह, संग, साथ) के द्वारा जहाँ एक ही शब्द दो अर्थों का वाचक होता है वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण—

"निज पलक, मेरी विकलता, साथ हीं
अवनि से, उर से, मृगेक्षिणि ने उठा,

एक पल निज शस्य श्यामल दृष्टि से,
स्निग्ध करदी दृष्टि मेरी दीप-सी ।"

यहाँ 'साथ' शब्द अवनि से पलक उठाने और हृदय के व्याकुलता उठाने का अर्थ एक साथ देता है।

२२—परिकरांकुर—जहाँ विशेष्य का साभिप्राय कथन किया जाय वहाँ परिकरांकुर अलंकार होता है।

"बामा भामा कामिनी कहि बोलो प्रानेस ।
प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत विदेस ॥'

यहाँ नायिका नायक से बामा, भामा, कामिनी आदि सार्थक विशेष्यों के प्रयोग करने के लिये कहती है और प्यारी शब्द (जो सार्थक नहीं है) के प्रयोग पर आपत्ति करती है।

२३—जहाँ अप्रस्तुत (उपमान) के द्वारा प्रस्तुत अर्थ का बोध कराया जाता है उसको अप्रस्तुत प्रशंसा कहते हैं।

उदाहरण—

१— "दिन दस आदर पायके करिलै आप बखान ।
जो लगि काग सराध पख तौ लगि तो सनमान ॥"

२— "स्वारथु सुकृति न स्रम बृथा देखि विहंग विचारि ।
बाज पराए पानि पिर तू पच्छिीनु न मार ॥"

यहाँ प्रथम दोहे में कवि कौवे के रूप में दंभी या किसी नीच आदमी का वर्णन करता है। दूसरे दोहे में बाज के रूप में किसी ऐसे व्यक्ति (मिर्जा राजा जयशाह) को चेतावनी देता है जो बिना व्यक्तिगत लाभ के दूसरों के लिये हिंसा करता है।

इस अलंकार को अन्योक्ति भी कहते हैं इसमें प्रस्तुत पक्ष (जिसका वर्णन किया गया है) अप्रधान रहता है और अप्रस्तुत पक्ष (जिसकी वास्तव में व्यंजना निकल रही है) प्रधान रहता है।

२४—विभावना—जहाँ प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्य का होना वर्णन किया जाय वहाँ विभावना अलंकार होता है।

"बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।
कर बिनु कर्म करै विधि नाना ॥"

यहाँ बिना पैर के चलने, बिना कान के सुनने तथा बिना हाथ के कार्य करने का वर्णन है।

२५—असंगति—जहाँ कार्य और कारण के भिन्न स्थान वर्णन किए गए हों। अर्थात् जहाँ कार्य और कारण का स्वाभाविक संगति का त्याग हो।

उदाहरण—

"दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥"

यहाँ कारण तो कहीं है और कार्य को ही उत्पन्न होता दिखाया गया है।

२६—क्रमालंकार—जहाँ क्रमशः कहे गये पदार्थों का उसी क्रम से अन्वय दिखाया गया हो वहाँ क्रमालंकार होता है।

उदाहरण—

"—अमिय हलाहल मद भरे, श्याम श्वेत रतनार।
जियत, मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥"

यहाँ पहिली पंक्ति के 'अमिय हलाहल' तथा 'मद भरे' शब्दों का सम्बन्ध दूसरी पंक्ति के 'जियत, मरत तथा झुकि-झुकि परत' से बिठाया गया है।

२७—अर्थान्तरन्यास—जहाँ सामान्य का विशेष से या विशेष का सामान्य से समानता (साधर्म्य) या असमानता (वैधर्म्य) के द्वारा समर्थन किया जाय वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।

उदाहरण—

"रहिमन नीच कुसंग सौं लगत कलंक न काहि।
दूध कलारी कर रखै को मद जानै नाहि॥"

यहाँ पूर्वार्द्ध के सामान्य वृत्तान्त का दूध और कलारी के विशेष वृत्तान्त द्वारा अन्त में समर्थन किया गया है।

२८—दृष्टान्त—उपमेय, उपमान और साधारणधर्म का जहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव वर्णन किया गया हो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है।

उदाहरण—

"दुसह दुराज प्रजान कौं क्यों न बढ़ै दुःख द्वंद।
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रवि चंद॥"

(अर्थान्तरन्यास में सामान्य का विशेष से या विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाता है परन्तु दृष्टान्त में या तो दोनों ही सामान्य होंगे या फिर दोनों ही विशेष)।

२६—तद्गुण—जहाँ एक वस्तु अपना गुण छोड़कर किसी दूसरी (निकटवर्ती) वस्तु का गुण ग्रहण करले।

उदाहरण—लै चुभकी चलि जात जित जित जल केलि अधार।
कीजति केसरी नीर से तित तित के सरि नीर॥

यहाँ तालाब का जल अपना रंग छोड़ कर नायिका के शरीर के रंग को ग्रहण कर लेता है।

३०—मीलित—जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से इतनी मिल जाय कि उनका अन्तर स्पष्ट न हो वहाँ मीलित अलंकार होता है।

उदाहरण—"पान पीक अधरान में सखी! लखी नहिं जाइ।
कजरारी अँखियन में कजरारी न लखाइ॥"

यहाँ नायिका के आरक्त ओठे में पान और सहज काली आँखों में काजल ऐसा मिल गया है कि दिखाई नहीं देता।

३१—उन्मीलित—जहाँ दो वस्तुओं के बिलकुल समान होने पर भी जहाँ किसी कारण विशेष के कारण उनका भेद स्पष्ट हो जाय या खुल जाय वहाँ उन्मीलित अलंकार होता है।

उदाहरण— १—"कंचन-तन-धन-बरन बर रह्यौ रंगु मिलि रंगु।
जानी जाति सुवास ही केशर लाई अंग॥"

२—"मिलि चंदन बैंदी रही गोरे मुख न लखाइ।
ज्यों-ज्यों मद लाली चढ़ै त्यों-त्यों उघरत जाई॥"

पहले दोहे में केशर की गंध से भिन्न केशर की गंध से चल जाता है। दूसरे दोहे में मद लाली के कारण चंदन की वेंदी धीरे-धीरे चमकने लगती है।

३२—मुद्रा—जहाँ प्रस्तुत अर्थ के पदों द्वारा सूचनीय अर्थ को सूचित किया जाय वहाँ मुद्रा अलंकार होता है।

उदाहरण—"करुणे क्यों रोती है ? 'उतर' में और अधिक तू रोई।
मेरी विभूति है जो उसको भवभूति कहे क्यों कोई॥"

उपरोक्त पद्य में 'करुणा' के प्राकरणिक वर्णन के प्रसंग में 'उत्तर' 'भवभूति' पद के द्वारा भवभूति द्वारा लिखित करुण रस पूर्ण 'उत्तर रामचरित नाटक' की सूचना भी देदी गई है।

———

:: १७ ::

रस निष्पत्ति

भारतीय काव्य शास्त्र के अनुसार चरम आनंद की प्राप्ति ही काव्य का वास्तविक उद्देश्य है। काव्यानंद की यह अनुभूति लौकिक अनुभूतियों से भिन्न होती है इसलिए इसे अलौकिक भी कहा गया है। काव्यानंद को ब्रह्मानंद सहोदर भी बताया गया है क्योंकि जो आनंद ज्ञानियों को मधुमती भूमिका की अवस्था में प्राप्त होता है वही आनंद काव्य में भी पाठक व श्रोता को वर्ण्य या प्रस्तुत विषय से तादात्म्य होने पर रस की दशा में प्राप्त होता है। काव्य में इसे साधारणीकरण का नाम दिया गया है। जब पाठक या दर्शक साधारणीकरण तक की अवस्था तक को पहुँच जाता है तो राजस या तामस का नितान्त अभाव होकर उसमें केवल सतोगुण का ही प्रधान्य रहता है इसलिए दुःखात्मक भाव भी सुख की अनुभूति से युक्त होकर आते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास का कहना है कि—

"जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनंदनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का पर प्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय तथा अभिनंदनीय सभी प्रकार की वस्तुयें हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलम्बन बन कर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक, क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं।"

अपर प्रत्यक्ष तथा पर प्रत्यक्ष का अर्थ स्पष्ट किए बिना बात स्पष्ट नहीं होगी।

जहाँ शब्द, अर्थ तथा ज्ञान की भिन्न प्रतीति होती है उसे अपर प्रत्यक्ष कहते हैं। अपर प्रत्यक्ष में वितर्क की भावना रहती है।

पर प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जहाँ शब्द, अर्थ तथा ज्ञान आपस में एकाकार हो जाते हैं कि उनकी भिन्न-भिन्न प्रतीति नहीं होती और जहाँ वितर्क की भावना का भी सर्वथा लोप हो जाता है।

योग में इसी अवस्था को मधुमती भूमिका और रस की इसी अवस्था को साधारणीकरण कहते हैं।

लेकिन प्रश्न यह है कि काव्य में रस की इस अवस्था तक पाठक या श्रोता पहुँचता कैसे है? उसे आनन्दातिरेक की प्रतीति होती कैसे है? काव्य-शास्त्र में आनन्द की इस अलौकिक अनुभूति के संस्पर्श को 'रस निष्पत्ति' नाम दिया गया है। यह ध्यान में रखने की बात है कि 'रस निष्पत्ति' शब्द का ही व्यवहार उसके लिए किया जाता है—रस उत्पत्ति का नहीं क्योंकि उत्पत्ति का अर्थ है कि कोई वस्तु उत्पत्ति से पूर्व अस्तित्व में नहीं थी किन्तु 'निष्पत्ति' का अर्थ है उस वस्तु का अस्तित्व तो निश्चित रूप से पहले से ही था किन्तु वह अब जागृत या विकसित भर हो गई है।

प्रत्येक मनुष्य के हृदय में नौ स्थाई-भाव बीज रूप से निहित रहते हैं और उचित वातावरण के प्रस्तुत होते ही वे स्वयमेव जागृत हो जाते हैं। वस्तु-जगत में हम जिसे वातावरण कहते हैं काव्य-जगत में उसे ही विभाव, अनुभव तथा व्यभिचारीभाव का समन्वित रूप कहा गया है। जिनके कारण पाठक या श्रोता के हृदय में 'रस निष्पत्ति' होती है।

किन्तु 'रस निष्पत्ति' सर्वप्रथम कहाँ होती है यह बड़े विवाद का विषय रह चुका है। विभिन्न आचार्य इस विषय में अपने भिन्न-भिन्न मत रखते हैं और विचित्र बात यह कि सभी आचार्य अपने-अपने मत को भरत मुनि के इस वाक्य का जोकि इस विवाद का मूल है, वास्तविक अर्थ बताते हैं। यह भरतमुनि के नाटय-शास्त्र का वह प्रसिद्ध वाक्य है:—

"विभावानुभाव व्यभिचार भावसंयोगाद्रस निष्पत्तिः"

इसी वाक्य का अपने-अपने मतानुसार अर्थ करने में विभिन्न आचार्यों ने अपना बुद्धि-वैभव दिखाया है।

भरत मुनि के इस वाक्य का अर्थ जितना सरल दिखाई देता है वह उतना ही अस्पष्ट और विवादास्पद है।

"भरत मुनि के इस वाक्य का अर्थ है; विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से 'रस निष्पत्ति' होती है।"

किन्तु सारा विवाद 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' को लेकर है क्योंकि पता नहीं भरतमुनि का इस संयोग और 'निष्पत्ति' से क्या अभिप्राय था—विभिन्न आचार्यों द्वारा किया गया उपरोक्त सूत्र का भाष्य और उसका सारा अन्तर उपरोक्त दो शब्दों संयोग एवं 'निष्पत्ति' के अर्थ को लेकर है।

बाद में जो आचार्य हुए उन्होंने उपरोक्त दो शब्दों (संयोग तथा 'निष्पत्ति') के आधार पर निम्नांकित विभिन्न निष्कर्ष निकाले—

१—'रस निष्पत्ति' उन मूल व्यक्तियों के हृदय में होती है जिनका लेखक ने वर्णन किया है जैसे—दुष्यन्त, शकुन्तला, राम, सीता आदि।

२—'रस निष्पत्ति', मूल चरित्रों के हृदय में न होकर लेखक के हृदय में होती है।

३—'रस निष्पत्ति', न मूल चरित्रों के हृदय में, न लेखक के हृदय में अपितु उन अभिनेताओं के हृदय में होती है जो मूल चरित्रों का अभिनय करते हैं।

४—'रस निष्पत्ति', न मूल पात्रों के हृदय में, न लेखक के हृदय में, न अभिनेताओं के हृदय में बल्कि दर्शकों के हृदय में होती है।

यह समझने से पूर्व कि स्थाईभाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव क्या हैं यह समझने की आवश्यकता है कि 'रस निष्पत्ति' का सिद्धान्त विशिष्टरूप से अपना सम्बन्ध नाटक से ही रखता है—काव्य से नहीं। इसीलिए बार-बार इसमें मूल पात्र तथा अभिनेता आदि शब्दों का व्यवहार होगा। इसके अतिरिक्त काव्य में माने जानेवाले नवरस भी नाटक की दृष्टि से आठ ही रह जाते हैं क्योंकि भरत शांत-रस को अभिनेय नहीं मानते।

स्थाईभाव	रस
१. रति	श्रृङ्गार
२. हास	हास्य

३. शोक	करुण
४. क्रोध	रौद्र
५. उत्साह	वीर
६. भय	भयानक
७. जुगुप्सा	वीभत्स
८. विस्मय	अद्भुत
९. शम	शांत

स्थाईभाव—उस भाव को कहते हैं जिनकी स्थिति हृदय में अधिक स्थाई हो अर्थात् जो हृदय में अधिक समय तक ठहरता हो और जब तक ठहरता हो तबतक वह सर्वप्रमुख और विशिष्ट बनकर रहे। शेष भाव जो हृदय में उठें वे उसको पुष्ट करने के लिए ही। यदि रूपक में कहें तो कह सकते हैं कि स्थाईभाव की स्थिति मूर्धाभिषिक्त राजा की भाँति है। जब तक राजा सिंहासन पर बैठेगा तब तक अन्य उपस्थित लोग उसके अनुचर, आज्ञाकारी तथा चाटुकार बनकर ही रहेंगे। कुछ-कुछ यही स्थिति और सम्बन्ध स्थाईभाव एवं व्यभिचारीभावों के बीच है।

व्यभिचारीभाव—वे भाव हैं जो बहुत थोड़ी देर टिकते हैं। ये स्थाईभावों के सहायक होते हैं। इन्हें सचारी भाव भी कहते हैं। संचरण करते रहना ही इनका कार्य है। श्री कन्हैयालाल पोद्दार इनके विषय में लिखते हैं—

"ये स्थाईभाव की तरह रस की सिद्धि तक स्थिर नहीं रहते। अर्थात् वे अवस्था विशेष में उत्पन्न होते हैं और अपना प्रयोजन पूरा हो जाने पर स्थाईभाव को उचित सहायता देकर लुप्त हो जाते हैं—

"ये तूपकर्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम्;
उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः।"

निष्कर्ष यह है कि ये जल के झाग या बुद्बुदों की तरह प्रकट हो होकर शीघ्र लुप्त हो जाते हैं; जैसे—बिजली की चमक चमककर झट अदृश्य हो जाती है।" ये संचारी भाव संख्या में ३३ माने गये हैं।

१-निर्वेद, २-ग्लानि, ३-शंका, ४-असूया, ५-मद, ६-श्रम, ७-आलस्य, ८-दैन्य, ९-चिन्ता, १०-मोह, ११-स्मति, १२-धृति,

१३-ब्रीड़ा, १४-चपलता, १५-हर्ष, १६-आवेग, १७-जड़ता, १८-गर्व, १६-विषाद, २०-औत्सुक्य, २१-निद्रा, २२-अपस्मार, २३-सुप्त, २४-विबोध २५-अमर्ष, २६-अवहित्था, २७-उग्रता, २८-मति, २६-व्याधि, ३०-उन्माद, ३१-मरण, ३२-त्रास, ३३-वितर्क ।

इस प्रकार स्थाईभाव और संचारीभाव के रूप में स्थूलरूप से भावमात्र ही वर्गीकृत हो जाते हैं।

'रस निष्पत्ति' की सामग्री पूर्ण करने के लिये अभी विभाव और अनुभाव की चर्चा करना भी आवश्यक है।

विभाव—

स्थाईभावों के उत्पन्न होने के कारणों को ही विभाव कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं :—

१—आलम्बन विभाव—जहाँ स्थाईभाव आश्रय पाते हैं। आलम्बन विभाव ही स्थाईभावों के जनक हैं इन्हीं के सहारे स्थाई-भाव उत्पन्न होते हैं। शृंगार रस में नायक-नायिका ही स्थाईभावों के उत्पादक होने के कारण आलम्बन विभाव माने जाते हैं।

२—उद्दीपन विभाव—उद्दीपन विभाव वे हैं जो जागृत स्थाई-भाव को उद्दीप्त करते हैं।

अनुभाव—

वे भाव जो विभावों के बाद उत्पन्न होते हैं, अनुभाव कहलाते हैं। कन्हैयालाल पोद्दार इनके विषय में लिखते हैं —

"ये उत्पन्न हुए स्थाई भाव का अनुभव कराते हैं। "अनुभाव-यन्ति इति अनुभावा।" जैसे शृंगार रस में नायिका आलम्बन और चन्द्रोदयादि उद्दीपन विभावों द्वारा नायक के हृदय में रति मनो-विकार उत्पन्न और उद्दीपन होता है। उसको प्रकट करनेवाले जो कटाक्ष और भ्रूक्षेप एवं हस्त संचालनादि शारीरिक चेष्टायें जब तक न हों उस अनुराग का उनको परस्पर या समीपस्थ अन्य लोगों को कुछ ज्ञान नहीं हो सकता। कहा है—"अनुभावो भावबोधकः।" इन अनुभावों द्वारा ही रति आदि स्थाई भाव, काव्य में शब्दों द्वारा और नाटक में आलम्बन विभावों की चेष्टाओं द्वारा, प्रकट होते हैं। अनुभाव असंख्य हैं। अनुभाव दो प्रकार के कहे जा सकते हैं:—

१-कायिक—शारीरिक चेष्टायें आदि। आश्रय चेष्टायें इसके अन्तर्गत आयेंगी।

२-सात्विक—सात्विक भाव भी 'रस निष्पत्ति' की मानसिक प्रक्रिया में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ये संख्या में आठ माने गये हैं:—

१-स्तंभ, २-स्वेद, ३-रोमांच, ४-स्वरभंग, ५-वेपथु (कंप) ६-वैवर्ण्य, ७-अश्रु, ८-प्रलय।

अधिक स्पष्ट करने के लिये उपरोक्त सामग्री को एक रस में घटा कर देख लेना चाहिए कि किस प्रकार एक स्थाईभाव विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की संज्ञा प्राप्त करता है।

उदाहरण—

शृंगार रस (संयोग)।

१-आलम्बन विभाव; नायक-नायिका

२-उद्दीपन विभाव; (क) प्राकृतिक दृश्य (शीतल, मंद, सुगन्धित-वायु, श्यामल मेघ, रिमझिम वर्षा, मोर-पपीहा आदि के शब्द, चन्द्र, चाँदनी, भ्रमर, पराग, कोयल मधुर गान, नदी तट, उद्यान, उपवन आदि, एकांत)

(ख) आलम्बन की चेष्टायें—अनुराग पूर्ण अवलोकन, भ्रकुटि-भंग भुजाक्षेप, (अंग संचालन) रोमांच एवं स्वेद आदि सात्विक भाव।

३-व्यभिचारी—पोद्दारजी के अनुसार शृंगार के संयोग पक्ष में उग्रता, मरण और जुगुप्सा के अतिरिक्त अन्य सभी व्यभिचारी भाव हो सकते हैं।

४-अनुभाव—आश्रय की शारीरिक चेष्टायें तथा आश्रय के सात्विक भाव।

५-स्थाईभाव—रति।

उपरोक्त सभी बातों के उचित संयोग से स्थाईभाव रति रस की कोटि तक पहुँचेगा और तब शृंगार रस कहलाएगा।

'रस निष्पत्ति' के विश्लेषणकर्ता विभिन्न आचार्यों के मत—

१—भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद—

भट्ट लोल्लट का मत है कि रस मूलरूप से दुष्यन्त, रामादि मूल-

पात्रों में ही रहता है। नट, चूँकि मूलपात्रों के भावों का अनुकरण, वाणी, वेशभूषा और अन्य क्रियाओं के द्वारा करते हैं इसलिये दर्शक उनके अभिनय-कौशल से चमत्कृत होकर ही आनन्द लाभ करते हैं।

१—भट्ट लोल्लट 'निष्पत्ति' का अर्थ उत्पत्ति तथा 'संयोग' का अर्थ 'सम्बन्ध' करते हैं।

२—भट्ट लोल्लट आलम्बन विभाव दुष्यन्त, रामादि को कारण और रस को कार्य मानते हैं और इस प्रकार 'रस-निष्पत्ति'-प्रक्रिया का विश्लेषण, वे कार्य-कारण सम्बन्ध मानकर करते हैं।

३—भट्ट लोल्लट की यह कार्य-कारण मानकर की गई व्याख्या मीमांसाशास्त्र के अनुसार की गई है।

परवर्ती आचार्यों ने भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद को सदोष बताया और उसमें कई कमियाँ बताईं:—

१ भावों का अनुकरण करना असम्भव है। अनुकरण शारीरिक चेष्टाओं का तो किया भी जा सकता है परन्तु अनुभूति का अनुकरण कैसे किया जा सकता है? अर्थात् यह सम्भव नहीं है कि नट (अभिनेता) मूलचरित्रों की अनुभूतियों का अनुकरण कर सकें।

२—भट्ट लोल्लट द्वारा स्वीकृत कार्य-कारण सम्बन्ध भी तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। संसार में जिन वस्तुओं में कार्य-कारण सम्बन्ध देखे जाता हैं उनमें कार्य, कारण के पश्चात् भी बना रह सकता है। उदाहरण के लिये घड़ा कार्य है, कुम्हारादि निमित्त कारण के न रहने पर भी घड़ा बना रह सकता है। इसी प्रकार भवन आदि कार्य है और श्रमिकादि कारण। लेकिन श्रमिकों के न रहने पर भवन ज्यों के त्यों बने रहते हैं। यदि यही सम्बन्ध दुष्यन्त, राम आदि विभावों तथा रस आदि कार्य के बीच मानें तो दुष्यन्त, रामादि विभावों (निमित्त करण) के न रहने पर (रंगमंच पर न रहने पर भी) भी रसादि कार्य बने रहने चाहिये। किन्तु दुष्यन्त, रामादि विभावों के जाने के साथ ही रस भी समाप्त हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि कार्य-कारण सम्बन्ध रस प्रक्रिया में सदोष ही दिखाई देता है। फिर कार्य-कारण में जो पूर्वापर का (आगे-पीछे का) सम्बन्ध होता है वह 'रस-निष्पत्ति' की प्रक्रिया में नहीं होता क्योंकि नाटक में विभाव दर्शन और 'रस निष्पत्ति' एक साथ होती है—आगे-पीछे नहीं।

३—भट्ट लोल्लट के सिद्धान्त के अनुसार, दर्शक नटों के अभिनय-कौशल से चमत्कृत होकर आनन्द लाभ करता है। वास्तव में रस की उत्पत्ति (निष्पत्ति) उसके हृदय में नहीं होती है। प्रश्न यह है कि जब रस की उत्पत्ति मूलपात्रों दुष्यन्त, रामादि के हृदय में होती तो है फिर उसका दर्शक अनुभव कैसे कर सकता है? इसके अतिरिक्त मूलपात्रों के हृदय में उत्पन्न (निष्पन्न) रस लौकिक होगा और वे दुःख को दुःख और सुख को सुख समझते होंगे। उदाहरण के लिए लक्ष्मण के शक्ति लग जाने पर राम दुःखातिरेक से विलाप करते हैं किन्तु दर्शक को तो उसमें भी आनन्द आता है फिर ऐसा कैसे होता है कि राम दुःख का अनुभव करते हैं और दर्शक सुख का। भट्ट लोल्लट के इस सिद्धान्त के अनुसार रस की अलौकिता प्रतिपादित नहीं होती और रस को यदि लौकिक ही मान लिया तो 'रस निष्पत्ति' का सिद्धान्त ही समाप्त हो जायगा क्योंकि दर्शक नाट्यगृह में रोने में भी आनन्द का अनुभव करते हैं। यदि वे भी दुख के आलम्बनों से दुख का अनुभव करने लगें तो फिर नाटक देखने कौन जाएगा? संसार में जिस वस्तु को हम अवांछनीय और घृणित समझते हैं (शोक एवं घृणोत्पादक दृश्य) नाटक में उन्हीं को देखकर हम आनन्द का अनुभव करते हैं, यही रस की अलौकिकता है।

२—शुकुंक का अनुमितिवाद—

शकुंक ने भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद का खंडन अवश्य किया किन्तु अपने अनुमितिवाद द्वारा उन्होंने भी समस्या (विवाद) के वास्तविक हल की ओर कोई विशेष प्रगति नहीं की।

१—शकुंक भी रस की मूल अवस्थिति दुष्यन्त, राम आदि विभावों के हृदय में ही मानते हैं।

२—शकुंक के अनुसार चित्र-तुरंग-न्याय (चित्र में बने तुरंग को दर्शक चित्र का घोड़ा न कह कर घोड़ा ही कहते है उसी प्रकार दुष्यन्त, रामादि का वेश धारण किये नटों को भी दर्शक दुष्यन्त या राम कहते हैं) द्वारा दर्शक नटों को ही विभाव (दुष्यन्त, रामादि) मान लेते हैं और उनके अनुकरण (अभिनय) के कारण भ्रम में पड़कर वे स्थाई भाव की स्थिति नटों में ही मान लेते है (अनुमान कर लेते हैं)। क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार अनुमान द्वारा दर्शक आनन्द लाभ

करता है। इसलिए इसे अनुमाप्य-अनुमापक-भाव द्वारा 'रस निष्पत्ति' कहा जाता है।

शंकुक ने उपरोक्त मत का प्रतिपादन न्यायशास्त्र के आधार पर किया है किन्तु इस सिद्धान्त में भी उतनी ही कमियाँ और कठिनाइयाँ हैं जितनी भट्ट लोल्लट के सिद्धान्त में:—

१—नट मूल विभावों (दुष्यन्त, रामादि) के भावों का अनुकरण नहीं कर सकता क्योंकि भाव अनुकरणीय नहीं होते।

२—आनंद अनुमान से नहीं प्रत्यक्षदर्शन से ही आ सकता है नहीं तो पानी या भोजन के अभाव में उनके अनुमान मात्र से परितुष्टि क्यों नहीं हो जाती ?

३—जब दर्शक स्वयंभाव का अनुभव नहीं करता तो वह केवल अनुमान के बल पर चमत्कृत होकर आनंद लाभ कैसे कर सकता है ?

४—जब दर्शक नटों को ही मूल विभाव (दुष्यन्त, रामादि) समझ लेगा तो वह उन्हीं (मूल विभाव) के भावों का अनुभव करेगा किन्तु ऐसी अवस्था में जब दुष्यन्त, रामादि विभावों में वह दुख का अनुमान करेगा तो उसे (दर्शक को) भी दुःख का ही अनुभव होना चाहिए सुख का नहीं परन्तु ऐसा नहीं होता अर्थात् दर्शक सदैव आनंद का ही अनुभव करता है यही रस की अलौकिकता है।

इसलिए शंकुक के दो मुख्य तर्क—१-अनुकरण और २-अनुमान-किसी ठोस नींव पर आधारित नहीं हैं।

३—भट्ट नायक का मुक्तिवाद—

उपर्युक्त आचार्यों में भट्ट नायक पहले आचार्य हैं जो रस की अवस्थिति दर्शक या पाठक के हृदय में मानते हैं। भट्ट नायक ने रस की अलौकिकता की रक्षा तथा सामाजिक के द्वारा आनंदानुभव करने की बात को सिद्ध करने के लिए तीन शक्तियों की कल्पना की है:—

१—अभिधा—जिसके द्वारा काव्य या नाटक के साधारण या या आलंकारिक अर्थ का ज्ञान होता है।

२—भावकत्व—इसके द्वारा काव्य या नाटक के दुष्यंत, रामादि

विभावों के भाव अपने-पराये के बंधन से मुक्त होकर साधारणीकृत हो जाते हैं और इसलिए पाठक या दर्शक के लिए वे उपभोग्य बन जाते हैं अर्थात् फिर पाठक या दर्शक यह भूल जाता है कि यह दुष्यन्त है, यह राम है। दुष्यंत और राम साधारण पुरुषमात्र हो जाते हैं इसलिए पाठक का उनके साथ तदात्म्य हो जाता है।

३—भोजकत्व—इसके दारा साधारणीकृत भाव आस्वाद्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त भोजकत्व के द्वारा पाठक या दर्शक का रजस-तमस नष्ट होकर वह सत्वगुण प्रधान हो जाता है और ऐसी स्थिति में उसको प्रत्येक भाव की अनुभूति आनंदमय ही होती है।

भट्ट नायक ने अपने मत का प्रतिपादन सांख्यशास्त्र के आधार पर किया है। 'निष्पत्ति' का अर्थ उन्होंने 'भोग' किया है और 'संयोग' का अर्थ उन्होंने 'भावित होना' (भोज्य-भोजक-भाव) लिया है।

भट्ट नायक के मत पर अभिनव गुप्त ने एक आपत्ति की—कि भट्ट नायक ने जो अभिधा, भावकत्व, भोजकत्व आदि तीन शक्तियाँ मानी हैं इसका शास्त्रीय प्रमाण क्या है ? विशेषकर जब शास्त्रों में पहले से ऐसी शक्ति विद्यमान हो जो इस सब कार्यों को पूरा भी कर दे। अभिनव गुप्त ने कहा कि व्यंजना-शक्ति इन सब कार्यों को पूर्ण कर देती है और वह शास्त्र विहित भी है ।

४—अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद —

अभिनव गुप्त रति आदि स्थायीभावों का सामाजिक के हृदय में बीजरूप से निहित होना मानते हैं। नाटक में सुन्दर अभिनय तथा काव्य में विभावनुभाव संचारीभाव अभिव्यक्त (जागृत) हो उठते हैं और 'रस निष्पत्ति' का कारण बनते हैं।

अभिनव गुप्त ने अपनी यह व्याख्या वेदान्त के अनुसार की। उन्होंने 'निष्पत्ति' का अर्थ लिया 'आनंद रूप में प्रकाशित होना' या 'अभिव्यक्ति' तथा संयोग का अर्थ लिया 'ध्वनति या व्यंजित' होना।'

अभिनव गुप्त के अनुसार भावों में भावकत्व का गुण तो सहज ही रहता है। 'काव्यार्थान् भावंयंतीति भावाः' (भाव वे ही हैं जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनावें) और रस में भी भोग का भाव स्वाभाविक रूप से रहता ही है। 'आस्वाद्यत्वाद्रसः' इसलिए अभिनव गुप्त

ने भट्टनायक की भाँति 'भावकत्व', 'भोजकत्व' आदि शक्तियाँ न मानकर उन सब का अन्तर्भाव व्यंजना में कर दिया।

लेकिन अभिनव गुप्त के मत से काव्यानंद वही ले सकता है जिसके मानस में सभी भाव बीजरूप से निहित हों और उचित अवसर पर जागृत या उद्बुद्ध हो जाँय। ऐसे मनुष्यों की कल्पना करना कठिन नहीं, जिनके हृदय में ये स्थायीभाव बीजरूप से निहित न हों—ऐसे मनुष्य काव्य का आनंद नहीं ले सकते।

शास्त्र के मत से तीन प्रकार से मनुष्य अपने को काव्यानंद का भोग करने योग्य बना सकता है :—

१—सांसारिक अनुभव से।

२—सतत अभ्यास से।

३—पूर्वजन्म के संस्कार से।

जिनमें उपरोक्त गुण नहीं वे काव्य का रसास्वादन करने के योग्य नहीं।

तार्किक और वैय्याकरण भी काव्य का रसास्वादन करने में असमर्थ रहते हैं।

अभिनव गुप्त का मत ही आज सर्वमान्य समझा जाता है। धनंजय नट में भी आनंद (रस) की भावना मानते हैं किन्तु यह सम्भव प्रतीत नहीं होता क्योंकि अभिनय के कार्य में पूर्ण चेतना की आवश्यकता होती है। भावाक्रांत होने से अभिनेताओं की चेतना भी आक्रान्त हो जायगी और उनके संवाद अनर्गल प्रलाप और अङ्ग संचालन आदि क्रियायें मद्यपी की असंयत चेष्टायें बन कर रह जायेंगी। इसके अतिरिक्त यदि शत्रुओं का अभिनय करनेवाले दो अभिनेता एक एक दूसरे को शत्र समझ लें तो और भी भयंकर परिणाम रंगमंच पर होने लगेंगे।

यह उचित ही प्रतीत होता है कि रस की अवस्थिति दर्शक में मानी जाय और यह तो ठीक ही है कि रस उत्पन्न नहीं होता निष्पन्न होता है अर्थात् जागृत या उद्बुद्ध होता है, पैदा नहीं होता।

प्रसिद्ध आलोचक बाबू गुलाबराय, एम० ए० द्वारा प्रस्तुत निम्नांकित प्रणाली से रस प्रक्रिया संक्षेप में और अधिक स्पष्ट हो जाती है।

———

रस निष्पत्ति

आचार्य	दार्शनिकमत	वाद	रस की स्थिति	संयोग का अर्थ	निष्पत्ति का अर्थ
१—भट्ट लोल्लट	मामांसक	उत्पत्तिवाद या आरोपवाद	मूलरूप से अनुकार्यों (दुष्यंत, रामदि) में रहता है। नटादि अनुकर्त्ताओं में आरोप होता है। गौण रूप से सामाजिकों में अनुकरण के चमत्कार से।	कार्य-कारण - भाव	उत्पत्ति
२—श्री शंकुक	नैयायिक	अनुमितिवाद	नट के अनुभावादि द्वारा अनुकार्यों में अनुमेय, गौणरूप से सामाजिकों में अनुकरण के चमत्कार से। नट और अनुकार्य का चित्र-तुरंग-न्यायसे तादात्म्य मानते हैं।	गम्य-गमक-भाव अथवा . अनुमाप्य-अनुयापक भाव	अनुमिति
३—भट्ट नायक	सांख्यवादी	भुक्तिवाद	अभिधा, भावकत्व द्वारा आलम्बनादि साधारणीकृत होकर सामाजिक के भोग का विषय बनते हैं (भोजकत्व)।	भोज्य-भोजक-भाव	भुक्ति (आस्वाद)
४—अभिनव गुप्त	वेदान्ती	अभिव्यक्तिवाद	व्यंजना वृत्ति द्वारा (भावकत्व और भोजकत्व अनावश्यक हैं) सहृदय सामाजिक में स्थाई भावों के संस्कारों की विभावादि के योग से अभिव्यक्ति, जिस प्रकार जल के योग से मिट्टी की अव्यक्त-गंध व्यक्त हो जाती है।	व्यंग्य-व्यंजक-भाव	अभिव्यक्ति

:: १८ ::

रीतिकाल

पृष्ठभूमि—

मुसलमानी दासता की श्रृंखलाओं में कसे हुए देश की अन्तिम विद्रोही छटपटाहट भक्तिकाल (१३७५-१७००) के साथ समाप्त हो जाती है। भक्तिकाल की समाप्ति के रूप में देश का सांस्कृतिक जीवनदीप निर्वाण प्राप्त कर लेता है। सूर और तुलसी उसी दीपक की निर्वाण के पूर्व की लौ (तीव्र प्रकाश) हैं। रीतिकाल भारतीय राजनीति की दृष्टि से अन्धकार का और सांस्कृतिक दृष्टि से तन्द्रा का युग है क्योंकि राजनैतिक एवं सांस्कृतिक चेतना की प्रतीक तलवार एवं चिन्तन दोनों का इस युग तक पराभव हो चुका था। राजपूतों के पास खड्ग रहित म्यानें रह गईं थीं और बुद्धि-जीवियों के पास चिन्तनरहित चेतना। पराजय के असाध्य रोग ने हिन्दुओं की आँखें बन्द कर दी थी और विजय के मद ने मुसलमानों की दृष्टि-स्वच्छता छीन ली थी। न तो राजनीति के क्षेत्र में कोई ऐसा प्रकाशपूर्ण व्यक्तित्व था जो निराशांधकार में किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हतवीर्य सामंतों को दिव्यदृष्टि देकर उन्हें किसी महान् लक्ष्य की पूर्ति का साधन या सहायक बना पाता और न साहित्यिक क्षेत्र में कोई ऐसा कविमनीषी था जो हताश-भग्नाश जनता को अपनी कविता पयस्विनी में स्नान कराकर चैतन्य बना देता। भारत के शव पर नादिरशाह की गिद्ध-दृष्टि लगी हुई थी।

विलासिता का सिन्धु मर्यादाओं को डुबाकर सीमाहीन हो रहा था और आत्मविस्मृत जग-जीवन उसमें ऊब-डूब कर रहा था। देश के शासक सेज, सुराही, सुरा और प्यालों की कब्र में बैठे थे—

"—गुलगुली गिलमें गलीचा है गुणीजन हैं,
चाँदनी हैं, चिक हैं, चिरागन की माला हैं,

कहैं पद्माकर त्यों गजक गिजा हैं सजी,
सेज हैं, सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला हैं।"
—'पद्माकर'।

भारतीय नव परिचित 'बाजियों' के अभ्यास में जीवन की बाजी लगा रहे थे। कबूतरबाजी, पतंगबाजी, नशाबाजी आदि का बोल-वाला था।

कबूतरबाजी—"ऊँचै चितै सराहियतु गिरह कबूतर लेत।"
—'विहारी'।

पतंगबाजी—"उड़ति गुड़ी लख ललन की अँगना-अँगना माह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह॥"
—'बिहारी'।

तीन विवाह करने का दशरथ को क्या भयंकर कुपरिणाम भोगना पड़ा, रीतिकालीन राजन्य-वर्ग ने इस ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। अब वे अपने शौर्य, यश, तथा सम्मान का प्रसार-राज्य-विस्तार से नहीं, पत्नि-संख्या-विस्तार से मानने लगे थे और इस प्रकार अनजान में ही वे अपने हाथों अपनी समाधि तैयार कर रहे थे।

पत्नियाँ संख्या में इतनी अधिक थीं कि पति बारी बारी से ही सबके यहाँ जा सकता था—

१—"लग्यो सुमन ह्वै है सफल आलप रोस निवारि।
बारी बारी आपनी सींचि सुहृदयता वारि॥
२—देह दुलहिया की बढ़ै ज्यों ज्यों जोबन जोति।
त्यौं त्यौं लखि सौतें सबै बदन मलिन दुति होति॥"
—'बिहारी'।

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि रीतिकाल में बहुविवाह की प्रथा अपनी चरम सीमा पर थी। इस प्रथा ने उस काल के सामाजिक जीवन को कितना खोखला, कितना निर्जीव तथा विषादमय बना दिया होगा, यह सहज कल्पनीय है।

साहित्यिक पृष्ठभूमि—

रीतिकाल जिस काल का उत्तराधिकारी बनकर आया था उसे देखते हुए उससे महान् आशायें की जा सकती थीं लेकिन उत्तराधिकारी कभी जहाँ

पूर्वजों का नाम उज्ज्वल करते हैं वहाँ कभी-कभी उनके मुख पर कालिख भी पोत देते हैं। बेचारे कबीर का वंश ऐसे ही उत्तराधिकारी के कारण डूब गया था।

"डूबा वंस कबीर का उपजे पूत कमाल" —'कबीर'।

रीतिकाल ऐसा ही उत्तराधिकारी है जिसने अपने पूर्वज के निष्कलंक मुख पर कालिख पोत दी। संगति का असर अवश्य पड़ता है—रीतिकाल को अच्छी संगति नहीं मिली। परिपक्व ज्ञान के अभाव में वह शीघ्र ही पथभ्रष्ट हो गया।

भक्तिकाल के महान् कवि तुलसी ने अपनी कविता का आदर्श निम्नांकित शब्दों में व्यक्त किया था--

"कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥"

भक्तिकाल के कवि 'स्वांतः सुखायं' काव्य रचना करते थे। इस ऊँचे आदर्श से रीतिकालीन कवि नीचे गिर गये। उन्होंने ठीक इसके विपरीत किया। उन्होंने प्राकृतजन (राजा आदि) के गुणगान के अतिरिक्त और कुछ किया ही नहीं। अपनी भावनाओं पर कठिन विरोध करके—जो राजन्य वर्ग चाहता था—वही लिखा।

राज्याश्रय और कविता—

'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत जितनी प्राचीन है उतनी ही ठीक। रीतिकालीन राजा लोग कैसे थे ऊपर इसका वर्णन किया जा चुका है इसलिये उनके आश्रित कवियों से ही क्या आशा की जा सकती थी? चाटुकार कवि अपने विलास-जर्जर, ज्ञानमूढ़, कामी आश्रयदाताओं को ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के रूप में चित्रित करने में भी लज्जा और संकोच का अनुभव नहीं करते थे। देखिये, बिहारी जयशाह को किन-किन रूपों में देखते हैं—

१—दानी—चलत पाइ निगुनी गुनी, धनुमनि मुत्तिय माल।
भेंट होत जयशाह सौं भागु चाहियतु भाल॥

२—रूपवान—प्रतिबिंबित जयशाह-दुति, दीपति दरपन धाम।
सब जगु जीतन कौं कर्‌यौ, काय-व्यूह मनु काम॥

३—वीर—रहित न रन जयशाहि मुख लखि लाखनु की फौज।
जाँचि निराखरऊ चलै लै लाखनु की मौज॥

कवि किस समय क्या लिखना चाहता है ? उसके हृदय में क्या भाव उठ रहे हैं ? इन सब बातों का सम्बन्ध रीतिकालीन कवि से नहीं है क्योंकि उसकी कविता तो किसी 'माँग की पूर्ति' का परिणाम है, हृदय की सहज अभिव्यक्ति नहीं। क्या लोभ या लालच था जिसकी आशा में ये कवि महान् इतना मानसिक कष्ट ढोते थे ? चाँदी के कुछ टुकड़े जो राजा साहब प्रसन्न होकर अपने पालतू कवि के सामने फेंक देते थे। कुछ लोगों का कहना है कि रीतिकालीन कवि चाकर (नौकर) तो थे किन्तु सम्मानित चाकर थे। हो सकता है यह ठीक हो किन्तु हमारी समझ में तो उनका सम्मान, 'सम्मान' शब्द की तीखा मज़ाक है। राजा सम्मान किसका नहीं करते थे ? अवैधरूप से उनके लिये कुलांगनाओं का प्रबन्ध करनेवाली कुटनियों का नहीं ? अपने पौरुषहीन शरीर को उत्तेजक औषधियों से सींचनेवाले वैद्यजी का नहीं ? अपने वासनाम्लान 'मदछाके' नेत्रों को 'रसयुत-अनन्त गति' से तृप्त करने वाली पातुरियों (नर्तकी) का नहीं ? फिर उस बड़ी मंडली के एक इसी सदस्य कवि ने ही क्या बिगाड़ा था कि उसी का सम्मान न हो जबकि वह औरों से अधिक कार्य करता था; वह तो शव में भी जीवन का संचार करनेवाली अलौकिक वाणी का प्रयोग राजा साहब के मुर्दा मन में यौवन की तरंगें उत्पन्न करने में करता था। अपनी पत्नियों से विरक्त मन राजा को कवि परकीयाओं के सरस वर्णन सुनाकर उसकी रसिकता को मरने से बचाता था और इन सब बातों से परे वह धूर्त, 'नपुंसक' और 'कायर' होते हुए भी कवि से यह सुनता रह सकता था कि वह, सदाचार का अवतार, कामदेव से अधिक सुन्दर और इन्द्र से अधिक प्रतापी है। इतना ही नहीं जब वैद्यजी की गोली, सुन्दरियों की टोली और मदिरा की प्याली भी प्रभावहीन होजाती थी तब कवि को ही बुलाया जाता था और वही फिर उत्तेजना की अन्तिम खुराक उन्हें पिलाता था। फिर भी कवि का सम्मान नहीं होगा ? रीतिकालीन कवि बिके हुए कवि थे।

रीतिकाल का प्रारम्भ और उसकी विशेषतायें—

शुक्लजी रीतिकाल का आरम्भ केशवदास से नहीं मानते क्योंकि केशवदासजी अलंकारवादी हैं। वे दण्डी भामट्ट, उद्भट आदि अलंकारवादी आचार्यों के अनुयायी हैं। 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', केशवदास के रीति (लक्षण) ग्रन्थ हैं। रीतिग्रन्थ का अर्थ ही लक्षणग्रन्थ होता

है। भक्तिकाल लक्ष्यग्रन्थों का युग था इसलिये उसके कलापक्ष का निरूपण आदि करने के लिये लक्षण ग्रन्थों का प्रणयन स्वाभाविक था।

शुक्लजी के अनुसार रीतिकाल का आरम्भ चिन्तामणि से होता है। चिन्तामणि 'रस सम्प्रदाय' के अनुयायी थे और रीतिकाल के अन्य कवियों ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया है। चिन्तामणि ने 'पिंगल', 'रसमंजरी', 'शृंगारमंजरी' तथा 'कवि-कुल-कल्पतरु' आदि ग्रन्थ लिखे। चिन्तामणि के परवर्ती कवि और आचार्य उन से प्रभावित हुए हैं।

३—काव्य के विषय (भावपक्ष)—

रीतिकालीन काव्य में जीवन की विविधता का तो घोर अभाव है। रीतिकालीन कविता को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वकीया-परकीया के झगड़े को छोड़कर उस समय और कोई काम ही करने के लिए नहीं था। अन्ध-कामुकता का वह युग था लोग हाथ की छड़ी की भाँति स्त्रियों को लिये घूमते थे—

"काम अन्धकारी जगत लखै न रूप कुरूप।
हाथ लिये डोलत घिरै कामिनि छरी अनूप ॥

रीतिकालीन कवियों के पास न उनका अपना दृष्टिकोण था न कोई जीवन दर्शन। वे अपने आश्रयदाता की आँखों से ही संसार को देखते थे इसलिये रीतिकालीन कविता में जो दृष्टिकोण उभर कर आता है वह सामन्तवादी दृष्टिकोण ही है। नारी उपभोग्या है, उसका महत्त्व उसका रूप है। वह मानवी भी है यह बात रीतिकाल के साहित्य से स्पष्ट नहीं होगी।

नारी के प्रति इस सामन्तवादी दृष्टिकोण को 'पन्तजी' ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"सदाचार की सीमा जिसके तन से है निर्धारित।
पूत योनि वह मूल्य चर्म पर केवल उसके अंकित।
योनि नही है रे नारी वह है मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।"

नारी उस काल में चल सम्पत्ति ही थी; पशुओं के समान ही उसका जीवन था। 'पन्तजी' लिखते हैं—

"—क्षुधा कामवश गत युग ने पशुबल से कर जन शासित।
जीवन के उपकरण सदृश नारी भी करली अधिकृत ॥"

रीतिकालीन कवियों ने स्त्री ही नहीं, भक्ति के आलम्बन राधाकृष्ण तक को इस नर्क का वासी बना दिया। भक्त-कवियों ने राधाकृष्ण को लेकर कुछ शृंगारिक उक्तियाँ कही अवश्य हैं किन्तु उनमें लौकिकता या एन्द्रिकता का अभाव है। किन्तु इस काल के कवियों ने तो राधाकृष्ण को साधारण नायक-नायिका बना दिया और उनकी ओट में उन्होंने जिस अश्लील साहित्य की रचना की, अश्लीलता भी उसे देख कर लज्जित हो जायगी। राधा और कृष्ण के विपरीत रति तक के वर्णन इस काल में किए गये। देखिए इस काल के प्रतिनिधि कवि बिहारी लिखते हैं—

"—राधा हरि, हरि राधिका बनि आए संकेत।
दम्पति रति विपरीत सुख सहज सुरति हूँ लेत॥

देखिए कृष्ण बीच मार्ग में गोपियों से भद्दी छेड़खानी करते हैं और व्यङ्गरूप में नायिका उनकी इच्छित वस्तु (गोरस = इन्द्रियरस) देने का संकेत भी करती है।

"—लाज गहौं बेकाज घत घेरि रहे घर जाहिं।
गोरस चाहत फिरत हौ गोरस चाहत नाहिं

डा० नगेन्द्र का यह कथन बिलकुल ठीक है। रीतिकालीन शृंगार का "मूलाधार ऐन्द्रिक रसिकता है—प्रेम नहीं। अतः वह उपभोगप्रधान है" तथा रीतिकालीन शृंगार में "वासना का उदात्तीकरण नहीं किया गया वह शारीरिक भूख ही रहा", लेकिन जब डा० नगेन्द्र यह कहते हैं कि रीतिकाल में "उपभोगप्रधान गार्हस्थिक प्रेम है जो एक ओर वेश्यागमत्व से दूर था और दूसरी ओर वलिदान की महान् भावना से दूर" तो उनकी यह बात युक्तियुक्त नहीं जँचती। कारण एक तो रीतिकालीन साहित्य में गणिका, नायिका के वर्णन की कमी नहीं है? दूसरे परकीया और खडिताओं का रीतिकालीन साहित्य में आधिक्य क्या सामाजिक (सामूहिक) रूप में वेश्यागमत्व का द्योतक नहीं है। गणिका के लिये दूसरा शब्द है सामान्या अर्थात् जो किसी व्यक्ति विशेष की न हो। रीतिकालीन साहित्य में तो लगता है घर-गृहस्थी में भी ऐसी सामान्याओं की कमी नही है और हमारा तो विश्वास है कि रीति-कालीन कवियों ने परकीया नायिका का वर्णन जितनी रुचि और रस

के साथ किया है उतना स्वकीया का नहीं। देखिए, प्रसिद्ध साहित्यिक पं० कृष्णबिहारी मिश्र क्या कहते हैं —

"संस्कृत और व्रजभाषा काव्य में शृंगार रस के अन्तर्गत नायिका भेद का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता और बारीकी से किया गया है। अनेक सज्जन शृंगार रस में स्वकीया नायिका के भेद और भेदान्तरों तक तो नायिकाभेद की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। पर इसके आगे परकीया और गणिकाओं के सम्बन्ध में होनेवाले वर्णनों को वे केवल कुरुचि प्रवर्तक मानते हैं। लेखक भी परकीया और गणिका वर्णन को आदर की दृष्टि से नहीं देखता। पर इस विषय में प्राचीन कवियों के जो वर्णन है उनमें कहीं-कहीं भाव चमत्कार बड़े अनूठे हैं। इन वर्णनों को पढ़ कर यदि अपरिपक्व समझ और अवस्था वाले युवकों में कुरुचि का संचार होता हो, तो आश्चर्य नहीं। पर तो भी कविता सौन्दर्य इनमें अवश्य है। एक बात और है हिन्दी कविता में परकीया और गणिका नायिकाओं का वर्णन बुरा प्रभाव उत्पन्न करनेवाला होने पर भी इतना गया बीता नहीं है जितना बाइरन आदि कई अंग्रेज़ कवियों के अश्लील वर्णन।" आगे चल कर मिश्रजी और भी स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि मतिराम अच्छा कवि हैं और मतिराम का परकीया एवं गणिका वर्णन अपेक्षाकृत अच्छा है —

"रस राज में परकीया और गणिका वर्णन परम मनोहर हुआ है। यद्यपि मतिराम ने स्वकीया का वर्णन भी अच्छा किया है; पर सब बातों पर विचार करने के बाद यही निष्कर्ष निकलता है कि उनका गणिका और परकीया का वर्णन अधिक अच्छा है। कला नैपुण्य की सर्वत्र प्रशंसा होनी चाहिए, परन्तु कुरुचि प्रवर्तक काव्य का कर्त्ता अपनी कृति के लिए समाज के प्रति उत्तरदायी अवश्य है। ऐसी कृति से कवि के चरित्र-सम्बन्ध में यदि प्रतिकूल अनुमान किया जाय, तो उसे निष्कारण नहीं मानना होगा। इनके बहुत से शृंगार वर्णनों में अश्लीलता की स्पष्ट झलक दिखलाई पड़ती है।"

यदि मिश्रजी जैसे प्रतिष्ठित आलोचक भी ऐसे वर्णनों के प्रशंसक रहेंगे तो फिर भला कवियों को ऐसी और भी कला निपुणता दिखाने की की प्रेरणा क्यों न मिलेगी?

कविवर मतिराम की कुछ गणिका-नायिकाओं की चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी—

१-"—बार विलासिनी कोटि हुलास बढ़ाइकै अंग सिंगार बनायो।
प्रीतम गेह गई चलिकै मतिराम तहाँ न मिल्यौ मन भायो।
संग सहेली सौं रोष कियो, नहिं आपुन को यह दोष लगायो।
हाय! कियो मैं मतौ यह कौन जो आपने भौन बोलि पठायो।"

२-"—साँझ ही सिंगार सजि प्रान प्यारे पास जाति
बनिता बनिक बनी बेलिसी अनंग की;
कवि 'मतिराम' कल किंकिनी की धुनि बाजै,
मन्द-मन्द चलनि विराजति गयन्द की।
केसरि रंग्यो दुकूल हाँसी में परत फूल,
केसनि में छाई छवि फूलनि के वृन्द की।
पीछे-पीछे आवति अंधेरी-सी—भंवरभीर,
आगे आगे फैलति उजारी मुख चन्द की।"

३-"—मोहि पठाई कुंज में सठ आयो नहि आपु।
आली औरौ मीत कौ मेरो मिल्यो मिलापु॥"

४-"—नागर विदेस में बिताय बहु द्यौस आयो
नागरि के हिय में हुलासनि की खानि की;
'कवि मतिराम' अंक भरि के मंयकसुखी
नेहै सरसाय मति कीनी सुखदानि की;
सुबरन बोलिकै बतावति है सुबरन,
हीरन बतावति है छवि मुसकानि की;
आँखिन ते आनन्द के आँसू उमगाय प्यारी
प्यारे को दिवावति सुरति मुकतान की।"

बिहारी ही भला गणिका-नायिका के वर्णन में पीछे क्यों रह जाते—

"कहा भयौ जो बीछुरे, मो मनु तो मन साथ।
उड़ी जाउ कितहू तऊ गुड़ी उड़ायक हाथ॥"

(रत्नाकरजी इसमें गणिका-नायिका ही मानते हैं)।

हमारे विचार से तो निम्नांकित दोहे में भी नायिका गणिका ही है—

"—लखि लोने लोइननुकैं कोइनु, होइं न आजु।
कौन गरीब निवाजिबौ कित तूठ्यौ रतिराजु ॥"

रीतिकालीन साहित्य गार्हस्थिक काव्य है यह कहना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि यदि यह काव्य सपत्नियों के वर्णन तक ही सीमित रहता तो एक बात थी वह तो परकीया नायिकाओं की निर्लज्जता से घोर अश्लील और पंकिल हो रहा है। सच कहा जाय तो रीतिकालीन काव्य गार्हस्थिक व्यवस्था के लिए एक धमकी या चुनौती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में न तो कोई स्त्री अपने पति से सन्तुष्ट थी और न कोई पति अपनी पत्नियों से। शठ नायक का क्या अर्थ काव्य शास्त्र में होता है? जो परस्त्रीगामी हो और इस कुकृत्य के लिये जो लज्जा का अनुभव भी न करे और खण्डिता नायिका क्या है? जिसका पति परस्त्री विहार करके आया हो और उसका यह पाप किन्ही चिह्नों से स्पष्ट हो जाय और लक्षिता नायिका क्या है? वह स्त्री जिसका पर पुरुष विषयक प्रेम स्पष्ट हो जाय। लेकिन रीतिकालीन काव्य में ऐसे स्त्री और पुरुषों के लोकविरोधी चित्र खींचने में इस काल के कवियों ने सर्वाधिक रुचि दिखाई है जो पाप ही नहीं करते, डंके की चोट उसका प्रचार भी करते हैं।

शुक्लजी का यह कहना सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि नायिका के साढ़े तीन हाथ के शरीर में ही इस काल के कवियों ने अपनी समस्त काव्य-शक्ति खर्च करदी।

रीतिकालीन काव्य मुख्यतः नायिका भेद का काव्य है। इतनी नायिकायें और उनके भेद-उपभेद काव्य में उपस्थित कर दिये गए कि अगर 'कामसूत्र' रचियता वात्स्यायन भी उन्हें देखते तो अपनी हार स्वीकार कर लेते। रीतिकालीन साहित्य वास्तव में काम-शास्त्र की साहित्याभिव्यक्ति के अतिरिक्त और है ही क्या? केवल छन्दों में कोई बात कहने से उसकी अश्लीलता कम नहीं हो जाती—हाँ, तीव्रतर अवश्य हो जाती है। 'कामविज्ञान' जहाँ काम-सम्बन्धी विरोधों का स्पष्टीकरण करके, सामाजिक उपादेयता की वस्तु बन जाता है; वहाँ केवल काम की अन्ध क्रान्ति करनेवाला रीतिकालीन साहित्य समाज के शिवत्व के मूल में विष सिंचन करता है। यह बात विश्वास के साथ कही जा सकती है कि रीतिकालीन कवियों ने अपने आश्रय-दाताओं की रुचि का ध्यान रखते हुए अपनी काव्य शक्ति का जितना

अधिक अंश परकीया वर्णन में अपव्यय किया उसका शतांश भी स्वकीया वर्णन में नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुष और स्त्रियों के पास उस समय अश्लीलता के इस अकाण्ड ताण्डव के अतिरिक्त मन बहलाने का और कोई संस्कृत साधन ही नहीं था। कितनी कुटनियाँ, कितनी प्रकार की सखियाँ और कितनी प्रकार की दूतियाँ इस काल के काव्य-क्षेत्र में आकर एकत्रित हो गई हैं—मानो संसार में और कहीं उन्हें स्थान ही नहीं मिला। नायिकायें भी ऐसी अभिसारिका जो दिन में भी अभिसार करें, रात में भी, वह फिर चाहे अंधेरी हो या उजेली। रीतिकालीन साहित्य से तो ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल के सामन्तों ने व्यभिचार और दुराचार को एक अत्यन्त साधारण बात बना दिया था और उनके चाटुकार कवियों ने उसे महिमान्वित कर आकर्षक बनाने में अपने आश्रयदाताओं की जिस स्वामिभक्ति का पालन किया वह भारत के कवियों के इतिहास में कलंक का एक लम्बा अध्याय है। इन कवियों ने कविता की है या कोयले की दलाली यह कहना कठिन है। रीतिकालीन कवि इस कलंक से बचते भी तो कैसे जब उन्होंने स्वयं प्रकृति के विशाल वैभव और विश्व के उन्मुक्त जीवन की उपेक्षा कर 'काजर की कोठियों' (सामन्त महलों) में रहना अधिक श्रेयस्कर समझा। ये स्वामिभक्त कवि हाथ पैरों से नहीं वाणी से अपने अन्नदाताओं की विकृत रुचि के लिये उचित वातावरण उत्पन्न करने में लगे रहते थे। लोग रीतिकालीन काव्य के कलापक्ष की प्रशंसा करते नहीं थकते। इस कलापक्ष के आवरण में ही उस काल में अश्लीलता और कामुकता का घर-घर प्रवेश सरल हो गया। उस काल का कलापक्ष तो बिच्छू के डंक के समान है जो अपने स्पर्शमात्र से पाठकों के मन-मस्तिष्क में बिष का तीव्र संचार कर देता है। अगर रीतिकालीन काव्य का यह डंक ही टूटा होता तो फिर वह भय का कारण भी नहीं रहता।

रीतिकालीन कवियों के उन हाथों की सफाई देखिये जिन्होंने समाज से 'सत्य' और 'शिवं' की भी सफाई करदी।

एक परकीया को इस बात पर अत्यन्त कष्ट है कि पराया प्रियतम कभी अपना नहीं होता। मैं तो उसके लिये बदनाम होगई और उसने मेरे लिये क्या किया ?

"—रावरे नेह की लाज तजी, अरु गेह के काज सबै बिसराए,
डारि दियो गुरु लोगनि को डरु, गाँव चवाय में नाम धराए।
हेत कियौ हम जो तौ कहा तुम तौ 'मतिराम' सबै बहराए,
कोऊ कितेक उपाय करौ, कहूँ होत है आपने, पीउ पराए।"

भक्तियुग में जब कृष्ण की वंशी बजती थी तो गोपियाँ कृष्ण की भक्ति में संसार की सुधि भूल बैठती थीं, किन्तु रीति युग तक आते-आते सम्भवतः कृष्ण ने कुछ ऐसे नए राग 'देव' जी की सहायता से सीख लिये कि अब उनकी वंशी की ध्वनि सीधा काम-ज्वर उत्पन्न करती है—

"—मुरली सुनत बाम कामजुर लीन भई।
धाई धुरलीक सुनि विधी विधुरन सौं॥
पावस न दीसी यह पावस नदी सी फिरैं।
उमड़ी असंगत तरंगित उरनि सौं॥"

इतना ही नहीं देखिए अब गोपियाँ भागती भी हैं तो रीतिकालीन फैशन के अनुकूल—

"—भूषननि भूलि पैन्हे उलटे दुकूल देव,
खुले भुजमूल प्रतिकूल विधि वंक मैं।
चूल्हे चढ़े छाँड़े, उफनात दूध भाँड़े उन,
सुत छाँड़े अंक, पति छाँड़े परजंक मैं॥"—'देव'।

देखिए यह बिहारी के नायक हैं या आश्रयदाता जिन्होंने किसी अन्य स्त्री के प्रेम में अपनी अनेकों पत्नियाँ विस्मृत कर दी हैं—

"—दच्छिन पिय ह्वै बामबस बिसराई तिय आन।
एकै बासरि कैं विरह लागी बरष विहान॥"

परकीया नायिकाओं का अकाण्ड ताण्डव देखिए—

१—"अंगुरिनु उचि भरु भीति दै उलमि चितै चख लोल।
रुचि सौं दुहुँ दुहूँन के चूमे चारु कपोल॥—"बिहारी"।
२—सुख सौ बीती सब निसा मनु सोए मिलि साथ।
मूका मेलि गहे सु छिनु हाथ न छोड़े हाथ॥—'बिहारी'।

नायिकाओं को आज तो जैनेन्द्रजी, यशपाल तथा अंचल अपने उपन्यासों में निर्वस्त्र कराते हैं किन्तु यह परम्परा तो पुरानी है और मतिराम के एक नायक इसके पूर्व पुरुष प्रतीत होते हैं।

"इरथौ बसन प्रिय सुरत में तिय तन जोति समीप।
केलि भौन में रातिहू भए द्यौस के दीप ॥—'मतिराम'

देखिए रीतिकाल का एक नायक कितना चिंतित व व्यथित है। क्यों ?—

"—हाय कहा कहौं चंचल या मन की गति में ? मति मेरी भुलानी।
हौं समुझाय कियौ रस भोग न तेऊ तऊ तिसना बिनसानी।
दाड़िम दाख रसाल, सिता, मधु, ऊखपिये औ पियूष से पानी ;
पै नतऊ तरुनी तिय के अधरान के पीवे की प्यास बुझानी।"—'देव'।

महाभारत के सूत्रधार और योगीराज कृष्ण को देखिये मतिराम ने क्या काम सौंपा है ?

"—केलिकै राति अघाने नहीं दिन हूँ में लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोई पानी दै जाउ यौं भीतर बैठि के बात सुनाई।
जेठी पठाई गई दुलही हँसि हेरि दिए मतिराम बुलाई।
कान्ह के बोल पै कान्ह न दीनौ सुगेह की देहरि पै धरि आई।"

स्त्री को मदिरा पान कराकर उसकी लज्जा को दूर किया जाय—रीतिकाल के इस सामंती दृष्टिकोण ने न जाने रीतिकाल में कितनी स्त्रियों को मदिरा पान के लिए विवश किया होगा।

—"निपट लजीली नवल तिय बहकि बारुनी सेइ।
त्यौं त्यौं अति मीठी लगति, ज्यौं ज्यौं ढीठ्यौ देइ॥
हँसि-हँसि देखि नवल तिय मद के मद उमदाति।
बलकि-बलकि बोलति बचन ललकि-ललकि लपटाति॥"
—'बिहारी'।

बिहारी का वश चले तो देखिए वे आदमी को कहाँ स्नान करायें—

"—तिय तिथि तरुन किशोर वय पुण्य काल सम दोनु।
काहूँ पुण्य न पाइयतु वैस सन्धि संक्रोनु॥"

रीतिकाल का नायक स्त्री से क्या व्यायाम कराता है—

"—अहे दँहेड़ी जिन धरै जिन तू लेहि उतारि।
नीके है छींके छुवै ऐसे ही रहि नारि॥"

देखिए रीतिकाल के एक दूसरे रसिक को—

"—बढ़त निकसि कुच-कोर-रुचि कढ़त गौर भुजमूल।
मन लुटिगौ लोटनु चढ़तु, चौंटत ऊँचे फूल॥"

रीतिकाल के समाज में जो घुन लग गया था उसने न जाने कितने परिवारों को खोखला बना दिया होगा। बिहारी की एक नायिका देवर की गन्दी छेड़खानी से परेशान है—

"—कहत न देवर की कुवत कुलतिय कलह डराति।
पंजर गत मंजार ढ़िग सुक लौं सूकत जाति॥"

किन्तु निम्नांकित दोहों में देखिए कि रीतिकाल में भाभियों और देवरों में कितने व्यापकरूप में प्रणय व्यापार चलता था और कवि उसको आकर्षक रूप में चित्रण करके उसके क्षेत्र का विस्तार ही करता था। रीतिकाल के इस भाभी-देवर सम्बन्ध की रामायण काल के भाभी-देवर सम्बन्ध से तुलना कीजिए और फिर देखिये कि समाज ने कितनी उन्नति की है ?

१—"देवर फूल हने जु, सु उठे हरषि अँग फूलि।
हँसी करत औषधि सीखनु देह ददोरन भूलि॥"—बिहारी।

२—"और सबै हरषी हँसति गावति भरी उछाह।
तुँही बहू बिलखी परै क्यों देवर कें ब्याह॥"—बिहारी।

एक परकीया नायिका नायक की इस चेष्टा पर बड़ी प्रसन्न हो रही है।

"—लरिका लैवे के मिसन लंगर मो ढिंग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाइ॥"—बिहारी।

बिहारी की भाँति न जाने कितने रीतिकालीन कवि नदी के घाटों आदि के पास बैठ कर काव्य (?) रचना करते होंगे। बिहारी का सूक्ष्म निरीक्षण देखिए—

१—"नहिं अन्हाइ नहिं जाइ घर चित चिहुँटयौ तकि तीर।
परसि फुरहरी लै फिरति विहँसति धसति न नीर॥"

२—"विहँसति सकुचति सी दिये कुच आँचर बिच बाँह।
भीगै पट तट कौं चली न्हाइ सरोवर माँह॥"

३—"मुँह धोवति एड़ी घिसति हँसति अनगवति तीर।
धसति न इंदीवर नयन कालिंदी के तीर ॥"

४—"लै चुभकी चलि जात जित जित जलकेलि अधीर।
कीजति केसरि नीर से तित तित के सरि नीर ॥"—बिहारी।

कामांधता की सीमा यहीं नहीं हुई। परस्त्रीगमन का जो भयंकर कामज्वर उस समय के लोगों पर चढ़ा हुआ था न तो वह पथ्य-अपथ्य का विचार करता था न पात्र-अपात्र का। नायिका ने अपनी दूती नायक को लेने भेजी थी किन्तु स्वयं दूती ही नायक की कामवासना का शिकार हो गई। रति चिन्हों के द्वारा इसका रहस्योद्घाटन होने पर नायिका दूती को फटकार रही है—

१—"गह्यौ अबोलौ बोलिप्यौ आपुहिं पठै बसीठि।
दीठि चुराई दुहुन की लखि सकुचौंहीं दीठि ॥"—बिहारी।

२—"याही को पठाई, बड़ो काम करि आई, बड़ी
तेरी है बड़ाई, लख्यौ लोचन लजीले सौं।
साँची क्यों न कहै, कछु मोको किधौं आपुही को,
पाई बकसीस लाई बसन छबीले सौं।
कवि 'मतिराम' मोसौं कहत सँदेसौऊ न,
भरे नख सिख अंग हरख कटीले सौं।
तू तो है रसीली, रस बातन बनाइ जानै,
मेरे जानि आई रस राखि के रसीले सौं।"—मतिराम।

काम का यह असीम समुद्र मन्दिरों आदि पवित्र स्थानों की सीढ़ियों तक से टकराने लगा था और पूजा करनेवाले पुजारी तथा कथा सुनानेवाले कथावाचक तक इसके प्रभाव से नहीं बचे थे। समाज में पवित्र एवं आदरणीय समझे जानेवाले लोगों की वास्तविक दशा क्या थी? बिहारी यह बात स्पष्ट करते हैं—

पुजारी—"मैं यह तोही मैं लखी भगति अपूरब बाल।
लहिप्रसाद मालाजु भौ तन कदंब की डाल ॥"

कथावाचक—"परतिय दोष पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि।
कस करि राखी मिसुर हूँ मुँह आई मुसकान ॥"

स्पष्ट है, उपरोक्त दोहों में वर्णित पुजारी और कथावाचक दोनों

ही परस्त्रीगामी हैं। किसी परकीया नायिका को कोई स्त्री शिक्षा देती है कि पर-पुरुष से प्रेम करना अच्छा नहीं है। इसके उत्तर में नायिका जो बात कहती है उससे रीतिकालीन समाज का सब भेद खुल जाता है। नायिका का कहना है कि मैं ही क्या, गोकुल में कोई ऐसी स्त्री ही नहीं है जिसे यह रोग न हो—

"—कितीन गोकुल कुलवधू किहिं न काहि सिख दीन।
कौने तजी न कुलवधू ह्वै मुरली सुरलीन॥" —'बिहारी'।

लेकिन रीतिकाल में ऐसी सखियों का ही बाहुल्य था जो नायिकाओं को पर-पुरुषगामी होने के लिये प्रेरित किया करती थीं। देखिये एक सखी नायिका को समझा रही है कि लोकापवाद की चिन्ता छोड़कर तू नायक को हृदय से क्यों नहीं लगा लेती—

"—आगै तो कीन्हीं लगा लगी लोयन कैसे छिपै अजहु जो छिपावति।
तू अनुराग कौ सोध कियो ब्रज की बनिता सब यों ठहरावति।
कौन सँकोच रह्यौ है निवाज जौ तू तरसै उनहूँ तरसावति।
बावरी जो पै कलंक लग्यो तौ निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति।"
—'निवाज'।

रीतिकालीन खंडिता नायिकाओं के रूप में उस काल के पुरुष समाज का वास्तविक चरित्र भी अनावृत हो जाता है। खंडिता नायिका पर-स्त्रीगामी पुरुष की ही स्त्री हो सकती है।

नायक कहीं अन्यत्र रात बिता कर आया है। धीरा खंडिता नायिका रति चिन्हों द्वारा पहचान कर उससे व्यंगपूर्ण भाषा में कहती है—

"—पलन पीक अंजन अधर धरे महावर भाल।
आए आजु भली करी भले बने हो लाल॥"—'बिहारी'।

ऐसी ही कुछ अन्य खंडिताओं की कराह निम्नांकित पंक्तियों में सुनिये—

"—भोर ही नौत गई ती तुम्हें वह गोकुल ग्राम की ग्वालिनि गोरी।
अधिक रात लौं 'बेनी प्रवीन' कहा ढिग राखि करी बरजोरी।
आवै हँसी मोहि देखत लालन भाल में दीनी महावर घोरी॥
ऐते बड़े ब्रज मण्डल में न मिली कहुँ माँगेहु रंचक रोरी॥"

रीतिकाल में वही कवि श्रेष्ठ समझा जाता था जो विश्व की प्रत्येक वस्तु में नायिका की आकृति देख सके। सेनापति ने तो तलवार पगड़ी, चौपड़ आदि में भी नायिका का आरोप किया है। इसी प्रकार यदि योग, ज्योतिष, दर्शन, गणित आदि का वर्णन भी शृंगारिक रूप में नहीं किया तो फिर क्या कवि और क्या कविता।

जंग के रूप में खींचा गया रति रंग का एक चित्र देखिए। संसार के सब रसों का शृंगार के अन्तर्गत वर्णन कर देना रीतिकाल की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है—

"—कंचन लता सी थहराति अंग अंग मिलि,
सीकर समूह अंग अंगनि में दरसै।
चुम्बन कपोल नैन खंजन अरध नख,
गहत पयोधर प्रचंड पानि परसै।
आनन्द उमंगनि में मुस्कात बाल तुत,
रात बतरात सतरात रस बरसै।
लपटनि झपटनि मसकनि अनेक अंग,
रति रंग जंग में अनंग रंग सरसै।"

युद्ध के नाम से ही डरनेवाले केवल अपने कवियों के लिये ही वीर रीतिकालीन राजा अब रति-जंग वर्णन सुनना पसन्द करते थे।

रीतिकालीन काव्य और प्रकृति—

रीतिकाल में यदि प्रकृति की उपेक्षा की गई तो वह स्वाभाविक ही था क्योंकि मुख के सामने चन्द्र किसे अच्छा लगता—

"देखै मुख मुखै कमलै न चन्दरी।" —'केशव'।

इसलिये प्रकृति रीतिकाल में केवल उद्दीपन विभाव के रूप में ही चित्रित मिलती है। उसका उपयोग संयोगावस्था में नायक-नायिका के हृदय को प्रसन्न करने के लिये किया गया है और विरहावस्था में उसे जलानेवाली, दुख देनेवाली वस्तु के रूप में वर्णन करके कवियों ने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझली। इस काल में या तो कवियों ने उपमानों के लिए प्रकृति की ओर देखा है या उद्दीपन के लिए। इन दोनों बातों के लिये प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की कोई आवश्यकता न थी क्योंकि ये दोनों बातें तो कवियों ने परम्परा से ही ग्रहण की थीं।

उद्दीपनरूप में प्रकृति-चित्रण के कुछ उदाहरण देना आवश्यक है—

"—कवि बेनी नई उनई है घटा मोरवा बन बोलत कूकन री।
छहरै बिजुरी छिति मंडल छ्वै, लहरै मन मैन भभूकन री।
पहिरौ चुनरी चुनिकै दुलही संग लाल के झूलहु झूकन री।
ऋतु पावस यों ही वितात हौ भरि हौ फिरि बावरी हूकन री।"

—'बेनी'।

वियोगावस्था में प्रकृति वस्तुयें विरहिणियों को कैसी दिखलाई देती हैं इसका एक चित्र देखिये—

"—जलभरे झूमैं मानो भू पै परसत आइ,
दसहू दिसानि घूमै दामिनि लए लए।
धूरिधार धूमरे से, धूम से धुआरे कारे,
धुरवान धारे धावैं छविसौं छए छए।
श्रीपति सुकवि कहैं घेरि घेरि घहराँहिं,
तकत अतन तन ताव ते तए तए।
लाल बिनु कैसे लाज चादर रहेगी आज,
कादर करत मोहि बादर नए नए।"

बिहारी का विचार है कि नीचे उतर कर बरसनेवाले बादल कामाग्नि बर्षण ही कर रहे हैं यहाँतक कि मुनियों के हृदय में भी स्त्रियों की याद उद्दीप्त हो उठी है—

"—तियतरसौंहैं मुनि किए करि सरसौंहैं नेह।
धर परसौंहैं ह्वै रहे झर बरसौंहैं मेह।।"

फ़ारसी का प्रभाव—

रीतिकाल में हिन्दू-मुसलमान संस्कृति दूध-पानी की भाँति मिल गई थी। साहित्य भी उससे अछूता कैसे रह सकता था? अन्य कलाओं की भाँति तत्कालीन काव्य पर भी मुसलमानी प्रभाव की छाया स्पष्ट है। अत्युक्ति तो यहाँ के काव्य के लिये पूर्व परिचित थी किन्तु 'नाज़ुक ख़याली' तथा ऊहात्मक ऊक्तियाँ उसने मुसलमानी संस्कृति से ही लीं।

नाज़ुक खयाली—

"—सखी सिखावति मान विधि सैननि बरजति बाल।
हरुए कहि मो हिय बसत सदा बिहारीलाल।।"

उर्दू का एक शेर है—

"—इन्तहाए लागरीं से जब नज़र आया न मैं।
हँसके वो कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिये।।"

लेकिन बिहारी इस दिशा में भी दो पग आगे बढ़ गये। अगर मर्त्यों को अपने चर्म-चक्षुओं से कोई वस्तु न दीखे तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु बिहारी की नायिका तो इतनी कृशकाय हो गई है कि वह मृत्यु को भी चश्मा लगाने पर भी नहीं दिखाई देती।

"—करी विरह ऐसी तऊ गैलन छाँड़त नीचु
दीनैंहूँ चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु।"

देखिये मतिराम की नायिका के आँसू बीच में ही विलुप्त हो जाते हैं—

"—विरह तपे तिय कुचन लौं अँसुवा सकत न आय।
गिरि उड़गन ज्यों गगनतें बिचिहिं जात बिलाय॥"

लेकिन बिहारी को 'ऊहा' में कौन पा सकता है उनकी नायिका के ऊपर डाली गई गुलाब जल की शीशियों का जल नायिका के शरीर तक पहुँच ही नहीं पाता—

"—औंधाई सीसी सु लखि विरह बरनि विललात।
बिचही सूखि गुलाब गौ छींटों छुई गात॥"

तथा

"—आड़े दै आले बसन जाड़ेहूँ की राति।
साहस ककै सनेहवस सवै सखी ढिग जाति॥"

ऊहात्मक उक्तियों की कोई सीमा भी हो। एक गाँव में जाड़े के दिनों में भी लू चल रही है लेकिन इसका कारण बिहारी जानते हैं और बताते हैं—

"—सुनत पथिक मुँह माह निसि चलति लेवैं उंदिगाम
बिनु बूझैं बिनु ही कहैं जिवति विचारी बाम॥"

इसके अतिरिक्त भक्तिकाल की तुलना में अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग इस काल की कविता में कई गुना अधिक मिलेगा।

रीतिकालीन काव्य का कलापक्ष—

यदि कहें कि रीतिकाल (१७००-१६००) की काव्य-साधना उसके कलापक्ष की साधना है तो अत्युक्ति न होगी। जीवन की विविधता के इस काल में दर्शन नहीं होते। कवियों के पास कहने के लिए था ही क्या? नायिका के 'साढ़े तीन हाथ के शरीर' पर ही इस काल के कवियों ने अपनी काव्य-साधना के पुष्प चढ़ाए हैं। हाँ, नायिकाओं का

विस्तार उसके भेदोपभेदों के रूप में जितना इस काल में हुआ उतना शायद ही कभी हुआ हो। जाति के अनुसार नायिका के भेद, स्वभाव के अनुसार नायिका के भेद, आयु के अनुसार नायिका के भेद, स्थिति के अनुसार नायिकाओं के भेद—जाने कितने प्रकार की नायिकायें इन कवियों ने रीतिकालीन काव्य में एक ही स्थान पर एकत्रित करदी हैं और फिर सम्पूर्ण काव्य किसी न किसी नायिका के लक्षण के उदाहरण के रूप में ही लिखा गया है। जब कोई बात कहने के लिए नहीं थी तो इस काल के कवियों ने 'तिल का ताड़' बनाया और 'बात की ही करामात' दिखाई। इस काल में दो प्रकार के कवि मिलते हैं —

१—जो केवल कवि है—जिन्होंने अपनी कविता लक्षणों के उदाहरणरूप में नहीं लिखी है किन्तु जिसमें नायिका और अलंकार के भेदोपभेदों के लक्षण स्पष्ट छाँटे जा सकते हैं।

२—वे लोग जिन्होंने जानबूझ कर अपनी कविता लक्षणों के उदाहरणस्वरूप ही लिखी है।

वास्तव में रीतिकाल में कुछ ऐसी प्रवृत्ति चल पड़ी कि कवि और आचार्य दोनों एक साथ होना आवश्यक समझा गया। इसका फल यह हुआ कि न तो आचार्यत्व और न कवित्व का ही पूर्ण विकास इस युग में हो पाया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रीतिकाल की इस प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए लिखते हैं—

"कवियों ने कविता लिखने की यह एक प्रणाली ही बनाली कि पहले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखना फिर उसके उदाहरण के रूप में कवित्त या सवैया लिखना। हिन्दी-साहित्य में यह अनूठा दृश्य खड़ा हुआ। संस्कृत-साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में यह भेद लुप्त-सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्य्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है, उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खंडन-मंडन, नए-नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि इस काल में कुछ भी न हुआ।"

महाराज जसवन्तसिंह के 'भाषाभूषण' नामक ग्रन्थ में परिभाषा और उदाहरण को एक साथ ही रख देने की पद्धति देखिए—

परिसंख्या अलंकार—

"—परिसंख्या इकथल बरजि दूजे थल ठहराय।
नेह हानि हिय में नहीं भई दीप में जाय ॥"

सार अलंकार—

"—एक-एक ते सरस जब अलंकार यह सार।
मधु सौं मधुरी है सुधा कविता मधुर अपार ॥"

निम्नांकित छन्द ऐसा लगता है कि 'देव' ने शृंगार रस के समस्त संचारी भावों के नाम गिनाने के उदाहरणस्वरूप रखा हो—

"—वैरागिनि किधौं अनुरागिनि तू देव,
बड़भागिनि लजति औ लरति क्यौं ?
सोवत, जगति, अरसाति, हरषाति,
अनखाति, बिलखाति, दुख मानति डरति क्यों ?
चौंकति, चकति, उचकति औ बकति,
बिचकति औ धकति ध्यान धीरज धरति क्यों ?
मोहति, मुरति, सतराति, इतराति, साहचरज,
सराहौं आहचरजि मरत क्यों ?"

'देव' रस की परिभाषा देते हैं—

"—जो विभाव अनुभाव अरु, बिभचारिनु करिहोइ।
तिथि की पूरन बासना सुकवि कहत रस सोइ ॥"

'देव' कृत आलम्बन और उद्दीपन की परिभाषा भी देखिए—

"—रस उपजै आलम्बि जिहिं सो आलम्बन होइ।
रसहि जगावै दीप ज्यौं उद्दीपन कहि सोइ।"

'देव' हास्यरस की परिभाषा करते हैं—

"—भाषा भूषन भेष जँह उलटेइ करि मूल।
उत्तम मध्यम अधम कहि त्रिविध हास्यरस मूल ॥"

इस प्रकार 'देव' ने और भी रसों के लक्षण और उदाहरण दोनों ही लिखे हैं। वे अद्भुत रस का लक्षण देते हैं—

"—आहचरज देखे सुने विस्मय बाढ़त चित्त।
अद्भुत रस विस्मय बढ़े, अचल सचकित निमित्त ॥"

अद्भुत रस का उन्हीं के द्वारा दिया हुआ उदाहरण भी देखिये—

"—राधे को न्योति बुलायवे को बरसाने लौं हैं पठई नंदरानी।
श्री वृषभानु की सम्पति देखि, थकी गति औ मति औ अति बानी।
भूलि गई मन मन्दिर मैं प्रतिविम्बनि देखि विशेष भुलानी।
चारि घरी लौं चितौति-चितौति, मरू करि चन्द्रमुखी पहिचानी।

रीतिकालीन साहित्य में अलंकार, रस, (नवरस शृङ्गार हास्यादि) ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, संचारीभाव, नायिका भेद आदि के लक्षण और उदाहरण मिलेंगे। किन्तु कुछ कवि तो ऐसे हैं जिन्होंने लक्षण और उदाहरण दोनों लिखे हैं। अर्थात् जो कवि भी हैं और आचार्य भी। कुछ कवि ऐसे हैं जिन्होंने लक्षण नहीं लिखे हैं किन्तु उनकी कविता में रीतिपद्धति की छाप स्पष्ट है अर्थात् उनकी कविताओं में उपरोक्त सभी बातों के उदाहरण मिल जायेंगे।

१—ऐसे कवि जो आचार्य भी हैं :—

केशव-रचित ग्रंथ—'रामचन्द्रिका', 'वीरसिंह देव चरित', 'जहाँगीर जस-चन्द्रिका', और विज्ञान गीता'। 'कविप्रिया'। 'रसिक प्रिया'।

चिन्तामणि-रचित ग्रंथ—'रसमंजरी', 'पिंगल', 'शृंगार मंजरी', 'कवि-कुल-कल्पतरु'।

मतिराम-रचित ग्रंथ—'रसराज', 'ललितललाम', 'छन्दसार', 'साहित्य-सार' और 'लक्षण शृंगार'।

भूषण-रचित ग्रंथ—'शिवराज भूषण', 'शिवावावनी', छत्रसाल दशक'।

महाराज जसवंतसिंह—(ये केवल आचार्य के नाते प्रसिद्ध हैं) ग्रंथ—'भाषा भूषण'।

अन्य विषय के ग्रंथ—'अपरोक्षसिद्धान्त', 'सिद्धान्त-बोध', 'सिद्धान्त-सार' तथा 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक'।

कुलपति मिश्र-रचित ग्रंथ—'रस रहस्य', 'द्रोण पर्व', 'मुक्ति तरंगिनी', 'नखशिख', 'संग्रहसार', 'गुण रहस्य',।

देव—१-भाव विलास, २-अष्टयाम, ३-भवानी विलास, ४-कुशल विलास, ५-प्रेम चन्द्रिका, ६-जाति विलास, ७-रस विलास, ८-शब्द-रसायन, ९-सुखसागर तरंग, १०-नीति शतक, ११-सुजान-विनोद, १२-राग रत्नाकर, १३-देव चरित्र, १४-सुन्दरी सिन्दूर,

१५–शिवाष्टक, १६–प्रेमतरंग, १७–देवमाया प्रपंच, १८–देवशतक, १९–वृत्त विलास, २०–पावस विलास, २१–रामानन्द लहरी, २२–प्रेमदीपिका, २३–सुकाल विनोद, २४–राधिका विलास, २५–नखशिख-प्रेमदर्शन।

भिखारीदास-ग्रंथ—१–'काव्यनिर्णय', २–रस सारांश, ३–छन्दार्णव पिंगल, ४–श्रृंगार निर्णय, ५–नाम प्रकाश, ६–विष्णुपुराण भाषा, ७–छन्द प्रकाश, ८–शतरंज शतिका, ९–अमर प्रकाश।

रसलीन-ग्रंथ—१–अंगदर्पण, २–रस प्रवोध।

तोषनिधि-ग्रंथ—१–सुधानिधि, २–विनय शतक, ३–नखशिख।

पद्माकर-ग्रंथ—१–जगद्विनोद, २–गंगा लहरी, ३–हिम्मत बहादुर, विरुदावली, ४–पद्मार्णव, ५–आलीजाहशाह प्रकाश, ६–भाषा-हितोपदेश, ७-प्रबोध पचासा।

प्रतापसिंह-ग्रंथ—१–व्यंग्यार्थ कौमुदी, २–काव्य विलास, ३–श्रृंगार-मंजरी, ४–श्रृंगार शिरोमणि, ५-अलंकार चिन्तामणि, ६–जयसिंहप्रकाश, ७–काव्य विनोद, ८–रसराज की टीका, ९–रत्न चन्द्रिका, १०–जुगल नखशिख, ११–बलभद्र नखशिख की टीका।

कालिदास-ग्रंथ—१–बधू विनोद, २–कालिदास हजारा (कविता संग्रह)।

सूरति मिश्र-ग्रंथ—'काव्य सिद्धान्त'।

श्रीपति-ग्रंथ—'काव्य सरोज'।

सोमनाथ-ग्रंथ—'रसपीयूषनिधि'।

भिखारीदास-ग्रंथ—१–काव्य निर्णय, २–श्रृंगार निर्णय, ३ –छन्दार्णव विमल, ४–रससारांश।

दूलह-ग्रंथ—'कविकुल कण्ठाभरण।

ऊपर लिखा जा चुका है कि रीतिकाल में ऐसे भी कवि हैं जो आचार्य नहीं हैं किन्तु उनकी रचनायें रीति के प्रभाव से बिलकुल मुक्त नहीं कही जा सकतीं। सबसे प्रथम तो रीतिकाल के सर्वाधिक लोक-प्रिय कवि बिहारी को लीजिये। बिहारी ने केवल एक सतसई लिखी है, इनके और ग्रन्थ हों भी तो मिलते नहीं है। सतसई के दोहों से एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि यदि बिहारी आचार्य बनने का भी प्रयत्न करते तो रीतिकाल में बहुत कम कवि उनकी समानता कर

पाते। रीतिकाल के अच्छे-अच्छे आचार्य रीति पद्धति पर जिन काव्यांगों के समुचित उदाहरण प्रस्तुत न कर सके, वे उदाहरण सतसई में अनायास मिल जायेंगे। क्या रस, क्या अलंकार, क्या शब्द-शक्ति क्या नायिका भेद-बिहारी के दोहों में इनमें से कोई विषय छूटा नहीं है। बिहारी के कुछ दोहे देखिये, जो लगता है, कि अलंकारों के उदाहरणस्वरूप ही लिखे गए हैं—

"—तो पर वारों उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान॥"

(यमक अलंकार)

"—अज्यौं तरयौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इकरंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनि के संग॥"

(श्लेष अलंकार)।

"—सोहत ओढ़ें पीतपीट स्याम सलोने गात।
मनहु नीलमनि सैल पर आतम परयौ प्रभात॥"

(उत्प्रेक्षा अलंकार)।

"—डारे ठोड़ी गाड़ गहि नैन बटोही मारि।
चिलक चौंध में रूप ठग हाँसी फाँसी डारि॥

(सांग रूपक)।

बिहारी का निम्नांकित दोहा हास्यरस का उदाहरण भी प्रस्तुत करता है—

"अति धन लै अहसान के पारो देत सराहि।
वैद वधू निज रहसि सौं रही नाद मुख चाहि।"

१—पारे की विकृत प्रशंसा—आलम्बन।

२—धन लेकर भी अहसान करना—उद्दीपन।

३—वैद्य बधू द्वारा पति मुख निरीक्षण—अनुभाव तथा संचारी (स्मृति) आदि।

इसी प्रकार बिहारी के निम्नांकित दोहे में शब्दार्थ द्वारा हास्य सृष्टि का उदाहरण स्पष्ट है—

"—चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर
को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के वीर।"

बिहारी के कुछ ऐसे दोहे देखिये जो विभिन्न संचारी भावों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

"—नीठि नीठि उठि बैठिहू प्यौ प्यारी परभात।
दोऊ नींद भरे खरैं गरैं लागि गिर जात॥
(आलस्य संचारी)।

मृग नैनी दृग की फरक उर उछाह तन फूल।
बिन ही पिय आगम उमगि पलटन लगी दुकूल॥"
(हर्ष संचारी)।

निम्नांकित दोहों में लक्षण के विभिन्न भेदों के उदाहरण देखिए—

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कपं किसोरी दरस कैं खरे लजाने लाल।
(रूढ़ि लक्षण, ब्रज का अर्थ—ब्रज के लोग)।

कच समेटि करि भुज उलटि खए सीस पट डारि।
काको मन बाँधै न यह जूरा बाँधनि हार॥"
(लक्षण लक्षणा)।

यहाँ 'मन बाँधे' अपना बिलकुल अर्थ छोड़कर 'आसक्त होने' का अर्थ देता है। कहने का सारांश यह है कि बिहारी ने यद्यपि लक्षण-स्वरूप दोहे नहीं लिखते हैं फिर भी वह प्रवृत्ति उनके दोहों से स्पष्ट है।

कुछ अन्य कवि जो कि रीति पद्धति से मुक्त होकर लिखते रहे फिर भी यह कहना कठिन है कि उन पर रीतिकाल का प्रभाव नहीं है। (भूषण जैसा वीर रस का कवि भी रीतिकाल की रीति पद्धति से नहीं बच सका।) घनानंद, बोधा, सीतल ठाकुर आदि स्वच्छंद कवि हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट होगया होगा कि रीतिकाल में बहुत कम ऐसे कवि हुए जो लक्षण-ग्रन्थ लिखने या आचार्य बनने के लोभ को संवरण कर सके। रीतिकाल के इस रीति-बद्ध काव्य की प्रेरणा के मूलस्रोत संस्कृत के लक्षण ग्रन्थ और विभिन्न साहित्य-शास्त्र के सम्प्रदाय हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृत के निम्नांकित सम्प्रदायों का प्रभाव रीतिकाल पर है।

१—रस सम्प्रदाय।
२—अलंकार सम्प्रदाय।

३—रीति सम्प्रदाय।
४—वक्रोक्ति सम्प्रदाय।
५—ध्वनि सम्प्रदाय।

इन सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय हम 'अलंकारों का काव्य में स्थान' नामक निबंध में दे चुके हैं इसलिये पुनः उनका वर्णन करना पिष्टपेषण मात्र होगा।

हिन्दी के रीतिकालीन ग्रन्थों में मुख्यतः तीन प्रकार की निरूपण शैलियाँ मिलती हैं, जो क्रमशः काव्य-प्रकाश, शृंगार-तिलक तथा चन्द्रालोक को अपना आधार बनाती हैं।

१—काव्य-प्रकाश की शैली पर लिखे गये रीतिकालीन ग्रन्थ—

चिन्तामणि का 'काव्य कपल्पतरु' और 'काव्य विवेक'। देव का 'काव्य रसायन'। सेनापति का 'काव्यकल्पद्रुम', 'रस पीयूष निधि'। कुलपति का 'रस रहस्य'।

२—शृंगार-तिलक की शैली पर लिखे गये रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थ—

केशव की 'रसिक प्रिया', मतिराम का रसराज', देव का 'भाव विलास', (यह ग्रन्थ संस्कृत की रसमंजरी की शैली पर है)।

३—चन्द्रालोक की शैली पर लिखे गए रीतिकालीन ग्रन्थ—

जसवन्तसिंह का 'भाषा-भूषण', तथा पद्माकर का 'पद्माभरण' आदि।

यह तो मानना ही पड़ेगा कि संस्कृत का काव्य-शास्त्र जितना विशद और गम्भीर चिन्तन से परिपूर्ण है हिन्दी का उतना नहीं। संस्कृत के अलंकार सम्प्रदाय का प्रभाव रीतिकालीन कवियों में केवल केशव पर है। शेष कवि 'रस सम्प्रदाय' के अनुयायी ही प्रतीत होते हैं। शब्द शक्तियों (अभिधा, लक्षणा, व्यंजना) की इस काल में उपेक्षा की गई है। पं० कृष्णशंकर शुक्ल इस विषय में लिखते हैं—

"रसों में भी शृंगाररस को ही महत्त्व दिया गया। अन्य रस या तो छोड़ ही दिए गए या यों ही चलते कर दिये गए। संयोग शृंगार, वियोग-शृंगार, नायक-नायिका भेद, दूती-कर्म दर्शन, सात्विक, व्यभिचारी, मान, मानमोचन, सखी-कर्म इत्यादि का वर्णन बड़े विस्तार

से हुआ। इन वर्णनों में बहुत सी बातें कामशास्त्र की भी आगई जिनकी आवश्यकता न थी। शृंगार रस का आलम्बन नायिका है अतः स्वरूप वर्णन की नखशिख वाली परिपाटी का अत्याधिक प्रचार हुआ। उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आनेवाले षट्ऋतु, बारहमास आदि के वर्णन में भी कवियों की वृत्ति बहुत रमी। अभिधा, लक्षणा व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों की एकदम उपेक्षा कर दी गई। दृश्य काव्य के ऊपर तो विचार ही नहीं किया गया।"

रीतिकाल के विषय में डा० श्यामसुन्दरदास के विचार भी बड़े महत्त्व के हैं—

"रीतिकाल के अधिकाँश कवियों को बँधी हुई लीक पर चलना पड़ा। उन्हें अपनी ही बनाई हुई सीमा में जकड़ जाना पड़ा साहित्य का उच्च लक्ष्य भुला दिया गया। तत्कालीन कवियों की कृतियाँ विशृंखल, निरंकुश और उद्दाम हैं। उनमें कहीं उच्चातिउच्च भावनायें कुत्सित प्रसंगों के पास ही खड़ी हैं; तो कहीं सौन्दर्य और प्रेम के मर्मस्पर्शी उद्‌गार 'अतिशयोक्ति' और 'बात की करामात' से घिरे हैं। कहीं उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के बोझ से वास्तविक बात दब गई है; तो कहीं श्लेष की ऊटपटाँग योजना 'भानमती का पिटारा' दिखला रही है जैसे किसी को कुछ कहना ही न हो, कविता केवल दिल बहलाव के लिये गपशप या ऐयाशों की बहक की हुँकारी हो।"

रीतिकाल के पक्ष में केवल एक ही बात जाती है और वह है—इस काल में हुई भाषा की साधना। ब्रजभाषा गद्य तो पैदा होते ही मुरझा गया, हाँ, पद्य में ब्रजभाषा का स्वरूप इतना अवश्य निखर उठा कि वह विश्व की किसी भी मधुरतम भाषा से टक्कर ले सके और उनके मधुर रूप का यह चरम विकास रीतिकाल में ही हुआ—यह मानने की बात है। कला पक्ष की भाँति कहीं रीतिकाल का भाव पक्ष भी पूर्ण और पुष्ट होता तो फिर रीतिकालीन साहित्य अद्वितीय हो जाता।

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
—की स्मृति में सादर भेंट—
[illegible] देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

ऐतिहासिक महत्त्व का ग्रन्थ

BOOK-POST

रामविलास शर्मा

भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद

मूल्य : प्रति खण्ड : रु. 95/-

वि अ आ। उ प्र। ३१६

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
श्री वर्धमान कालेज,
बिजनौर (उ०प्र०)

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड